श्रीः

अक्षयनीतिसुधाकरः



भाषाटीकासहितः



मुद्रक व प्रकाशक

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,

अध्यक्ष-'लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर' स्टीम् प्रेस, कल्याण-बम्बई ४.

संवत् २०१४.]  [सन् १९५८.

परमात्मने नमः ।

अक्षयनीतिसुधाकरः ।

जिसको
श्रीमान् श्री १०८ श्री बनेडाधीशजीके श्री १०८
श्री अक्षयसिंहजी वर्माने (मनु याज्ञवल्क्य,
महाभारत, वाल्मीकीय और कामंदकीय
आदि) अनेक प्राचीन ग्रन्थोंसे सब
राजकुमारोंके हितार्थ संग्रह कर
सरल हिन्दी भाषानुवादके
साथ सुशोभित किया

इसीको
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासने
अपने " लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापखानेमें
छापकर प्रसिद्ध किया ।

संवत् १९८२, शके १८४७.

कल्याण-मुंबई

भूमिका ।

यच्चेतसा चिरतरं परिचिन्त्यमानं, चिन्तामणिः किल
ददाति तदेव नान्यत् ॥ चित्तस्य चापि यदगोचरता-
मुपैति, तत्तु प्रयच्छतितरां बत नीतिरत्नम् ॥ १ ॥

प्रथम सृष्टिके प्रारंभहीमें रत्नगर्भा भारतभूमिमें महानुभाव दिव्यस्वभाव त्रिकालज्ञ षिगणोने लोकोपकारके निमित्त अपनी अनंत ज्ञानशक्तिके द्वारा मीमांसा, स्मृति, पु व्याकरण, तर्क, योग, वेदान्त, नीति आदि अनेक ग्रन्थ निर्माण किये सृष्टिकी रचन लेके अद्यावधि कितनेही बडे बडे ब्रह्मर्षि और राजर्षियोका आविर्भाव और तिरोभा तथा पृथ्वीपर कितनीही बार विप्लव और विपर्यय हुआ है परंतु उन महर्षियोंके अप्रति- हत योगबलसे निर्मित किये हुए वे ग्रंथ रत्न ध्रुवके समान प्रकाशमान हो रहे हैं उ ग्रथोंमे नीतिरत्नहीके प्रबल प्रभावसे मनु, मांधाता, रघु, रामचंद्र, शिबि, युधिष्ठिर, प क्षित्, जन्मेजय आदि अनेक प्राचीन राजर्षियोंने तथा चद्रगुप्त, भर्तृहरि, विक्रमादित्य भोज, श्रीहर्ष आदि अनेक महाराजाओंने इस भारतभूमिको सर्वशिरोमणि बनाके अप सुयशरूपी चद्रमाकी चद्रिकासे अखिलदिगन्तरोंको प्रकाशित करते हुए यावन्मात्र द्वीपद्वी पांतरोंके प्रबल प्रतापशाली राजाओंको आपने पदाक्रांत किये, सत्य है कि, नीतिरत्न' राजामहाराजाओंका मुकुटमणि है नीतिरूप अमृत राजामहाराजाओंके कीर्तिकायका अमर करनेवाला महौषध है, नीति सत् असत्का दिखलानेवाला भास्कर है, नीति शत्रुओंकी वनिताओंके मुखपद्मोंको कांतिरहित करनेवाला चंद्रमा है, नीति राजविद्रो- हियोंको भस्म करनेवाला देदीप्यमान: अग्नि है नीति प्रच्छन्नपापियोंको दड देनेवाला यमराज है, नीति गप्तवार्ताओंके देवताओंमें तथा प्रजापालन करनेमे सहस्र नेत्रोंसे देखनेवाला इन्द्र है, नीति धनरहित राजाओंको अगाध धन देनेवाला कुबेर नीति निर्जल स्थानको सजल करनेवाला वरुण है, नीति प्रबल शत्रुसेनाको प्रचंड वायु है, अत एव नीतिविशारद राजाके लिये भगवान् मनुने लिखा है कि- माग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्तापत्योर्यमस्य च । अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते और नीति विष्णुकी तरह व्यापक, शिवके समान एकांतिसेवी, ब्रह्मकी तरह यदि यो कहद तामी अत्युक्ति नहीं क्यों कि नीतिमान् पुरुषोंके लिये येनेभी लिखा है "सर्वदेवमयस्यापि विशेषो भूपतेरयम् ॥ शुभाशुभप वाद्भवांतरे ।" अधिक क्या कहें नीति अभीष्टफलका देनेवाला कल्प संपत्ति दुहनेवाली कामदुघा-कामधेनु है नीति हितकार्यका उपदेश पर चलानेवाला राजगुरु है, नीति आगामी हित चाहनेवाला पुरोहित भविष्यत् कहनेवाला ज्योतिषी है, नीति राजसन्निपात घोरनिद्रा तथा दर्पदाहज्वर आदि राजसिक रोगोसे बचानेवाला सद्वैद्य है, नीति वि नीति विना गोला बारूदकी शतघ्नी (तोप) है, विना जागीरके लि विना पहरेका खजाना है, नीतिमें निष्णात नरनाथका प्रताप द्वीप

त राजा नाटकके राजाके समान है, एक नीतिके मार्गहीको छोडके चलनेसे
रुलानेवाला त्रिलोकीनाथ रावण, महाप्रतापी वेन, स्वर्गाधिपति नहुष, सार्वभौम
आदि अनेक राजाओका सर्वथा नाश हुआ, एक नीतिहीके चूकनेसे महाप्रतापी
स राजलक्ष्मी प्रयाण करगई, राजा पृथ्वीराजभी अनीतिहीसे भारतके साम्राज्यसे
हुआ, और एक नीतिहीके आश्रयसे रामचंद्रने समुद्रपै सेतु बांधके अवध्य रावणको
, और युधिष्ठिरने सार्वभौम राज्य किया और एक चाणक्यके नीतिबलसेही
नाम्नी नाईनके पुत्र चद्रगुप्तके गलेमें राजलक्ष्मीने वरमाला डालदी थी, दशबीस,
या इस विषयके इतिहासोंमे हजारों उदाहरण है, विशेष क्या कहें धर्म, अर्थ,
काम, मोक्ष, इन चारों पदार्थोका देनेवाला नीतिशास्त्रही है, इस विषयमे भगवान्
महर्षि कामन्दकने लिखाहै कि " सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ॥ धर्मार्थकाममूलं
स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥ " अत एव राजाका पहिला कर्त्तव्य कर्म यही है कि, नीतिशास्त्रमें
पुण हो केवल राजाही नहीं किन्तु पुरोहित प्रधान आदि राजप्रकृतियोका भी राजनीतिमें
पारंगत होना उचित है क्यों कि नीतिरत्नका भावाभावही देशकी उन्नति और अवनतिका
कारण है, बहुतही खेदका विषय है कि भारतका ऐश्वर्यरूप मार्त्तंड तो भगवान् श्रीकृष्णच-
के स्वर्गारोहणके साथही अस्तंगत होगया और तदनंतर कालक्रमसे इस रत्नगर्भा भारत-
भूमिमे अन्यायवर्त्ती यवन सम्राटोंके राज्यशासन होनेसे पुस्तकाश्रय रहा हुआ एक अग-
णित प्रभाव रखनेवाला अनुपम नीति रत्न प्रायः लुप्तही हो जानेसे वर्तमानसमयमें भी
राजपरिवारमें इस सर्वोत्तम नीतिरत्नका जितना आदर होना चाहिये उतना नहीं और विचा-
रकरके देखा जावे तो सुकुमारमति राजकुमारोंको अल्पही परिश्रमसे सर्वव्यवहारका
द्योतक ऐसा सरल नीतिग्रथभी नही इस अभावको मेटनेके अर्थ मैंने पण्डित नगजीराम-
जीकी सहायतासे बहुतही परिश्रमके साथ ऋषिमहर्षियोंके प्रणीत प्राचीन ग्रथोंसे चुनचुनके
अक्षयनीतिसुधाकर नाम ग्रंथ संग्रह कियाहै इसमे केवल कामदक, विदुर, चाणक्य आदि
थोंसे ही नही किन्तु अन्यान्य पुराण, इतिहास, काव्य, अलकार, धर्मशास्त्र, ज्योतिष,
आदि ग्रंथोंसे सामयिक रीतिके अनुसार उपयोगी श्लोकोंको चुनचुनके सर्वांग संग्रह
और साथही हिंदीभाषाके अनुवादसे विभूषित करके सर्वसाधारणके समझने योग्य
में नीतिके समस्त अगोंके उदाहरण और प्रत्युदाहरण लिखनेकाभी मेरा विचार
अत्यंत बढ जानेके भयसे नही लिखे, तथापि यह ग्रथ नीतिरसिकोंको अ-
और राजकुमारोंको नीतिशिक्षाका अद्वितीय सहायक होगा, ऐसी आ-
विश्वासभी है और यों तो ऋषि मुनि आदिकोंके प्रणीत नीतिके अनेक ग्रंथ
हु सामान्य संस्कृतवेत्ताओके भी समझमें नहीं आ सकते " जैसे कामं-
अन्यान्य भाषाओंमें भी जो नीतिके ग्रंथ हैं वह सस्कृतनीतिके समान
होते, इसीसे अत्यंत सरलरीतिके अनुसार यथाशक्ति यह अत्युत्तम
रायण राजा महाराजा तथा राजकुमारोंकी सेवामें निवेदन करके
आप पढेंगे और अपने राज्यकर्मचारियोंको भी पढावेंगे तो मैं
झूंगा अलं बुद्धिमत्सु ।

ॐ

अथाक्षयनीतिसुधाकरस्य विषयानुक्रमणिका।

प्रथमः स्तबकः। ७०

द्वितीयः स्तबकः।

तृतीयः स्तबकः। ३१२

+ अनुक्रमांक × पृष्ठांक ÷ श्लोकांक ऐसाही सर्व जानिये

चतुर्थः स्तबकः ।

अथ राज्ययोगदेशराजधानी दुर्गश्च ।

अथ पञ्चमः स्तबकः ।

का संक्षिप्त इतिहास-वृक्षाकार चित्रमें राजवंश देखिये.

यनीतिसुधाकरस्य विषयानुक्रमणिका समाप्ता ।

पत्र ३३३ क (काम०) इस मंत्रसेही प्रारभ होती है पंच प्रथम ानेसे ३३४ का श्लोक पत्र ३३५ में मिलेगा ।

॥ श्रीः ॥

अकाराद्यनुक्रमणिका ।

इत्यक्षयनीतिसुधाकरस्याकाराद्यनुक्रमणिका समाप्ता ।



ॐ परमात्मने नमः ।

अथाऽक्षयनीतिसुधाकरः ।

भाषाटीकासमेतः ।

प्रथमस्तबकः १.

मङ्गलाचरणम् ।

याम्मेधांदेवगणाः पितरश्चोपासते ॥
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥ १ ॥
मेधाम्मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ॥
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥२॥

(शु० य० अ० ३२, १४–१५.)

व्याप्तं येन चराचरं जगदिदं क्षीरं यथा सर्पिषा
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो महाँश्च महतोऽचिंत्यो ह्यक्षैः परैः ॥
ध्येयः सूक्ष्मनिदर्शिभिर्हृद्यविधश्चर्माक्षिभिः पश्यतां
नैदिष्ठो विदितात्मनां परमहं वंदे तमेवाव्ययम् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिस परमात्मासे यह चराचर (स्थावर–जंगमात्मक) रूप जगत् ऐसे व्याप्त होरहा है कि, जैसे दूध घृतसे व्याप्त है, जो सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बडेसे बडा (अणोरणीयान् महतो महीयानित्यादिश्रुतेः) अर्थात् अणुसेभी अणु और बडे जो महदादि जिनसेभी बडा इसीसे जो चिंतवन करनेमें नहीं आता और विचाररूप नेत्रोंसे सूक्ष्म तत्त्वके देखनेवाले परम उत्कृष्ट योगिजन जिसको हृदयमें ध्यान करते हैं या हृदयरूप नेत्रोंसे देखते हैं (मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतेः) तथा

चर्मचक्षुसे देखनेवालोंसे अत्यंत दूर और आत्मज्ञानियोंके अत्यंत सन्निधि (समीप) ऐसा परम उत्कृष्ट अविनाशी परब्रह्मको मैं प्रणाम करता हूं ॥ १–३ ॥

वज्रं संसृतिभूभृतां दिनकरो द्वैतांधकारक्षये
बीजं धर्मतरोश्च विश्वजलधेः संतस्तरिः सेविनाम् ॥
कल्पद्रुर्वृजिनाटवेरुरुतरज्वालाजटालानलो
ध्येयो वो निपुणाः स नो ननु चतुर्वर्गाप्तये सर्वगः ॥४॥

अर्थ–हे शास्त्रक्रियामें निपुण सत्पुरुषो ! जो परमात्मा संसृति (अर्थात् जन्ममरणरूप) पर्वतोंके छेदन करनेमें वज्ररूप है, और जीव ब्रह्मका भेदरूप अंधकार दूर करनेमें सूर्यरूप है, धर्मरूप वृक्षका बीजरूप है, संसाररूप अगाध समुद्रको तरनेके निमित्त नौकारूप है, सेवन करनेवाले भक्तजनोंके मनोरथ सिद्ध करनेमें कल्पवृक्षके समान है और पापोंके समूहरूप वनको जलानेके निमित्त तीक्ष्ण अग्निके लपटकी समान देदीप्यमान है वह सर्वव्यापी परमात्मा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्तिके अर्थ आपको और हमें निश्चय ध्यान करनेके योग्य है ॥ ४ ॥

ईशो दुर्व्यसनानि वोऽपि च सतां चित्तस्य यो नो मते
रक्षाणां विनिहत्य यौतु च चतुर्वर्गे तु चित्तादिकम् ॥
सोऽमित्रान् प्रणिहत्य नश्च भवतां प्रीतिं मिथो लोककृत्
सर्वेषां जनयत्विति प्रतिदिनं सुज्ञाः सदा प्रार्थ्यताम् ॥५॥

अर्थ–हे बुद्धिमानो ! सर्वकी प्रेरणा करनेवाला सर्व लोकोंके कर्त्ता सर्वव्यापी परमात्मा आपके और हम सबके चित्त, बुद्धि तथा दशों इंद्रियोंके दुर्व्यसनोंको दूर करके चित्त आदिको धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें प्रवृत्त करे तथा हमारे और आपके काम, क्रोध आदि शत्रुओंको अथवा लोकप्रसिद्ध आघातकारी मनुष्योंको विध्वंस करके

सब प्राणियोंके अंतःकरणमें परस्पर उत्तम प्रीतिको प्रकट करै प्रति-
दिन इस प्रकार अनेक उपयोगी कार्योंकी सिद्धिके निमित्त सदा पर-
मेश्वरकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ ५ ॥

यं धीराः कथयंति धर्म इति वै सद्धर्मसंसेविनो
नूनं दुष्कृतिनो बुधा यम इति प्राहुः कृतांतस्त्विति ॥
अन्ये कालविदश्च नीतिकुशला न्यायीति नीतिप्रदो
देवो वो विदधातु वांछितफलं सोतींद्रियः सर्वतः॥६॥

अर्थ-हे बुद्धिमानो ! जिसको सद्धर्मके सेवन करनेवाले धर्मानु-
रागी धीरपुरुष धर्मराज कहते हैं और दुष्टोंको दंड देनेसे पापकारी
मनुष्य जिसको यमराज कहते हैं दूसरे कालके ज्ञाता जिसको कृतान्त
कहते हैं नीतिमें कुशल (सर्वव्यवहारज्ञ) जिसको नीतिदाता न्याय-
कारी कहते हैं । ऐसा वह देदीप्यमान (सबका प्रकाशक) इंद्रियोंसे
अतीत सर्वव्यापी परमात्मा आपके निमित्त सब प्रकार मनवांछित फल
प्रदान करै ॥ ६ ॥

अथ पुत्रकर्त्तव्यता ।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ॥ ७ ॥

(अ० कां ३ अ० ६)

अर्थ-परमेश्वरकी आज्ञा है कि, पिता और माताकी आज्ञाके अनु-
कूल धर्मका पालन करता हुआ पुत्र सत्पुत्र कहलाता है ॥ ७ ॥

यस्मिन्नृणं सन्नयति येन चानन्त्यमश्नुते ।
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान् विदुः ॥ ८ ॥

(म० अ० ९। श्लो० १०७)

अर्थ-जिसके उत्पन्न होनेसे ऋणका शोधन और आनंत्य (मोक्ष)
की प्राप्ति होती है वही पिताके धर्मके कारणसे उत्पन्न पुत्र होताहैं
और दूसरोंको तो मुनिजन कामसे उत्पन्न कहते हैं ॥ ८ ॥

पित्रोर्निर्देशवर्ती यः स पुत्रोऽन्वर्थनामवान्।
श्रेष्ठ एकस्तु गुणवान् किं शतैरपि निर्गुणैः ॥ ९ ॥

अर्थ–जो पुत्र मातापिताकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर होताहै वही यथार्थनामवाला पुत्र कहलाने योग्य है वह गुणवान् हो तो एकही श्रेष्ठ है और निर्गुण सौ हों तोभी निरर्थक हैं ॥ ९ ॥

श्रावयेन्मृदुलां वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत् ॥
पित्रोराज्ञानुसारी स्यात् सत्पुत्रः कुलपावनः ॥ १० ॥

अर्थ–माता पितासे सदा प्रिय बोले संपूर्ण कालमें उनके हितका आचरण करै और आज्ञाके अनुकूल वर्त्ते वह सत्पुत्रही कुलको पवित्र करनेवाला होताहै ॥ १० ॥

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम् ॥
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ ११ ॥

अर्थ–संतानोंकी उत्पत्ति और पालन पोषण करनेमें माता पिता जिस क्लेशको सहन करते हैं उस क्लेशका बदला देनेमें सन्तान जन्मजन्मांतरमेंभी समर्थ नहीं होता ॥ ११ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ॥
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ १२ ॥

(म॰अ॰श्लो॰२२७ से २२८ तक)

अर्थ–इसी कारणसे मनुष्यको चाहिये कि, अपने माता पिता और वेदादि सच्छास्त्रोंके पढानेवाले आचार्यको प्रतिदिन निरंतर प्रसन्न करै इन तीनोंके प्रसन्न होनेसे संपूर्ण तप समाप्त होताहै अर्थात् जिस मनुष्यने माता पिता और आचार्यको संतुष्ट किया उसने कायवाङ्मानस तीनोंही प्रकारके तपोंको यथार्थ सेवन करलिया ॥ १२ ॥

तत्रापि सदैव पितुर्भक्तिर्विशेषेण विधेया।

यतः ॥ यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ॥
तस्य हस्तगतं सौख्यमैहिकामुष्मिकं शुभम् ॥ १३ ॥

अर्थ—इनमेंभी सदैव पिताकी भक्ति विशेषरूपसे करनी चाहिये कारण कि, जिसकी देव परमेश्वरमें परमभक्ति है अर्थात् जैसी परमेश्वरमें भक्ति है उसी प्रकार गुरुमें अर्थात् पितामें भक्ति है उस मनुष्यके हाथमें इस लोक और परलोकका श्रेष्ठ सुख विद्यमान है ॥ १३ ॥

अत्र गुरुशब्दः पितुर्वाचकोस्त्येव—गुरुः पिता गुरुर्ज्येष्ठो गुरुः सुरपुरोहितः ॥ इत्यनेकार्थध्वनिमंजर्याम् । यतः सर्वैर्निर्व्यलीकेन पितुर्भक्तिर्विधेया यैर्निर्व्यलीकेन पितुः शुश्रूषणं कृतं तैः सर्वे लोका जिता यतो युवराजेन मया सर्वदा पितुः शुश्रूषणं विधेयमित्येवावश्यं विचार्य ग्रंथादौ पितुर्भक्तिर्दर्शितेति ज्ञातव्या विद्वद्भिः ॥ १४ ॥

अर्थ—इस स्थानमें गुरुशब्द पिताकाही वाचक है कारण कि, गुरु पिता और गुरु ज्येष्ठ (बडा) और गुरु सुरपुरोहित (बृहस्पति) गुरुशब्द इतने अर्थोंमें वर्त्तताहै ऐसा "अनेकार्थध्वनिमंजरीकोष" ग्रंथमें लिखाहै इसी कारण सबको निष्कपट होकर पिताकी भक्ति करनी चाहिये । जिन्होंने प्रपंच छोडके शुद्धभावसे पिताकी सेवा की है उन्होंने मानो संपूर्ण लोकोंको वशीभूत करालिया इसी कारण मुझ युवराजको सर्वदा पूज्यपाद पिताकी सेवा करनी चाहिये पिताकी भक्ति अवश्य कर्त्तव्य है इस बातको भली प्रकार विचारके ग्रंथके आदिमें मैंने पिताकी भक्तिका निरूपण कियाहै यह विद्वानोंको समझना चाहिये ॥ १४ ॥

पुत्रस्य पितुराज्ञा हि परमं भूषणं स्मृतम् ।
भार्गवेण हता माता राघवस्तु वनं गतः ॥ १५ ॥

अर्थ-पिताकी आज्ञाका पालन करनाही पुत्रको परमश्रेष्ठ आभूषण है देखो ! परशुरामजीने पिताकी आज्ञासे माताका शिर छेदनकर फिर पिताकी प्रसन्नताहीसे माताको सजीव किया और रामचंद्रजी अयोध्याके साम्राज्यको छोडके पिताकी आज्ञा पालनके निमित्त वनको चलेगये ॥ १५ ॥

यतः सर्वैर्युवराजैर्विशेषेण पितुः शुश्रूषणं
विधेयमेषा मदीया प्रार्थनेति ॥ १६ ॥

अर्थ-इस कारण संपूर्ण युवराजोंको विशेष करके पिताकी सेवा अवश्य करनी चाहिये यह मेरी प्रार्थना है ॥ १६ ॥

इति पुत्रकर्त्तव्यता. ।

अथ युवराजकृत्यम् ।

युवराजामात्यगणौ भुजावेतौ महीभुजः ।
तावेव नयने कर्णौ दक्षसव्यौ क्रमात्स्मृतौ ॥ १७ ॥

अर्थ-राजकुमार और पुरोहित आदि दश प्रकृति ये दोनोंही राजाके दक्षिण तथा वाम भुज, नेत्र और कर्ण क्रमसे कथन किये हैं ॥ १७ ॥

बाहुकर्णाक्षिहीनः स्याद्विना ताभ्यां मतो नृपः ।
योजयेच्चिंतयित्वा तु महानाशाय चान्यथा ॥ १८ ॥

अर्थ-उपरोक्त इन दोनोंसे जो राजा रहित है वह हाथ, कान, नेत्रोंसे हीन माना जाताहै इस कारण युवराज और अमात्यगण इन दोनोंको बहुत विचार करके योग्य कार्योंमें नियत करै कारण कि, अविचारसे नियत कियेहुए व्यसनी, मूर्ख और सद्गुणोंसे रहित युवराज तथा अमात्यगण राजा और प्रजाके हानिकारक होते हैं ॥ १८ ॥

मुद्रां विनाखिलं राजकृत्यं कर्तुं क्षमः सदा ॥
कल्पयेद्युवराजार्थमौरसं धर्मपत्निजम् ॥ १९ ॥

अर्थ–छापके विना संपूर्ण राज्यसंबंधी कार्य करनेको सदा समर्थ हो (अर्थात् यावन्मात्र राजकार्योंको निरीक्षण करनेकी जिसमें शक्ति हो) ऐसा विवाहिता सवर्णा स्त्रीमें उत्पन्न हुआ औरस पुत्रको युवराज बनावै ॥ १९ ॥

स्वात्यंतसन्निकर्षेण राजपुत्रांश्च रक्षयेत् ।
सद्भृत्यैश्चापि तत्स्वांतं छलैर्ज्ञात्वा सदा स्वयम् ॥ २० ॥

अर्थ–राजाको चाहिये कि, अपने विश्वासपात्र, सत्यवादी, राग, द्वेष आदिसे रहित और कुलीन ऐसे भृत्योंको गुप्तरीतिसे युवराजके पास भेजभेजके उनके स्वांत स्वभावको सदा आप जाने और आपभी गुप्त स्वयं परीक्षा करताहुआ अपने निकट रखके दुर्व्यसन आदिसे राजपुत्रोंको बचावे ॥ २० ॥

सुनीतिशास्त्रकुशलान् धनुर्वेदविशारदान् ।
क्लेशसहांश्च वाग्दंडपारुष्यानुभवान् सदा ॥ २१ ॥

अर्थ–नीतिशास्त्रमें कुशल और संपूर्ण प्रकारकी शस्त्रास्त्रविद्यामें निपुण और कायिक, वाचिक, मानसिक तीन प्रकारके क्लेशोंको सहन करनेवाले तथा कठोर वचन आदिकोंके सदा सहनशील राजा अपने पुत्रोंको करै ॥ २१ ॥

शौर्ययुद्धरतान् सर्वकलाविद्याविदोऽजसा ।
सुविनीतान् प्रकुर्वीत ह्यमात्याद्यैर्नृपः सुतान् ॥ २२ ॥

अर्थ–राजाको चाहिये कि, मंत्री आदिकोंके द्वारा वीरता और युद्धविद्यामें तत्पर और संपूर्ण विद्या और कलाके ज्ञाता नम्रता आदि गुणोंसे संपन्न अपने पुत्रोंको करै ॥ २२ ॥

सुवस्त्राद्यैर्भूषयित्वा लालयित्वा सुक्रीडनैः ।
अर्हयित्वासनाद्यैश्च पालयित्वा सुभोजनैः ॥ २३ ॥

अर्थ-श्रेष्ठ अमूल्य वस्त्रादिकोंसे भूषित करै और सुन्दर राजयोग्य क्रीडाओंसे रमावे और अच्छे आसन आदिसे सत्कार करके और अच्छे श्रेष्ठ श्रेष्ठ षड्रसयुक्त चतुर्विध भोजनोंसे पालन करे ॥ २३ ॥

कृत्वा तु यौवराज्यार्हान् यौवराज्येऽभिषेचयेत् ।
अविनीतकुमारस्तु कुलमाशु विनाशयेत् ॥ २४ ॥

अर्थ-यौवराज्यके योग्य बनाके यौवराज्यका अभिषेक करे (अर्थात् युवराज सुन्दर नीतिज्ञ नहीं हो तो यौवराज्यका अधिकार नहीं है) क्योंकि जिस कुलमें अविनीत राजकुमार है वह कुल शीघ्रही नष्ट होजाता है ॥ २४ ॥

व्यसने सज्जमानं तं क्लेशयेद्व्यसनाश्रयैः ।
दुष्टं गजमिवोद्धृत्तं कुर्वीत सुखबंधनम् ॥ २५ ॥

अर्थ-जो राजपुत्र मृगयादि अष्टादश दुर्व्यसनोंमें आसक्त होजावे तो दुर्व्यसनियोंसहित क्लेशित करै और उन्मत्तदुष्ट गजके समान उसका सुखसे बंधन करै अर्थात् जैसे महामात्र (महावत) मदोन्मत्त हाथीको संतोष देके वशीभूत करताहै वैसेही व्यसनासक्त राजकुमारकोभी संतोषपूर्वक श्रेष्ठ शिक्षा देके वशमें करै ॥ २५ ॥

प्राप्यापि यौवराज्यत्वं प्राप्नुयाद्विकृतिं न च ॥
स्वसंपत्तिमदान्नैव मातरं पितरं गुरुम् ॥ २६ ॥

अर्थ-युवराजको चाहिये कि, यौवराज्याभिषेकको प्राप्त होकेभी पारंपर्यतासे प्राप्त मर्यादाको उल्लंघन न करै और अपनी यौवराज्य संपत्तिके मदसे माता पिता और गुरुजनोंका अपमान न करै ॥२६॥

भ्रातरं भगिनीं वापि ह्यन्यान्वा राजवल्लभान् ॥
महाजनांस्तथा राष्ट्रे नावमन्येन्न पीडयेत् ॥ २७ ॥

अर्थ-भाई, भगिनी (बहिन) और अन्यभी जो राजाके प्यारे (मंत्री आदि) हैं उनका अपमान न करै और अपने राज्यमें

रहनेवाले महाजनोंका अपमान न करै और किसी तरह दुःखभी न देवै ॥ २७ ॥

प्राप्यापि महतीं वृद्धिं वर्त्तेत पितुराज्ञया ॥
पितुराज्ञोल्लंघनेन प्राप्यापि पदमुत्तमम् ॥
तस्माद्भ्रष्टा भवंतीह दासवद्राजपुत्रकाः ॥ २८ ॥

अर्थ–अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होजाय तथापि पिताकी आज्ञामें रहै अर्थात् यौवराज्याधिकारके उपरांत अपने बुद्धिबलोदयसे राज्यको उन्नति देके महान् ऐश्वर्यको प्राप्त होजाय तौ भी पिताकी आज्ञाके अनुकूल वर्त्तै कारण कि, पिताकी आज्ञा उल्लंघन करनेसे उत्तम पदको प्राप्त होकरभी उस अधिकारसे दासके समान राजपुत्रभी भ्रष्ट होजाता है अर्थात् राजाकी आज्ञा भंग करनेसे प्रधान आदि उत्तम अधिकारसे च्युत करदिये जातेहैं वैसेही पिताकी आज्ञा उल्लंघन करनेसे राजकुमारभी राज्याधिकारसे रहित करदिये जातेहैं इसीसे पिताकी आज्ञाका सदा पालन करै ॥ २८ ॥

ययातेश्च यथा पुत्रा विश्वामित्रसुता यथा ॥
पितृसेवापरास्तिष्ठेत्कायवाङ्मानसैः सदा ॥ २९ ॥

अर्थ–जैसे राजर्षि ययातिके पुत्र और महर्षि विश्वामित्रके पुत्र पिताकी आज्ञाके उल्लंघन करनेसे नष्ट होगये वैसेही पिताके विरोधवर्त्ती संपूर्ण नष्ट होसकते हैं इस कारण पुत्रको चाहिये कि, शरीर, वाणी और मनसे सदा अपने पिताकी आज्ञामें वर्त्तै ॥ २९ ॥

असंमतं विरुद्धं वा पितुर्नैव समाचरेत् ॥
चारसूचकदोषेण यदि स्यादन्यथा पिता ॥ ३० ॥
प्रकृत्यनुमतं कृत्वा तमेकांते प्रबोधयेत् ॥
अन्यथा सूचकान्नित्यं महद्दंडेन दंडयेत् ॥ ३१ ॥

अर्थ–पिताके असंमत और विरोधका कदापि आचरण न करै यदि गुप्त दूत और चुगलोंके दोषसे पिताकी विपरीत बुद्धि होजाय तो ॥ ३० ॥ पुरोहितादि दश प्रकृतियोंकी संमतिके अनुकूल एकांतमें पिताको बोधित करै (समझावै) और बोधित करनेके उपरान्त परस्परमें विरोध करानेवाले चुगलोंको पूर्ण दंड देवे ॥ ३१ ॥

प्रकृतीनां च कपटं स्वांतं विद्यात्सदैव हि ॥
प्रातर्नत्वा प्रतिदिनं पितरं मातरं गुरुम् ॥ ३२ ॥

अर्थ–पुरोहित आदि दश प्रकृतियोंके कपट तथा स्वभावको गुप्त रीतिसे अपने हित अहितके निमित्त सदा जाने और नित्य आह्निक कर्म करनेके उपरांत प्रभातसमयमें पिता माता और गुरुको प्रतिदिन नमस्कार करै ॥ ३२ ॥

राजानं स्वकृतं यद्यन्निवेद्यानुदिनं ततः ॥
एवं गृहाविरोधेन राजपुत्रो वसेद्गृहे ॥ ३३ ॥

अर्थ–तिसके अनंतर राजासे अपना सब कार्य प्रतिदिन निवेदन करै, इस प्रकार अपने घरके अविरोधसे राजकुमार घरमें निवास करै अर्थात् अपनेको जो-जो विशेष कार्य करना हो उसके निमित्त प्रथमही राजाको निवेदन करदेवै ॥ ३३ ॥

विद्यया कर्मणा शीलैः प्रजाः संरंजयन् मुदा ॥
त्यागी च सत्त्वसंपन्नः सर्वान् कुर्याद्वशे स्वके ॥ ३४ ॥

अर्थ–सर्वत्र विद्याकी वृद्धिका प्रचार करके और श्रेष्ठ कर्त्तव्य कर्मोंके प्रचारसे तथा वर्णसंकरता आदि दोषनिवृत्तिके निमित्त ब्रह्मचर्यादिशीलोंकी वृद्धि करके प्रीतिपूर्वक प्रजाको हर्षित करता हुआ दान तथा सत्त्वगुणसंपन्न होकर संपूर्ण सत्त्वोंको अपने वशमें करै अर्थात् अपनी प्रजामें विद्या, सत्कर्म, प्रीति इत्यादि सद्गुणोंकी वृद्धि करता हुआ दुष्टकर्मोंको रोकके प्रजाकी उन्नति करै और सत्त्वसंपन्न दातार होकर सबको अपने वशीभूत करै ॥ ३४ ॥

शनैः शनैः प्रवर्द्धेत शुक्लपक्षमृगांकवत् ॥
एवं वृतो राजपुत्रो राज्यं प्राप्याप्यकंटकम् ॥ ३५ ॥
सहायवान् सहामात्यश्चिरं भुंक्ते वसुंधराम् ॥
समासतः कार्यमुक्तं युवराजस्य यद्धितम् ॥ ३६ ॥

अर्थ–शुक्लपक्षके चंद्रमाके समान शनैः शनैः वृद्धिको प्राप्त होवैं अर्थात् शुक्लपक्षके चंद्रमाके तुल्य प्रतिदिन अपना ऐश्वर्य बढावै इस प्रकार आचरण करता हुआ राजकुमार निष्कंटक राज्यको प्राप्त-होकर ॥ ३५ ॥ सभासदादि और मंत्रियोंसहित चिरकालपर्यंत पृथ्वीको भोगता है यह संक्षेपसे युवराजके हितकारी कृत्य वर्णन किये गये हैं ॥ ३६ ॥

इति युवराजकृत्यम् ।

अथ राजनीतिः ।

राजास्य जगतो वृद्धेर्हेतुर्वृद्धाभिसंगतः ।
नयनानंदजनकः शशांक इव वारिधेः ॥ १ ॥

अर्थ–विद्यावान् और बुद्धिमान् पुरुषोंकी सत्संगति करनेवाला राजा इस जगत्की उन्नतिका मुख्य कारण होताहै जैसे नेत्रोंको आनन्द देनेवाला चन्द्रमा पूर्ण समुद्रकी वृद्धिका हेतु होता है ॥ १ ॥

सर्वदेवमयस्यापि विशेषो भूपतेरयम् ॥
शुभाशुभफलं सद्यो नृपाद्देवाद्भवांतरे ॥ २ ॥

अर्थ–जगत्की रक्षाके लिये परमेश्वरने सम्पूर्ण देवताओंके अंशोंसे राजाका शरीर निर्माण किया है इस कारण राजाको सर्वदेवमय कहते हैं तथापि देवताओंसे राजामें यह विशेष सामर्थ्य है कि, शुभा-शुभ फल राजासे तत्काल मिलता है और देवताओंसे फल समयांत-रोंमें प्राप्त होताहै ॥ २ ॥

अशुचिर्वचनाद्यस्य शुचिर्भवति पूरुषः ॥
शुचिश्चैवाशुचिः सद्यः कथं राजा न दैवतम् ॥ ३ ॥

अर्थ–जिसके वाक्यसे अपवित्र मनुष्य पवित्र होता है और पवित्र मनुष्य तत्काल अपवित्र होता है तो वह राजा कैसे देवता नहीं है ॥ ३ ॥

नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति ॥
उदेत्युदयमाने च रवाविव सरोरुहम् ॥ ४ ॥

अर्थ–यह मनुष्यलोक नीतिपरायण राजाके अभावसे अवनतिको प्राप्त होके अस्त होजाताहै और न्यायपरायण प्रजाहितैषी राजाका उदय होनेसे उन्नतिको प्राप्त होता है जैसे सूर्यके उदय होनेसे कमल प्रकाशित होते हैं और सूर्य अस्त होनेसे कमल अस्त हो जाते हैं ॥४॥

बलवान् बुद्धिमान् शूरो यो हि युक्तपराक्रमी ॥
वित्तपूर्णां मही भुंक्ते स भूपो भूपतिर्भवेत् ॥ ५ ॥

अर्थ–जो राजा बलवान् बुद्धिमान् शूर वीर और देशकालके अनुकूल अपने पराक्रमको प्रगट करनेवाला हो वही भूमिपाल सब पृथ्वीका पालक होता है और धनसे पूर्ण भूमिको भोगता है ॥ ५ ॥

सत्यं शौर्यं दया त्यागो नृपस्यैते महागुणाः ॥
एभिर्मुक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥ ६ ॥

अर्थ–सत्य बोलना, शूरवीरता रखना और प्रजाके पालन करनेमें तथा प्राणिमात्रपर दया करना इस लोक और परलोकके निमित्त यथाशक्ति दान देना, यह चारोंही राजाके महान् गुण हैं जो राजा इन गुणोंसे रहित है वह इस लोक और परलोकमें निंदनीय होताहै॥ ६॥

हर्षक्रोधौ समौ यस्य शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा ॥
नित्यं भृत्यानुपेक्षा च तस्य स्याद्धनदा धरा ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस राजाका हर्ष और क्रोध कार्यके अनुकूल हो अर्थात् कारणके विना हर्ष क्रोध करताही नहीं और शास्त्रोक्त वचनमें जिसका निश्चय हो और प्रतिदिन भृत्योंकी कर्त्तव्यताके अनुकूल परीक्षा कर उन्नति और अवनाति देनेमें जो तत्पर हो उसी राजाको यह पृथ्वी धन देनेवाली होती है ॥ ७ ॥

वित्त यदा यस्य समं विभक्तं गूढश्चरः सन्निभृतश्च मंत्रः ॥ न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस राजाका द्रव्य समय समयमें राजनीतिके अनुकूल कार्योंमें समान विभागपूर्वक व्यय होताहो या जिस राजाका समयरूपी अमूल्य धन राज्यसंबंधी उत्तम कार्योंमें समयविभागपूर्वक व्यतीत होताहो और जिसक पास गूढ चार गुप्त हलकारे गुप्तरीतिसे सर्वत्र विचरते हुए यावन्मात्र अच्छी बुरी वार्त्ताके समाचार देनेवाले हो और जिसके राज्यसंबंधी कार्योंके कर्त्तव्य विचार (सम्मति) किसीकोभी विदित नहीं होसकतेहां और किसी प्राणीकोभी अपने मुखसे अप्रिय नहीं कहताहो ऐसा राजा समुद्रपर्यंत भूमिकी रक्षा करसक्ता है ॥ ८ ॥

पराक्रमो बलं बुद्धिः शौर्यमेते वरा गुणाः ॥
एभिर्हीनोऽन्यगुणयुङ्महीभुक् सधनोपि च ॥ ९ ॥
महीं स्वल्पां नैव भुंक्ते द्रुतं राज्याद्विनश्यति ॥
महाधनाच्च नृपतेर्विभात्यल्पोपि पार्थिवः ॥ १० ॥

अर्थ—पराक्रम, बल, बुद्धि (शूरता) यह चारोंही श्रेष्ठ गुणोंसे हीन अन्यगुणोंके सेवन करनेवाला धनवान्भी राजा हो ॥ ९ ॥ वह किंचिन्मात्र भूमिकोभी नहीं भोगसकता और राज्याधिकारसे शीघ्रही

नष्ट होजाताहै पराक्रमादिगुणोंसे युक्त अल्पभी राजा शोभाको प्राप्त होताहै वैसा उक्तगुणोंसे हीन महाधनी राजा सुशोभित नहीं होता १०

अनाहताज्ञस्तेजस्वी त्वेभिरेव गुणैर्भवेत् ॥
राज्ञः साधारणास्त्वन्ये न शक्ता भूप्रसाधने ॥११॥

अर्थ–पराक्रम, बल, बुद्धि, शूरता इन गुणोंसेही राजाकी आज्ञाको कोई उल्लंघन नहीं करसक्ता और इन गुणोंसेही राजा तेजस्वी होता है राजाका अन्यसाधारण गुण भूमिके विजयमें समर्थ नहीं होता॥११॥

नृपाणां च नराणां च केवलं तुल्यमूर्तिता ॥
आधिक्यं तु क्षमा धैर्यमाज्ञादानं पराक्रमः ॥ १२ ॥

अर्थ–राजाओंके और मनुष्योंके पांचभौतिक शरीरमें कुछ भेद नहीं होता परंतु क्षमा (सहन करना), धीरता रखना, आज्ञा (हुक्म) देना, यथायोग्य सत्कार करना और पराक्रम ये आधिक्यता होनेसेही राजा कहलाताहै ॥ १२ ॥

प्रसादो निष्फलो यस्य यस्य क्रोधो निरर्थकः ॥
न तं राजानमिच्छंति षंढं पतिमिवांगनाः ॥ १३ ॥

अर्थ–जिसकी प्रसन्नतासे लाभ नहीं होता और जिसके क्रोधित होनेसे हानि नहीं होती, उस राजाको प्रजा नहीं चाहती जैसे नपुंसकपतिको स्त्री ॥ १३ ॥

निर्विशेषो यदा राजा समं भृत्येषु वर्त्तते ॥
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहीयते ॥ १४ ॥

अर्थ–जब राजा अपने उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ, भृत्योंमें समभावसे वर्त्तनेलगै तब कार्य करनेमें कुशल भृत्यभी उत्साहरहित होजाते हैं ॥ १४ ॥

न तच्छास्त्रैर्न नागेंद्रैर्न हयैर्न च पत्तिभिः ॥
कार्यं संसिद्धिमभ्येति यथा बुद्ध्या प्रसाधितम् ॥१५॥

अर्थ-विचारपूर्वक बुद्धिसे कियाहुआ कार्य जैसा सिद्ध होताहै वैसा शस्त्रास्त्र, हाथी, घोडे और पदातियोंसेभी सिद्ध नहीं होता ॥ १५ ॥

पात्रे त्यागी गुणे रागी भोगी परिजनैः सह ॥
भावबोद्धा रणे योद्धा प्रभुः पंचगुणो भवेत् ॥ १६ ॥

अर्थ-योग्य पुरुषोंकी पालना करना गुणवानोंमें प्रीति रखना अपने अनुचरोंसहित नाना प्रकारके उत्तम भोगोंको भोगना सबके अभिप्रायोंको जानलेना और संग्राममें शूर वीरता दिखाना ये पाँच गुण जिसमें सदा विद्यमान हैं वह सबका स्वामी होता है ॥ १६ ॥

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता ॥
भवंति सुनृपे नित्यं चत्वारः सहजा गुणाः ॥ १७ ॥

अर्थ-दाता होना सबसे प्रीतिपूर्वक भाषण करना धीरता रखना समयानुसार कर्त्तव्यताको जानना ये स्वयं उत्पन्न होनेवाले चारोंही गुण श्रेष्ठ राजामें नित्य विद्यमान रहते हैं अर्थात् ये चारोंही गुण किसीके शिक्षा देनेसे नहीं आते श्रेष्ठ राजामें शरीरकी उत्पत्तिके साथही उत्पन्न होते हैं ॥ १७ ॥

दुष्टनिग्रहणं दानं प्रजायाः परिपालनम् ॥
यजनं राजसूयादेः कोषाणां न्यायतोऽर्जनम् ॥ १८ ॥
करदीकरणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम् ॥
भूमेरुपार्जनं भूयो राजवृत्तं तु चाष्टधा ॥ १९ ॥

अर्थ-दुष्टोंको दंड देना, योग्य पुरुषोंका सत्कार करना, प्रजाका तन मन धनसे पालन करना, राजसूय आदि यज्ञोंसे परमेश्वरका यजन करना और न्यायके उपार्जित धनसे कोषको बढाना ॥ १८ ॥ राजाओंको करके देनेवाले बनाना और शत्रुओंका मर्दन करना और बारंबार राज्यभूमिकी वृद्धि करना, ये आठही राजाके कर्त्तव्य कर्म हैं ॥ १९ ॥

न वर्द्धितं बलं यैस्तु न भूपाः करदीकृताः ॥
न प्रजाः पालिताः सम्यक् ते वै षंढतिला नृपाः ॥२०॥

अर्थ—जिन राजाओंने नीतिशास्त्रोक्त छः प्रकारके बलकी वृद्धि नहीं की, दूसरे राजाओंसे कर नहीं लिया और अपनी प्रजाका अच्छी रीतिसे पालन नहीं किया उन राजाओंको तैलहीन तिलोंके समान जानना चाहिये ॥ २० ॥

राज्ञि धर्मणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ॥
राजानमनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ २१ ॥

अर्थ—जगत्में पुण्यपापका प्रवर्त्तक राजाही होताहै कारण कि, जिस समयमें धर्मात्मा राजा प्रजाका अध्यक्ष होताहै उस समयमें प्रजाभी धर्मनिष्ठ होजाती है और पापिष्ठ राजाके समयमें प्रजाभी पापकारिणी होजाती है और अधिक पुण्यपापरहित मध्यमवर्त्ती राजाके समयमें प्रजाभी समभाव होती है जिन विषयोंमें राजाकी प्रवृत्ति होती है उन्होंमें प्रजाभी स्वयं प्रवृत्त होजाती है जैसा राजा होताहै प्रजाभी वैसीही होजाती है ॥ २१ ॥

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं कुमित्रमित्रेण कुतोभिनिर्वृतिः ॥ कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥ २२ ॥

अर्थ—कुत्सित राजाके राज्यमें किसीभी प्रकार प्रजाको सुख नहीं होता, कुत्सित मित्रकी मित्रतासे किसी प्रकार आनंद नहीं मिलता, कुत्सित स्त्रीके प्रभावसे घरमें प्रीति नहीं बढती और कुशिष्यको पढानेसे किसी प्रकारका यश नहीं होता ॥ २२ ॥

न यस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयात् ॥
विनयस्येन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति ॥ २३ ॥

अर्थ–विनय न्यायका मूल है, शास्त्रार्थके निश्चय करनेसे विनय प्राप्त होता है, इंद्रियोंका जीतनाही विनयका मूल है और इंद्रियोंका जीतनेवालाही शास्त्रका पारगामी होता है ॥ २३ ॥

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ॥
ततः पुत्राँस्ततोऽमात्यांस्ततो भृत्याँस्ततः प्रजाः॥२४॥

अर्थ–राजाको चाहिये कि, प्रथम अपनेको विनयसे युक्त करै इसके पीछे अपने पुत्रोंको, मंत्रियोंको, भृत्योंको और प्रजाको विनयसे संयुक्त करै ॥ २४ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि गजेंद्राश्चापि वाजिनः ॥
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥२५॥

अर्थ–सुवर्ण धान्य और नाना प्रकारके रत्न अच्छे श्रेष्ठ हाथी और घोडे तथा औरभी जो कुछ पदार्थ हैं वे राजाको प्रजाहीसे प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

नित्यं मनोपहारिण्या वाचा प्रह्लादयेत्प्रजाः ॥
उद्वेजयति भूतानि क्रूरवाग्धनदोऽपि सन् ॥ २६ ॥

अर्थ–राजाको चाहिये कि, मनको हरनेवाली सुन्दर वाणीसे प्रजाको नित्य हर्षित रक्खै कारण कि, राजा अदानी हो तोभी मधुर वचन बोलनेसे सम्पूर्ण प्रजा वशीभूत होजाती है और धनके देनेवाला होकरभी राजा क्रूरवचन बोले तो सम्पूर्ण प्रजा उद्वेगको प्राप्त होजाती है ॥ २६ ॥

मृदोः परिभवो नित्यं वैरं तीक्ष्णस्य नित्यशः ॥
उत्सृज्य तद्द्वयं तस्मान्मध्यां वृत्तिं समाश्रयेत् ॥ २७ ॥

अर्थ–अत्यंत कोमल स्वभाववालेकी नित्य हार होती है और अत्यंत तीक्ष्ण स्वभावसे सम्पूर्ण वैरी होजाते हैं इस कारण राजाको चाहिये कि, उक्त दोनोंही स्वभावोंको छोडके मध्यमवृत्तिको धारण करै ॥ २७ ॥

नापरीक्ष्य नयेद्दंडं न च मंत्रं प्रकाशयेत् ॥
विसृजेन्नैव लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ २८ ॥

अर्थ–परीक्षा किये विना किसीको दंड नहीं देवे मंत्र (राज्यसंबंधी गुप्तरीतिके विचार) को प्रगट नहीं करे लोभियोंके संग नहीं जाय और शत्रुओंका कदापि विश्वास न करै ॥ २८ ॥

कर्णेजपानां वचनप्रपंचान्नृपा गुणज्ञा न च दूषयंति ॥
भुजंगमानां गरलप्रसंगान्नापेयतां यांति महासरांसि २९।

अर्थ–निंदकमनुष्योंके वाक्यरूप प्रपंचसे बुद्धिमान् राजा कदापि दूषित नहीं होता जैसे सरोवरमें रहनेवाले सर्पोंके विषसे बडे सरोवरोंका जल विषैल नहीं होता अर्थात् निंदकके कहनेसे राजाको किसीकी हानि नहीं करनी चाहिये ॥ २९ ॥

न परस्यापराधेन परेषां दंडमाचरेत् ॥
आत्मनावगतं कृत्वा बध्नीयात्पूजयेच्च वा ॥ ३० ॥

अर्थ–पक्षपातसे किसीके कहनेपर किसीको दंड न करै दोषीके दोषोंकी स्वयं खोजकरके दंड दे वा छोडदे अर्थात् अमात्यादिकोंने किसीपै किसी प्रकार बलात्कारसे अनर्थ किया हो तो गुहार (अर्थात् अपील) करनेमें यथार्थ न्याय करै ॥ ३० ॥

नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ॥
दुष्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्यातो विना ह्युभे ॥ ३१ ॥

अर्थ–प्रजाका पालन करना और दुष्टोंको दण्ड देनाही राजाका परमधर्म है निश्चय है कि, उक्त दोनोंही कार्य नीतिशास्त्र पढे विना नहीं होता ॥ ३१ ॥

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्च शाश्वतीः ॥
विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा ॥ ३२ ॥

अर्थ–आन्वीक्षिकी[1] (तर्कविद्या–और वेदांतादि) त्रयी[2] (वेदत्रयः) वार्त्ता[3] (सूद्लेना, खेती, व्यापार, गोरक्षादि) दंडनीति[4] (राजनीतिः) अर्थात् अर्थशास्त्र वा नीतिशास्त्र ये चारोंही विद्या राजाको सदा अभ्यास करनी चाहिये ॥ ३२ ॥

नीतिविद्याऽस्त्रविद्या च द्वे राज्ञाऽभिहिते सदा ॥
त्रयोऽप्यधिका नीती राज्यं हि ध्रियते यया ॥ ३३ ॥

अर्थ–नीतिविद्या और अस्त्रविद्या ये दोनोंही विद्या राजाकी सदा हितकारिणी हैं और जिसमेंभी राजनीति तो अधिक हितकारिणी होनेसे अवश्य पढनीही चाहिये कारण राजनीतिके पढनेसे राज्यकी रक्षा होती है ॥ ३३ ॥

सर्वोपजीवकं लोकः स्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम् ॥
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः ॥ ३४ ॥

अर्थ–यह नीतिशास्त्र संपूर्ण मनुष्योंके निमित्त जीविका देनेवाला, लोकमर्यादाका पालन करनेवाला और धर्म अर्थ तथा कामका मूल है इसीसे मन्वादिकोंने मोक्षका दाताभी नीतिशास्त्रकोही कहा है ॥ ३४ ॥

अतः सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्नतो नृपः ॥
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्च शत्रुजिल्लोकरंजकाः ॥ ३५ ॥

अर्थ–इसीसे राजा नीतिशास्त्रको सदा यत्नपूर्वक अभ्यास करता रहै कारण कि, जिस नीतिशास्त्रके प्रभावसे राजा और युवराज आदि शत्रुओंको जीतिके प्रजाको प्रसन्न रखनेवाले होते हैं ॥ ३५ ॥

---

१ आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदांताद्य प्रतिष्ठितम् ॥

२ त्रय्यां धर्मो ह्यधर्मश्च कामोऽकामः प्रतिष्ठितः ॥ वर्णाः सर्वाश्रमाश्चैव विद्यास्वासु प्रतिष्ठिताः ॥ तथा च–अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसान्यायविस्तरः ॥ इतिहासं पुराणं च त्रयीदं सर्वमुच्यते ॥

३ अर्थानर्थौ तु वार्त्तायाम् ॥ तया च–कुसीदकृषिवाणिज्यं गोरक्षा वार्त्त- योच्यते ॥

४ दंडनीत्यां नयानयौ ॥

लोकानां व्यवहारस्य स्थितिर्नीत्या विना न हि ॥
यथाशनैर्विना देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम् ॥ ३६ ॥

अर्थ—जैसे भोजन करनेके विना देहधारियोंके शरीरकी स्थिति नहीं रहती वैसेही लोकोंके संपूर्ण व्यवहारोंकी मर्यादाभी नीतिशास्त्रके विना स्थिर नहीं रहसक्ती ॥ ३६ ॥

सर्वाभीष्टकरं नीतिशास्त्रं स्यात्सर्वसंमतम् ॥
अत्यावश्यं नृपस्येदं स सर्वेषां प्रभुर्यतः ॥ ३७ ॥

अर्थ—यह नीतिशास्त्र संपूर्ण मनुष्योंके मनोरथ सिद्ध करनेवाला और संपूर्णके माननीय है इसीसे नीतिशास्त्र राजाके तो अवश्य माननीय होताहै. कारण कि, राजा सबका स्वामी होताहै ॥ ३७ ॥

शत्रवो नीतिहीनानां यथा पथ्याशिनां गदाः ॥
सद्यः केचिच्च कालेन भवंति न भवंति च ॥ ३८ ॥

अर्थ—जैसे अपथ्य भोजन करनेवालोंके तत्काल वा कालांतरमें रोगोत्पत्ति होती है वैसेही नीतिहीन राजाओंमें किसीके तत्काल और किसीके कालांतरमें शत्रु उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होके अवश्य तिरस्कार करदेते हैं ॥ ३८ ॥

नीतिं त्यक्त्वा वर्तते यः स्वतंत्रः स हि दुःखभाक् ॥
स्वतंत्रप्रभुसेवा तु ह्यसिधारावलेहनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—जो राजा नीतिको छोडकर स्वतंत्र वर्त्तताहै वह दुःखका भागी होताहै और स्वतंत्रराजाकी सेवा करना तलवारकी धारका चाटना है ॥ ३९ ॥

स्वाराध्यो नीतिमान् राजा दुराराध्यस्त्वनीतिमान् ॥
यत्र नीतिबलं चोभे तत्र श्रीः सर्वतोमुखी ॥ ४० ॥

अर्थ—नीतिमान् राजा सुखसे सेवन करने योग्य होता है और अनीतिमान् दुःखसे आराधना करने योग्य होताहै जिस राजाके

नीति और बल दोनोंही विद्यमान हैं उनको चारों ओरसे लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ४० ॥

अप्रेरितं हितकरं सर्वराष्ट्रं भवेद्यथा ॥
तथा नीतिस्तु संधार्या नृपेणात्महिताय वै ॥ ४१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रेरणाके विना संपूर्ण प्रजा राज्यहितकारिणी होजाय वैसी नीति अपने हितके निमित्त राजाको धारण करनी चाहिये (अर्थात् ऐसा नियम प्रगट करना चाहिये कि, जिससे संपूर्ण प्रजा स्वतःही अपने वशीभूत होजाय) ॥ ४१ ॥

नित्यं बुद्धिमतो ह्यर्थः स्वल्पकोऽपि विवर्द्धते ॥
तिर्यंचोऽपि वशं यांति शौर्यनीतिबलैर्धनैः ॥ ४२ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजाका अल्पभी राज्य तथा धन आदि दिन दिन वृद्धिको प्राप्त होतेहैं. शूरता, नीति, बल और धन इन गुणोंसे सर्प. सिंह आदिभी वशीभूत होजाते हैं तो फिर मनुष्य आदि वशीभूत होनेमें तो आश्चर्यही क्या है ॥ ४२ ॥

भवतीष्टं सत्क्रियया ऽनिष्टं तद्विपरीतया ॥
शास्त्रतः सदसज्ज्ञात्वा त्यक्त्वासत्सत्समाचरेत् ॥ ४३ ॥

अर्थ—श्रेष्ठ कर्म करनेसे सत्कीर्त्ति तथा स्वर्गादिकोंकी प्राप्ति और अनिष्ट कर्म करनेसे अपयश तथा नरकादिकोंकी प्राप्ति होती है इसीसे शास्त्रद्वारा सत् असत् कार्योंको जानके सत्का आचरण और असत्का त्याग करै ॥ ४३ ॥

महती सत्क्रियानिष्टफला स्यात् प्रतिकूलके ॥
बलिर्दानेन संबद्धो हरिश्चंद्रस्तथैव च ॥ ४४ ॥

अर्थ—दैवविमुख होनेसे अत्यंत श्रेष्ठ कर्मभी अनिष्टफल दायी होजाताहै देखो बली और हरिश्चंद्र दोनोंही अत्यंत दान देनेसे बंधनको प्राप्त हुए ॥ ४४ ॥

धर्मितो वंद्यचरिता मन्यंते पौरुषं महत् ॥
अशक्ताः पौरुषं कर्तुं क्लीबा दैवमुपासते ॥ ४५ ॥

अर्थ-सबोंके माननीय आचरण करनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य तो पुरुषार्थकोही बडा मानते हैं और पुरुषार्थ करनेमें अशक्त ऐसे कायर मनुष्य प्रारब्धपर निर्भर करते हैं ॥ ४५ ॥

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैतिलक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदंति ॥ दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्म-शक्त्या यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥४६॥

अर्थ-उद्योग करनेवाले पराक्रमी मनुष्यसिंहको लक्ष्मी स्वयंही प्राप्त होतीहै और प्रारब्धही देनेवाला है ऐसा तो कायर मनुष्य कहतेहैं इस कारण प्रारब्धको छोडके अपनी शक्तिके अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिये जो यत्न करनेसेभी कार्य सिद्ध नहीं होवे तो इसमें क्या दोष है ॥ ४६ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ॥
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ४७ ॥

अर्थ-जैसे एक पहियेसे रथ नहीं चल सक्ता इसी प्रकार पुरुषार्थके विना प्रारब्धभी सिद्ध नहीं होसक्ता ॥ ४७ ॥

उद्यमेन हि सिध्यंति कार्याणि न मनोरथैः ॥
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशंति मुखे मृगाः ॥ ४८ ॥

अर्थ-पुरुषार्थ करनेसेही कार्य सिद्ध होते हैं केवल मनके विचारोंसे नहीं होते वनमें निश्चिंत सोतेहुए सिंहके मुखमें उद्यमके विना हरिण स्वयं प्रवेश नहीं करते ॥ ४८ ॥

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ॥
षडेते यत्र वर्त्तंते तत्र दैवः सहायवान् ॥ ४९ ॥

अर्थ–जहाँ पुरुषार्थ, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छहोंही विद्यमान होते हैं वहाँ प्रारब्धभी सहाय करनेवाला होता है ॥ ४९ ॥

विहाय पौरुषं यो हि दैवमेवावलंबते ॥
प्रासादसिंहवत्तस्य मूर्ध्नि तिष्ठंति वायसाः ॥ ५० ॥

अर्थ–जो पुरुषार्थको छोडके प्रारब्धपर निश्चित होताहै उसका सब कोई अनादर कर देते हैं जैसे देवालयोंपै स्थापन किये हुए सिंहके मस्तकपर काक निःश्चिंत बैठते हैं ॥ ५० ॥

न दैवमपि संचिंत्य त्यज्येदुद्योगमात्मनः ॥
अनुद्योगन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति ॥ ५१ ॥

अर्थ–प्रारब्धके भरोसेमें निश्चित होके अपने पुरुषार्थको त्यागना नहीं चाहिये कारण कि, तिल विद्यमान होनेसेभी पुरुषार्थके विना तेल कौन निकालसकता है ॥ ५१ ॥

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ॥
तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ५२ ॥

अर्थ–पूर्वजन्मकेही कियेहुए कर्मोंको इस जन्ममें प्रारब्ध कहते हैं इसीसे आलस्यरहित होके प्रारब्धकर्मोंकी सिद्धिके निमित्त पुरुषार्थमें यत्न करे ॥ ५२ ॥

उद्योगिनः करालंबं करोति कमलालया ॥
अनुद्योगिकरालंबं करोति कमलाग्रजा ॥ ५३ ॥

अर्थ–लक्ष्मी उद्योगीपुरुषके हाथको स्वयं पकडतीहै और दरिद्री आलसी पुरुषोंके हाथको आलंब करतीहै ॥ ५३ ॥

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च ॥
सप्तांगमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपः स्मृतः ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्वामी १ अमात्यगण २ मित्रवर्ग ३ कोष ४ देश ५ दुर्ग ६ और सेना ७ ये सातोंही राज्यपुरुषके अंग हैं उनमें राजा तौ राज्यका मस्तक है ॥ ५४ ॥

दृगमात्याः सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः ॥
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानि हि ॥५५॥

अर्थ—मंत्रीगण राज्यके नेत्र, मित्रवर्ग कर्ण, कोष मुख, सेना मन और दुर्ग तथा देश हाथ पैर हैं, ये क्रमसे राज्यके अंग कहाते हैं॥५५

सर्वांगसंवृतो राजा प्रजानां पालको भवेत् ॥
हीनांगो विकलाङ्गश्च प्रजानां खलु नाशकः ॥ ५६ ॥

अर्थ—संपूर्ण अंगोंसे संपन्न राजा प्रजाका पालक होताहै और उक्त अंगोंसे हीन या विकृत अंगोंसे युक्त राजा अवश्य प्रजाका नाशक होताहै ॥ ५६ ॥

सामदाने भेददंडावित्युपायचतुष्टयम् ॥
हस्त्यश्वरथपादातं सेनांगं स्याच्चतुष्टयम् ॥ ५७ ॥

अर्थ—साम, दान, भेद और दंड ये चारोंही उपायसंज्ञक हैं हाथी, घोडे, रथ और पदचर ये चारोंही सेनाके अंग हैं ॥ ५७ ॥

उत्साहस्य प्रभोर्मंत्रस्यैवं शक्तित्रयं मतम् ॥
आत्मनः सुहृदश्चैव तन्मित्रस्योदयास्त्रयः ॥ ५८ ॥

अर्थ—उत्साहशक्तिः (संपूर्णराज्य प्रकृति राज्योन्नतिके निमित्त उत्साही होना) प्रभुशक्तिः (राजा सर्वगुणोंसे संपन्न होना) मंत्रशक्तिः (जिसकी सम्मतिको कोईभी नहीं जानसक्ता हो) ये तीनोंही राज्योन्नतिके निमित्त शक्ति कही हैं अपना अपने मित्रका और मित्रके मित्रका ऐश्वर्य वढाना ये तीनोंही उदय कहाते हैं ॥५८॥

संधिविग्रहयानानि संस्थितिः संश्रयस्तथा ॥
द्वैधीभावश्च भूपानां षड्गुणाः परिकीर्त्तिताः ॥ ५९ ॥

अर्थ-संधिः (शत्रुको मिलालेना) विग्रहः (युद्ध करना) यान (सेनाकी चढाई करना) संस्थितिः (शत्रु प्रबल हो तो बैठेडछाड चुपके बैठरहना) संश्रयः (प्रबलशत्रुकी चढाईमें बलवान् धार्मिक राजाका आश्रय लेना) और द्वैधीभावः (शत्रुको जीतनेके निमित्त अपनी सेनाकी द्विधास्थिति करना) ये राजाओंके छः गुण राज्यरक्षाके निमित्त कहे हैं ॥ ५९ ॥

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ॥
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिस्सान्नि व्यवस्थिता ॥ ६० ॥

अर्थ-जो कार्यकी सिद्धिके निमित्त सामादि चार उपाय दिखलाये हैं इनमें तीनका तो एक संख्यामात्र फल है और कार्यसिद्धि तो केवल सामसेही होती है अर्थात् जैसी सामसे कार्यसिद्धि होती है वैसी दान, दंड, भेदसे नहीं होती ॥ ६० ॥

सामैव तु प्रयोक्तव्यमादौ कार्यं विजानता ॥
सामसिद्धानि कार्याणि विक्रियां यांति न क्वचित् ॥ ६१ ॥

अर्थ-बुद्धिमान्को चाहिये कि, सबसे कार्यकी सिद्धिके निमित्त प्रथम सामहीको प्रयुक्त करै० कारण कि, सामसे सिद्ध हुए काम कभी विकारको प्राप्त नहीं होते ॥ ६१ ॥

सुमंत्रिते सुविक्रांते सुकृते सुविचारिते ॥
प्रारंभे कृतबुद्धीनां सिद्धिरव्यभिचारिणी ॥ ६२ ॥

अर्थ-श्रेष्ठ सम्मति, श्रेष्ठ पराक्रम, श्रेष्ठ कार्य और सुंदर विचारपूर्वक आरंभ किये हुए कार्योंमें बुद्धिमानोंको निर्विघ्नतासे सिद्धिकी प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥

चिंतनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया ॥
न कूपखननं युक्तं प्रदीप्ते वह्निना गृहे ॥ ६३ ॥

अर्थ-विपद् प्राप्ति होनेके प्रथमही विपत्ति दूर होनेका उपाय सोचे कारण कि, अग्निसे घर जलनेपर कूप खोदना व्यर्थ है ॥ ६३ ॥

मित्रस्वजनबंधूनां बुद्धेर्धैर्यस्य चात्मनः ॥
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ६४ ॥

अर्थ–मित्र, स्वजन, बंधु, बुद्धि, धैर्य, मन और अपने बलकी सारताको मनुष्य दुःखरूपी कसौटीसे जानताहै अर्थात् दुःख पडनेपर मित्रादिकोंकी परीक्षा होती है जैसे किसी कविने कहा है किः–दोहा–दुःख बराबर सुख नाहिं, जो थोरोसो होय । इष्टमित्र अरु बंधुकी, बेर परे जब कोय ॥ धीरज धर्म मित्र अरु नारी । आपदकाल परखिये चारी ॥ ६४ ॥

वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः ॥
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम् ॥ ६५॥

अर्थ–जिस समय अग्नि अपनी पुष्टतासे वनको दहन करताहै उस समय वायुभी मित्र होजाताहै और वह वायु अग्निकी कृशतामें दीपककी अग्निको नाश करदेता है इसीसे निश्चय होताहै कि, निर्बलताके समयमें कोईभी मित्र नहीं होता ॥ ६५ ॥

क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये यशस्करे कर्मणि मित्रसंग्रहे ॥ प्रियासु नारीष्वधनेषु बंधुषु धनव्ययस्तेषु न गण्यते बुधैः ॥ ६६ ॥

अर्थ–यज्ञमें १ विवाह आदि उत्सवोंमें २ दुःखदूर करनेमें ३ शत्रूओंके विनाश करनेमें ४ यशकारी कर्मोंमें ५ मित्रोंके संग्रहमें ६ प्यारी स्त्रियोंके ७ और निर्धन बंधुवोंके पालन आदिमें ८ जो धन व्यय (खर्च) होताहै उसको बुद्धिमान् व्यय नहीं मानते अर्थात् इन कामोंमें धनका व्यय होना ही धनकी सफलता है ॥ ६६ ॥

संरक्षणे संहरणे सुप्रयत्नो भवेत्सदा ॥
शौर्यपाण्डित्यवक्तृत्वं दातृत्वं न त्यजेत् क्वचित् ६७॥

अर्थ–प्राप्तराज्य आदिकोंकी भली प्रकार रक्षा करनेमें और इतर राज्य आदिके हरण करनेमें सदा सावधानीसे समयानुकूल अत्यंत प्रयत्न करता रहै और शूरता, पांडित्य, प्रियभाषिता और उदारता आदि गुणोंको कदापि न त्यागे ॥ ६७ ॥

सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ॥ नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ ६८ ॥

अर्थ–कहीं सत्यरूप, कहीं असत्यरूप, कहीं कठोर रूप, कहीं प्रियवचनरूप, कहीं हिंसाशील, कहीं दयालु, कहीं स्वार्थमें तत्पर, कहीं उदार, कहीं नित्य व्ययवाली, कहीं अनेक रत्न धनआदिकी प्राप्तिवाली वारांगना (वेश्या) की समान राजाओंकी नीतिभी अनेक रूपवाली होती हैं अर्थात् जैसे धन हरनेके निमित्त पुरुषोंकी प्रकृतिके अनुकूल वेश्या नाना प्रकारके रूपोंको धारण करती है वैसेही विविध कार्योंकी सिद्धिके निमित्त देश काल आदिके अनुकूल राजनीतिकाभी प्रयोग किया जाता है ॥ ६८ ॥

नृपदीपो धनस्नेहं प्रजाभ्यः संहरन्नपि ॥
अंतरस्थैर्गुणः शुभ्रैर्लक्ष्यते नैव केनचित् ॥ ६९ ॥

अर्थ–जैसे दीप श्वेत (सुपेद) वत्तीके द्वारा पात्रसे तैलको खैंचता हुआ किसीको प्रतीत नहीं होता वैसेही बुद्धिमान् राजा प्रजाकी पालनाके निमित्त प्रीतिपूर्वक नियत किये हुए श्रेष्ठ करों (लगानों) से प्रजाका धन हरता हुआ किसीकोभी प्रतीत नहीं होता अर्थात् बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि, प्रजामें अत्यंत प्रीति प्रगट करता हुआ अनेक सूक्ष्म २ लगानोंसे धनको खैंचै ॥ ६९ ॥

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुंजरबंधनम् ॥
खन्याकरकरादानं संचयार्थाष्टकं मतम् ॥ ७० ॥

अर्थ–कृषीको बढाना १ वाणिज्यको उन्नति देना २ जहां दुर्गम भूमि हो वहां प्रजाकी रक्षाके निमित्त दुर्ग (किला) बनाना ३ देशोंकी वृद्धिके निमित्त तलाव और दुर्गम वन आदिमें सडक तथा नदियोंपर पुलें बनवाना ४ कुंजरबंधनम् (याने नियत करना या अपने देशोंमें जहां पुलें न हों वहां नदी आदिको तरनेके निमित्त तटोंपर हाथी तथा नौका रखना) ५ गेरू और पाषाण आदिकी खानोंको प्रगट करना ६ सुवर्ण आदि धातुओंकी खानोंकी सावधानीपूर्वक रक्षा करना करादान (मालगुजारी) आदिके लेनेमें विलंब नहीं करना ये आठोंही कार्य धनसंग्रह करनेके निमित्त हैं ॥ ७० ॥

बलीयसा समाक्रांतो वैतसीं वृत्तिमाचरेत् ॥
वांछन्नभ्रंशिनीं लक्ष्मीं न भौजंगीं कदाचन ॥ ७१ ॥

अर्थ–अटल राज्यलक्ष्मीको भोगनेकी इच्छा करनेवाले राजाको चाहिये कि, यदि अपने ऊपर बलवान् शत्रुने चारों ओरसे चढाई करदी हो तो उनके आगे बेतकी वृत्तिको धारण करे सर्पकी वृत्तिको कदापि धारण नहीं करे अर्थात् जैसे नदीके प्रबल प्रभावको बढता हुआ देखकर बेतका वृक्ष झुकजाताहै और प्रवाह घटनेके पीछे नम्रतारूप गुणसे सर्वथा हानिसे बचाहुआ फिर अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त होजाताहै इस प्रकार बुद्धिमान्कोभी प्रबल शत्रुके साथ वर्त्तना चाहिये ॥ ७१ ॥

उपकारगृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत् ॥
पादलग्नं करस्थेन कंटकेनैव कंटकम् ॥ ७२ ॥

अर्थ–अपने उपकारको माननेवाले शत्रुसे दूसरे शत्रुका विध्वंस करादेवे जैसे पैरमें लगेहुए कांटेको हाथमें रक्खे हुए कांटेसेही निकालना होताहै ॥ ७२ ॥

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ॥
प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत क्रूरसर्पवत् ॥ ७३ ॥

अर्थ–नीतिमान् राजाको चाहिये कि, यदि निर्बल शत्रुभी बलाश्रित होवे तो कच्छप (कछुए) की समान अपने अंगोंको सकुंचित करके उनके असह्य प्रहारकोभी सहन करले और समय प्राप्त होनेपर क्रूर सर्पके समान चढदौडे (चढाई करै) ॥ ७३ ॥

एकदा न विगृह्णीयाद्बहून् राजा विघातिनः ॥
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम् ॥ ७४ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् राजा एकही समयमें बहुत शत्रुओंसे विरोध न करै कारण कि, बलका घमंडी सर्पभी एकसंग बहुत कीडे लगनेसे नाशको प्राप्त होजाताहै अर्थात् बलके घमंडसे एकही समयमें बहुत शत्रुओंसे लडाई नहीं करे कारण कि, थोडा छिद्र मिलनेसे निर्बल शत्रुभी मारदेता है जैसे रुधिरयुक्त किंचित्भी घाव मिलनेपर बहुत चीटियां एकसंग लगनेसे बलवान् सर्पकोभी मारदेती हैं ॥ ७४ ॥

वहेदमित्रं स्कंधेन यावत् कालविपर्ययः ॥
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिंद्याद्घटमिवाश्मनि ॥ ७५ ॥

अर्थ–जबतक शत्रुका समय बलवान् हो और अपना निर्बलहो तबतक शत्रुको कंधेपरभी बिठालेवै और अपना बलवान् समय प्राप्त होतेही शत्रुको ऐसा पटकके पछाडना चाहिये कि, जैसे मृत्तिकाके घटको शिलापै पटकते हैं ॥ ७५ ॥

शत्रुं च मित्ररूपेण सांत्वेनैवाभिसांत्वयेत् ॥
नित्यशश्चोद्विजेत्तस्मात्गृहात्सर्पयुतादिव ॥ ७६ ॥

अर्थ–नीतिमान् राजाको चाहिये कि, जैसे मधुर भाषण आदिसे मित्रको संतुष्ट करते हैं वैसेही मित्ररूप शांतिसे शत्रुकोभी संतुष्ट करके अपने वशीभूत करलेवे और जिस घरमें सर्प रहता हो उस घरमें रहनेवाले सर्पसे बचनेके लिये जैसे सावधान रहते हैं वैसेही शत्रुसे बचनेके लिये नित्य सावधान रहे ॥ ७६ ॥

शपथैः संधितस्यापि न विश्वासं व्रजेद्रिपोः ॥
राज्यलोभाद्यतो विप्रः शक्रेण शपथैर्हतः ॥ ७७ ॥

अर्थ–अपने इष्ट देवके शपथ (सौगन्ध) खाकेभी शत्रुने मित्रता करली हो तौभी शत्रुका विश्वास न करै कारण कि, राज्यलोभमें प्रवर्त्तित विप्रको इन्द्रने सौगन्ध खाके मारा था ॥ ७७ ॥

योऽमित्रं कुरुते मित्रं वीर्याऽभ्यधिकमात्मनः ॥
स करोति न संदेहः स्वयं हि विषभक्षणम् ॥ ७८ ॥

अर्थ–जो अपनेसे अधिक पराक्रमी शत्रुको मित्र बनाता है वह आपही विष भक्षण करता है इसमें संदेह नहीं ॥ ७८ ॥

सर्वस्वहरणे युक्तं शत्रुं बुद्धियुता नराः ॥
तोषयंत्यल्पदानेन वाडवं सागरो यथा ॥ ७९ ॥

अर्थ–जो बुद्धिमान् होते हैं वे संपूर्ण धन हरनेमें प्रवर्त्तित शत्रुको अल्पधन देकर संतुष्ट करलेते हैं जैसे सागरने वडवानल अग्निको संतोषित किया ॥ ७९ ॥

सर्वनाशे च संजाते प्राणानामपि संशये ॥
यदि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत् प्राणधनानि च ॥ ८० ॥

अर्थ–यदि जिस शत्रुकी चढाईसे संपूर्ण राज्य नाश होजावे और प्राण बचनेमें भी संशय होता हो तो उस शत्रुसे नम्रताके साथ प्राण और धनको बचावे ॥ ८० ॥

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यंति जंतवः ॥
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने किं दरिद्रता ॥ ८१ ॥

अर्थ–प्रियवाक्य बोलनेसे संपूर्ण प्राणिमात्र प्रसन्न होजाते हैं इस कारण सदा प्रिय वाक्यही बोलने चाहिये, क्योंकि धनादिके अत्यन्त देनेसे दरिद्रता होजाती है परंतु प्रियवाक्यरूपी दान देनेसे वचनमें तो कदापि दरिद्रता नहीं होती ॥ ८१ ॥

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम् ॥
असिनापि शिरश्छित्वा शोचेत च रुदेत च ॥ ८२ ॥

अर्थ–नीतिमान्को चाहिये कि शत्रुपर प्रहार करता हुआभी अपने मुखसे वाक्य तो प्रियही बोलै और प्रहार करकेभी उत्तर तो प्याराही देवे और तलवारसे शिर काटकर शोच और रुदनभी करै अर्थात् प्रियवाक्य बोलनेसे शत्रुभी मित्र होजाताहै और शोच तथा रुदन करनेसे लौकिकमें दयालुता और मृतकके कुटुंबी निर्वैरता मानने लगते हैं ॥ ८२ ॥

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः ॥
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥ ८३ ॥

अर्थ–शत्रुके साथ वाक्यमात्रसे विनीत रहै और मनसे क्षुर (छुरी) की धारके समान तीक्ष्ण रहै सदा प्रियही बोले और कामक्रोधसे वर्जित रहै ॥ ८३ ॥

वणिग्वृत्त्या सेवया वा परराष्ट्रं विमृश्य च ॥
दत्ताभयं सावधानो व्यसने तं नियोजयेत् ॥ ८४ ॥

अर्थ–व्यापारकी वृत्तिसे वा सेवावृत्तिसे अपने विपक्षी राजाके देशोंको भली प्रकार देखै और उसको अभयदान देकर सावधान राजा अपने विपक्षी राजाको व्यसनमें लगावे ॥ ८४ ॥

वेश्याभिश्च नटैर्मद्यैर्गायकैर्मोहयेदरिम् ॥
वृथा क्रीडनकैर्वाद्यैर्मैत्रीभावं प्रदर्शयेत् ॥ ८५ ॥

अर्थ–अत्यंत मित्रभावको दिखलाता हुआ राजा, अत्यंत रूपवती वेश्या, नट, अच्छी मदिरा, अच्छे गानेवाले तथा व्यर्थ खिलौने और बाजे आदिसे शत्रुको मोहित करै ॥ ८५ ॥

राष्ट्रभृत्यविशंकी स्याद्धीनमंत्रबलो रिपुः ॥
युक्त्या तत्ता प्रकुर्वीत सुमंत्रबलयुक्स्वयम् ॥ ८६ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् राजा गूढ मंत्र और श्रेष्ठ सेनासे युक्त होकर यत्नपूर्वक ऐसी युक्ति करे कि, जिससे विपक्षी राजा अपने देश और भृत्योंसे तथा देशकी उन्नति करनेवाले यावन्मात्र पदार्थोंसे शंका करनेवाला होजाय तथा श्रेष्ठ विचार और सेना आदिसे हीन होजाय अर्थात् अपने वशमें आयेहुए देशोंके राजा स्वदेशी भृत्य तथा देशी शिल्प आदिकोंसे स्वयं शंका करनेलगे और स्वदेशियोंको निर्बुद्धि विचारकर सुमंत्र (श्रेष्ठ सम्मति) से और विश्राममें तत्पर होकर सेनासेभी रहित होजाय ऐसी यत्न करनेसे विपक्षी स्वयं अपने वशीभूत होजाते हैं ॥ ८६ ॥

दर्शयन् मार्दवं नित्यं महावीर्यबलोपि च ॥
रिपुराष्ट्रे प्रविश्यादौ तत्कार्यसाधको भवेत् ॥ ८७ ॥

अर्थ–महावीर्य और बलवान् सेनावालाभी राजा प्रतिदिन नम्रता दिखाताहुवा शत्रुके राज्यमें प्रविष्ट होकर प्रथम उनके कार्योंमें सहायता देनेवाला होजावे अर्थात् बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि, अपने वशमें आयेहुए निर्बलभी राजाके देशमें प्रथम प्रविष्ट होते समय अपनी अत्यंत नम्रता दिखलाता हुआ उसका अत्यंत आदर सत्कार करै और उसके कार्यमें सहायता दे ॥ ८७ ॥

संजातबद्धमूलस्तु तद्राज्यमखिलं हरेत् ॥
भेदस्तत्र प्रयोक्तव्यस्तेन निर्बलतां व्रजेत् ॥ ८८ ॥

अर्थ–और अपना बल बढानेके पीछे उस राज्यके संपूर्ण शासनको अपने अधिकारमें करले और उस राज्यमें ऐसा भेद प्रयुक्त करै कि, जिससे संपूर्ण राज्य निर्बल होजाय ॥ ८८ ॥

कृते प्रतिकृतिं कुर्याद्धिंसने प्रतिहिंसनम् ॥
तत्र दोषो न पतति दुष्टे दुष्टं समाचरेत् ॥ ८९ ॥

अर्थ–उपकार करनेवालेका उपकार करै और वैर करनेवालेसे वैरही करै और दुष्टके साथ दुष्टताका आचरण करै तो वहां दोष नहीं लगता ॥ ८९ ॥

मृगयाक्षास्तथा पानं गर्हितानि महीभुजाम् ॥
दृष्टास्तेभ्यस्तु विपदः पांडुनैषधवृष्णिषु ॥ ९० ॥

अर्थ—शिकार खेलना, सारपासे (चौपड) आदि खेलना तथा मद्य पीना ये व्यसन राजाओंको महान् हानिकारक होते हैं क्योंकि मृगया (शिकार) खेलनेमें अत्यंत प्रवृत्ति होनेसे चक्रवर्ती राजा पांडु, चौपड खेलनेसे जगद्विख्यात राजा नल, और मद्य पीनेसे यादव, इन्होंने एक एक व्यसनके सेवन करनेसेही अनेक विपत्ति देखी यदि जहां तीनोंही एकत्र होजायँ वहां तो कहनाही क्या है ! ॥ ९० ॥

कामक्रोधौ तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा ॥
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥ ९१ ॥

अर्थ—काम (अत्यंत स्त्रीसंग तथा परस्त्रीगमन), क्रोध, मोह, लोभ, मान और मद इन छः समुदायको राजा त्यागदेवे इनके अति सेवनसे दुःख और शास्त्रोक्तरीतिपूर्वक सेवन करनेसे राजा राज्य-सुखको भोगता है ॥ ९१ ॥

दंडक्यो नृपतिः कामात्क्रोधाच्च जनमेजयः ॥
लोभादैलस्तु राजर्षिर्मोहाद्वातापिरासुरः ॥ ९२ ॥

अर्थ—अत्यंत कामासक्त होनेसे राजा दंडक्य, क्रोधसे राजा जन-मेजय, लोभसे राजर्षि ऐल और मोहसे वातापि असुर नाशको प्राप्त हुए ॥ ९२ ॥

पौलस्त्यो राक्षसो मानान्मदाद्दंभोद्भवो नृपः ॥
प्रयाता निधनं ह्येते शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः ॥ ९३ ॥

अर्थ—मानसे राक्षसेंद्र रावण और मदसे दंभोद्भव राजा ये षड्वर्गरूप शत्रुओंके आश्रयसेही नाशको प्राप्त हुए ॥ ९३ ॥

सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे यत्राभिमानिनः ॥
सर्वे महत्त्वमिच्छंति कुलं तदवसीदति ॥ ९४ ॥

अर्थ-जिस राज्यमें सर्व मनुष्य हुक्मके देनेवाले और सबही अभिमानी और सबही बडप्पनकी इच्छा करनेवाले हों वह राज्यकुल निश्चय दुःख पाताहै अर्थात् जहां एक अध्यक्ष नहीं होता वहां कार्य सिद्धिमें गडबड होनेके कारण लाभके स्थानमें हानि उठानी पडती है ९४॥

क्षते प्रहारा निपतंत्यभीक्ष्णं धनक्षये वर्धाति जाठराग्निः ॥ आपत्सु वैराणि समुद्भवंति छिद्रे ह्यनर्था बहुलीभवंति ॥ ९५ ॥

अर्थ-जहां घाव होता है वहां अवश्य चोट लगती है धननाश होनेपर जाठराग्नि बढती है आपत्कालमें अनेक तरहसे वैरी उत्पन्न होते हैं और परस्परके छिद्र करनेमें बहुतसे अनर्थ उत्पन्न होते हैं॥९५॥

दूरस्थाः पर्वता रम्या वेश्या च मुखमंडने ॥
रम्या वार्त्ता तु युद्धस्य त्रीणि रम्याणि दूरतः ॥ ९६ ॥

अर्थ-पर्वत दूरसे रमणीक लगते हैं हावभावयुक्त अलंकृत मुखमंडनसे वेश्या शोभायमान होती है और युद्धकी तो वार्ताही रमणीक लगती है ये तीनों केवल दूरसेही अच्छे लगते हैं ॥ ९६ ॥

इच्छेच्चेद्विपुलां प्रीतिं त्रीणि तत्र न कारयेत् ॥
वाग्वादमर्थसंबंधं तत्पत्नीपरिभाषणम् ॥ ९७ ॥

अर्थ-जहां अत्यंत प्रीति रखनेकी इच्छा होवे वहां व्यर्थ विवाद, धनका लेनदेन और परोक्षमें उसकी स्त्रीसे संभाषण ये तीनोंही वार्त्ता नहीं करनी चाहिये ॥ ९७ ॥

मौनं कालविलंबश्च प्रयाणं भूमिदर्शनम् ॥
भ्रुकुट्यन्यमुखी वार्त्ता नकारः षड्विधः स्मृतः ॥ ९८ ॥

अर्थ-वार्त्ता सुनके चुप होजाना, तत्काल कर्त्तव्य कार्यमें समय बिताना, वार्त्ता सुनकर चलदेना, बात सुनते समय भूमिको देखना, भ्रुकुटी चढाना और दूसरेकी ओर मुख फेरके वार्ता करनेलगना ये

छः प्रकारके लक्षण इनकार करनेके हैं । अर्थात् मुखसे उत्तर नहीं देने परभी ये छः लक्षण नटजानेके समझने चाहिये ॥ ९८ ॥

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वितं शौर्यम् ॥
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—प्रियवचन कहकर दान देना, अभिमानरहित होके ज्ञानको अंगीकार करना, धीरतायुक्त शूरताको धारण करना, द्रव्यको दानमें व्यय करना, ये चारोंही वार्त्ता बडी दुर्लभ हैं ॥ ९९ ॥

कवयः किं न पश्यंति किं न भक्षंति वायसाः ॥
मद्यपाः किं न जल्पंति किं न कुर्वंति योषितः ॥१००॥

अर्थ—कविजन ज्ञानदृष्टिसे किस पदार्थको नहीं देखसक्ते, काक क्या नहीं खाते, मद्यप अपने हृदयकी कौन गुप्त बातको प्रगट नहीं करते और स्त्रियें किस कामको नहीं करतीं अर्थात् चाहे वो करलेती हैं ॥ १०० ॥

दुर्ज्जनो जीयते युक्त्या विग्रहेण न धीमता ॥
निपात्यते महावृक्षस्तत्समीपक्षितिक्षयात् ॥ १०१ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि, दुष्टोंको युक्तिसे जीते संग्रामसे नहीं जैसे बडा वृक्षभी उसके समीपकी भूमिको नष्टकरके गिराया-जाता है ॥ १०१ ॥

अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोपि जनस्तिरस्क्रियां लभते ॥
विवसन्नंतर्दारुणि लंघ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः ॥ १०२ ॥

अर्थ—समर्थ मनुष्य जबतक अपनी शक्तिको प्रगट नहीं करता तबतक अपमानको प्राप्त होताहै जैसे अपनी दहन शक्तिको छिपाकर संपूर्ण काष्ठमें निवास करती हुई अग्नि संपूर्णोंके चरणोंकी ठोकरोंको सहन करनेवाली होती है और अपनी दहनशक्ति प्रगट करनेसे जलती हुई अग्नि अलंघ्य लांघने या तिरस्कार करनेके अयोग्य होजाती है अर्थात् लांघनेमें नहीं आती ॥ १०२ ॥

न कस्यचित् कश्चिदिह स्वभावाद्भवत्युदारोभिमतः खलो वा ॥ लोके गुरुत्वं विपरीततां वा स्वचेष्टितान्येव नरं नयंति ॥ १०३ ॥

अर्थ—जगत्में कोईभी किसीका मित्र या शत्रु नहीं होता केवल स्वभावसे उदार तथा अभिमत वा दुष्ट जानाजाता है लोकमें अपनी निष्ठासेही मनुष्य बडेपन और नीचपनको प्राप्त होता है ॥ १०३ ॥

मांसं मृगाणां दशनौ गजानां मृगाद्विषां चर्म फलं द्रुमाणाम् ॥ स्त्रीणां सुरूपं च नृणां हिरण्यमेते गुणा वैरकरा भवंति ॥ १०४ ॥

अर्थ—मृगोंके मांस, हाथियोंके दांत, सिंहोंके चर्म, वृक्षोंके फल, स्त्रियोंकी सुंदरता और मनुज्योंके लिये सुवर्ण ये उक्त पदार्थ मृगआदिकोंके क्रमसे गुण कहे हैं परंतु यही दूसरोंसे वैर करानेवाले होते हैं अर्थात् यह हैं तो गुण परंतु वैरदायी होनेसे इनहीसे मारेजाते हैं १०४॥

अर्थो नराणां पतिरंगनानां वर्षा नदीनामृतुराट् तरूणाम् ॥ स्वधर्मचारी नृपतिः प्रजानां गतं गतं यौवनमानयंति ॥ १०५ ॥

अर्थ—द्रव्य मनुष्योंका,पति स्त्रियोंका, वर्षा नदियोंका, वसंत वृक्षोंका, न्यायकारी नृप प्रजाका गयायौवन फिर नया करदेता है ॥ १०५ ॥

त्रिविक्रमोऽभूदपि वामनोसौ स शूकरश्चेति स वै नृसिंहः ॥ नीचैरनीचैरतिनीचनीचैः सर्वैरुपायैः फलमेव साध्यम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—अपने कार्योंको सिद्ध करनेके निमित्त देखो परमेश्वरने वामन, वराह, नृसिंह इत्यादि अग्राह्यरूपभी धारण किये इसलिये बुद्धिमान्को चाहिये कि, हीन उत्तम अत्यंत हीन सब प्रकारके उपायोंसे अपना कार्य सिद्ध करलेवे ॥ १०६ ॥

स्वदेशजातस्य नरस्य नूनं गुणान्वितस्यापि भवेदवज्ञा ॥ निजांगना यद्यपि रूपशालिनी तथापि लोकः परदारसक्तः ॥ १०७ ॥

अर्थ–अपने देशमें जन्मे हुए गुणवान् मनुष्यका भी मान अपने देशमें नहीं होता जैसे अत्यंत रूपवती अपनी स्त्री समीप रहतेभी मनुष्य परस्त्रियोंमेंही आसक्त होते हैं ॥ १०७ ॥

अल्पीयसामेव विवासभूमित्यागाद्विपत्तिर्महतां न जातु ॥ रत्नाकरात् सन्मणयोभियांति राज्ञां शिरः काकमुखानि भेकाः ॥ १०८ ॥

अर्थ–विद्याहीन साधारण मनुष्योंको अपनी जन्मभूमि त्यागनेसे विपत्ति प्राप्त होती है और बुद्धिमान् महत्पुरुषोंको अपनी जन्मभूमि त्यागनेसे कदापि आपत्ति प्राप्त नहीं होती जैसे सागरसे निकली हुई श्रेष्ठ मणियें राजाओंके शिरपर आरूढ होती हैं और उसी रत्नाकरको छोडनेसे निर्गुण मैंडक कागोंके आहार होजाते हैं ॥ १०८ ॥

को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशस्तथा यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ॥ यद्दंष्ट्रानखलांगुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते तस्मिन्नेव हतद्विपेंद्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः ॥ १०९ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् शूरवीरके लिये स्वदेश या विदेश कौनसा है जिस देशको जाताहै उसी देशको भुजोंके बलसे अपने आधीन करलेताहै. देखो दाँत, नख, पूँछ ऐसे शस्त्र रखनेवाला सिंह जिस वनको जाता है उसी वनमें गजको मारके रुधिरसे अपनी प्यासको बुझाताहै॥१०९

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ॥ कस्याहं का च मे शक्तिरिति चिंत्यं मुहुर्मुहुः ॥ ११० ॥

अर्थ-समय कौनसा है, अब क्या करना चाहिये, इस समय कौन कौन मित्र हैं, देशरीति क्या है और अपनेको खर्च या लाभ कितना है, मैं कैसा हूँ, वा किसके आधार हूँ, मुझमें क्या शक्ति है वा क्या करसक्ता हूँ, बुद्धिमान्‌को चाहिये कि, इस प्रकार काल आदिको वारंवार विचारके सावधानीसे कार्य करे ॥ ११० ॥

आयातिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ॥
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १११ ॥

अर्थ-संपूर्ण कार्योंके आगामी कालके विषे गुण और दोषोंका विचार करै और वर्तमानसमयमेंभी कर्त्तव्यकार्योंके गुण और दोषोंको विचारके आरंभ करै बीतेहुए समयमें कियेहुए कार्योंके गुणदोषोंकाभी विचार करै अर्थात् भूत भविष्यत्-वर्तमानसमयमें कियेहुए और कर्त्तव्य कार्योंके लाभालाभको विचारके समयानुसार कार्य करै ॥ १११ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ॥
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ ११२ ॥

अर्थ-कर्त्तव्यकार्योंके आगामी कालमें गुणदोषोंको जाननेवाला वर्तमानसमयमें लाभालाभोंका शीघ्र निश्चय करलेनेवाला और बीतेहुए समयमें किये हुए कार्योंकी हानिलाभको सोचनेवाला राजा कदापि शत्रुओंसे पराजित नहीं होता ॥ ११२ ॥

मंत्री पुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपतिः ॥ पंचमो द्वारपालश्च षष्ठोंतर्वंशिकस्तथा ॥ ११३ ॥ कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत्तथा ॥ कृत्याकृत्येषु चाराणां नवमो विनियोजकः ॥ ११४ ॥ प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्यनिर्माणकृत्तथा ॥ धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दंडपालस्त्रिपंचमः ॥ ११५ ॥ षोडशो दुर्ग-

पालश्च तथा राष्ट्रांतपालकः ॥ अटवीपालकांतानि
तीर्थान्यष्टादशैव तु ॥ ११६ ॥

अर्थ—मंत्री १ पुरोहित २ युवराज ३ राजा ४ द्वारपाल ५ अंतःपुररक्षक ६ बंदीघरका अधिकारी ७ तहसीलदार ८ गूढचारी, दूतोंका अधिपति ९ प्रदर्शक १० कोटवाल ११ राजकीय कर्त्तव्याकर्त्तव्यकार्योंमें आज्ञा देनेवाला प्रधान वा प्रतिनिधि १२ धर्माध्यक्ष १३ कौन्सिलका मुख्य सभासद् १४ सेनापति और फौजदारीका अधिकारी १५ दुर्गपाल १६ राज्यसीमाका रक्षक १७ जंगलातका स्वामी १८ अठारह राज्यके रक्षक हैं इन अठारहोंको नीतिशास्त्रमें तीर्थसंज्ञक कहते हैं ॥ ११३ ॥ ११४ ॥ ११५ ॥ ११६ ॥

चारान्संचारयेत्तीर्थें स्वात्मनश्च परस्य च ॥
पाखंडादीन्न विज्ञातानन्योन्यमितरेष्वपि ॥ ११७ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि, अपने और परराज्यके रक्षक तीर्थसंज्ञक उक्त अष्टादश अधिकारियोंकी गुप्त दूतोंके द्वारा भली बुरी खबर मँगाता रहे वे गूढचारी ऐसे होने चाहिये कि, योगी, संन्यासी आदि अनेक प्रकारके पाखंडरूपोंको धारण करके विचैरे और परस्परमेंभी एकको एक नहीं पहचानसके और अन्य मनुष्य तथा अन्यराज्यके कर्मचारीभी जिनको नहीं पहिचानसके ॥ ११७ ।

मित्रं स्वच्छतया रिपुं नयबलैर्लुब्धं धनैरीश्वरं कार्येण द्विजमादरेण युवतिं प्रेम्णा समैर्बांधवान्॥अत्युग्रं स्तुतिभिर्गुरुं प्रणतिभिर्मूर्खं कथाभिर्बुधं विद्याभी रसिकं रसेन सकलं शीलेन कुर्याद्वशम् ॥११८ ॥

अर्थ—राजाको चाहिये कि, मित्रको स्वच्छतासे और शत्रुको नीति तथा बलसे (बलवान् शत्रुको नम्रतादिसे और हीनको बलादिसे) लोभीको धनसे और अपने अधीश्वरको उत्तमसेवासे, द्विजको आद-

रसे, युवति (स्त्रीजनों) को प्रेमसे, बांधवोंको तुल्यवर्त्तावसे, अत्यंत ढीठको स्तुतिसे, गुरुको नम्रतासे, मूर्खको नानाप्रकारकी वार्त्तासे विद्यावान्को नानाप्रकारकी विद्योन्नतिसे और रसिकको रसकी बातसे और सब जगत्को शील स्वभाव आदि गुणसे अपने वशीभूत करै ॥ ११८ ॥

लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्स्तब्धमंजलिकर्मणा ॥
मूर्खं छंदानुवृत्त्या च यथार्थत्वेन पंडितम् ॥ ११९ ॥

अर्थ–यहां उक्तार्थकी दाढर्यताके ही लिये श्रीमान् राजकुमारने इस श्लोकका संग्रह किया है अतिलोभीको धनसे और अत्यंत ढीठको प्रार्थनासे और मूर्खको उसकी इच्छाके अनुकूल वार्ताओंसे और पंडितको शास्त्रोक्त वार्तासे अपने वश करै ॥ ११९ ॥

मनसा चिंतितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत् ॥
मंत्रेण रक्षयेद्गूढं कार्यं चापि नियोजयेत् ॥ १२० ॥

अर्थ–मनसे चिंतवन किये हुए कार्यको कार्यकी सिद्धिपर्यंत वाणीसे प्रकाशित न करै और अपने मंत्रके देनेवाले मंत्रियोंसे संमति करके कार्यकी गूढरक्षा करे और कार्यकी सिद्धिके निमित्त यथायोग्य पुरुषोंको नियुक्त करै ॥ १२० ॥

विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यांति नो बहिः ॥
याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव ॥ १२१ ॥

अर्थ–ज्ञानीपुरुषोंके मुखसे एकाएक बेविचारी बात नहीं निकलती और विचारयुक्त निकलीहुई वाणी फिर पीछे नहीं लौटती जैसे हाथियोंके दांत बाहर निकलकर फिर भीतर नहीं घुसते ॥ १२१ ॥

सकृज्जल्पंति राजानः सकृज्जल्पंति पंडिताः ॥
सकृत्कन्याः प्रदीयंते त्रीण्येतानि सकृत्सकृत् ॥ १२२ ॥

अर्थ–राजालोग एकहीबार आज्ञा देते हैं अर्थात् एकवार आज्ञा देनसे कार्य नहीं होनेमें आज्ञाभंग (हुकमअदूली) का भय होताहै

और पंडितजनभी एकहीबार बोलते हैं अर्थात् पंडितोंके मुखसे जो वार्त्ता निकलती है उसीको सत्य कर दिखाते हैं और कन्याभी वरके निमित्त एकही बार दीजाती है अर्थात् ये तीनों वार्ता एकहीबार होती हैं ॥ १२२ ॥

सद्भिस्तु लीलया प्रोक्तं शिलालिखितमक्षरम् ॥
असद्भिः शपथेनापि जले लिखितमक्षरम् ॥ १२३ ॥

अर्थ-श्रेष्ठमनुष्योंके मुखसे हास्यमेंभी निकले हुए वाक्य शिलापर लिखित अक्षरोंके समान दृढ होते हैं, और नीच मनुष्योंके शपथपूर्वक कहे हुएभी वाक्य जलपर लिखित अक्षरोंके समान निष्फल होते हैं १२३

जानीयात्प्रेषणे भृत्यान्बांधवान्व्यसनागमे ॥
मित्रं चापत्तिकाले तु भार्यां च विभवक्षये ॥ १२४ ॥

अर्थ-कार्यके लिये भेजनेमें भृत्यकी, दुःखके आगमनमें बांधवोंकी, आपत्तिकालमें मित्रोंकी और ऐश्वर्यके क्षय होनेमें भार्याकी उत्तम, मध्यम, कनिष्ठता पहँचानी जाती है ॥ १२४ ॥

न विश्वसेत्कुमित्रे च मित्रे चापि न विश्वसेत् ॥
कदाचित्कुपिते मित्रे सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत् ॥ १२५ ॥

अर्थ-कुत्सित मित्रका तो विश्वास कभी न करै और सहजमित्रका भी विश्वास न करै, कारण ये दोनोंही किसी कालमें कुपित होजावै तो संपूर्ण गुह्यवार्ताको प्रकाश (प्रगट) कर देते हैं ॥ १२५ ॥

बहूनां चैव सत्त्वानां समुदायो रिपुंजयः ॥
वर्षाधाराधरो मेघस्तृणैरपि निवार्यते ॥ १२६ ॥

अर्थ-निर्बलभी बहुतसे सत्त्वोंका एकत्र होना शत्रुको जीतलेताहै जैसे कि, वर्षाकी धाराको धारण करनेवाला मेघ भी एकत्र किये हुए तृणोंसे निवृत्त कर दियाजाता है अर्थात् तृणोंके आच्छादन करनेसे मेघ उस स्थानको गीला नहीं करसक्ताहै ॥ १२६ ॥

नृपः कामासक्तो न गणयति कार्यं न च हितं यथेष्टं स्वच्छंदः प्रविचरति मत्तो गज इव ॥ ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने तदा भृत्ये दोषान् क्षिपति न निजं वेत्त्यविनयम् ॥ १२७ ॥

अर्थ-कामासक्त राजा अपने कार्य और हितको नहीं गिनताहै इच्छापूर्वक स्वतंत्र होकर मदोन्मत्त हस्तीके समान विचरताहै तदनंतर अभिमानका मारा हुआ वो जब घोर संकटमें पडताहै तब भृत्योंको दोष लगाने लगताहै परन्तु सर्व हानिकारक अपनी अयोग्यताको नहीं जानता ॥ १२७ ॥

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदालस्येन निर्भिद्यते ॥ निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतंत्रस्पृहा स्वातंत्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणांतिकं द्रुह्यति १२८॥

अर्थ-यदि राजा अपने राज्यमें एकही मंत्रिको मुख्य बनादे तो उसको मोहसे अहंकार होजाताहै और वह अधिकारके मदसे आलसी बनकर भेदकोभी प्राप्त होजाताहै भेदको प्राप्त होनेसे उसके हृदयमें स्वतंत्रताकी इच्छा अपना पद आरोपण करती है और फिर स्वातंत्र्यताकी इच्छासे वह मंत्री राजाके प्राणनाशके निमित्त द्रोह करता है ॥ १२८ ॥

यः कुर्यात् सचिवायत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ॥
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्संचारकैर्विना ॥ १२९ ॥

अर्थ-यदि जो राजा व्यसनासक्तिके कारण अपनी राज्यलक्ष्मीको मंत्रियोंके अधीन करता है वह राजा संचार करानेवालोंके विना जैसे अंधा पुरुष दुःख पाताहै उस प्रकार संसारमें दुःख भोगता है ॥१२९॥

धूर्त्तः स्त्री वा शिशुर्यस्य मंत्रिणः स्युर्महीपतेः ॥
अनीतिपवनोत्क्षिप्तः कार्याब्धौ स निमज्जति ॥ १३० ॥

अर्थ-जिस राजाके स्त्री, या बालक तथा धूर्त्तमनुष्य सलाहके देनेवाले मंत्रि होते हैं वह राजा निर्बुद्धि होके नीतिसे रहित होनेके कारण अनीतिरूपी प्रचंड वायुसे फेंकाहुवा कार्यरूपी समुद्रमें डूबजाताहै अर्थात् उसको कार्यअकार्यका ज्ञान नहीं रहता ॥ १३० ॥

दुर्मंत्रिणं कमुपयांति न नीतिदोषाः संतापयंति कमपथ्यभुजं न रोगाः॥ कं श्रीर्न दर्पयति कं न निहंति मृत्युः कं स्त्रीकृता न विषया ननु तापयंति ॥ १३१ ॥

अर्थ-दुष्टमंत्रियुक्त किस राजाको नीतिका दोष (अन्याय) प्राप्त नहीं होता, किस अपथ्यभोजीको रोग नहीं सताते और बढीहुई लक्ष्मी किसको घमंडयुक्त नहीं करती, मृत्यु किसको नहीं मारता, और स्त्रीके किये हुए हावभावयुक्त कटाक्ष किसको कामातुर नहीं करते, अर्थात् इन बातोंसे यह सब दोष उत्पन्न होतेही हैं ॥ १३१ ॥

प्रभुर्विवेकी धनवांश्च दाता विद्वान् विरागी प्रमदा सुशीला ॥ तुरंगमः शस्त्रनिपातधीरो भूमंडलस्याभरणानि पंच ॥ १३२ ॥

अर्थ-विचारवान् राजा, उदार धनाढ्य, पक्षपातरहित विद्वान्, पतिव्रता स्त्री और संग्राममें स्वामिको शस्त्रसे बचानेवाला व संग्राममें स्वामीकी इच्छाके अनुकूल शत्रुओंपर धावा करनेवाला अश्व ये पांचोंही भूमंडलके आभरण कहाते हैं ॥ १३२ ॥

योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किं मंत्री नृपेच्छया ॥
वरं स्वामिमनोदुःखं तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥ १३३ ॥

अर्थ-जो मंत्री राजाकी इच्छाके अनुकूल होके अकर्त्तव्य कार्य्यकोभी कर्त्तव्य समझ शिक्षा देने लगे वह क्या मंत्री कह-

लाताहै, नहीं मंत्री वो है कि, अकर्त्तव्य कार्यके रोकनेसे यदि अपने स्वामीका मन खेदित होजाय उसको तो श्रेष्ठ माने परंतु अकार्यके करनेसे अपने स्वामीकी हानिको श्रेष्ठ नहीं माने ॥ १३३ ॥

भोगस्य भाजनं राजा न राजा कार्यभाजनम् ॥
राजकार्यपरिध्वंसी मंत्री दोषेण लिप्यते ॥ १३४ ॥

अर्थ-कारण कि, राजा कार्यकी सिद्धिको भोगनेवाला होताहै कार्यका भागी नहीं इस कारण कार्याकार्यमें राजाकी इच्छाके अनुकूल वर्तके राज्यकार्यका हानिकारक मंत्रीही दोषित होताहै अर्थात् अपने पेट भरनेके निमित्त जो मंत्री राज्यकी हानिको नहीं सोचते वे दुष्ट कहलाते हैं उन दुष्ट मंत्रियोंकी संमतिसे राज्यकार्यमें हानि होती है १३४

वैद्यो गुरुश्च मंत्री च यस्य राज्ञः प्रियः सदा ॥
शरीरधर्मकोशेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ १३५ ॥

अर्थ-वैद्य, गुरु, मंत्री, ये तीनोंही जिस राजाके कार्यमें राजाकी इच्छाके अनुकूल सदा प्रिय बोलनेवाले हैं वह राजा शरीर, धर्म, कोश, इन तीनोंसे शीघ्रही नष्ट होजाताहै ॥ १३५ ॥

कृतघ्नायाकुलीनाय सज्जनैर्वर्जिताय च ॥
नैव दद्यात् पदं राजा चोत्तमं जातु पार्थिवः ॥ १३६ ॥

अर्थ-इस कारण राजाको चाहिये कि, (कृतघ्नी पर उपकारको नहीं माननेवाला) कुलहीन और सज्जनोंकी संगतिसे वर्जित ऐसे पुरुषको कदापि उत्तम अधिकार नहीं दे ॥ १३६ ॥

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हंतुमिच्छति ॥
मूषको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हंतुं समागतः ॥१३७॥

अर्थ-नीच मनुष्य उत्तम अधिकारको प्राप्त होकर अपने स्वामी-कोही हानि पहुँचानेकी इच्छा करता है। जैसे एक मुनिने दयाकरके

कागादिकोंके भयसे चूहेको बचाकर व्याघ्र करदिया तो वह चूहा व्याघ्रके अधिकारको प्राप्त होके उस महात्मा मुनिकोही मारनेके निमित्त उद्यत हुआ । यह कथा विस्तार पूर्वक हितोपदेशमें देखो ॥१३७॥

त्रिविधाः पुरुषा लोके ह्युत्तमाधममध्यमाः ॥
नियोक्तव्याः सदा राज्ञा त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ १३८ ॥

अर्थ–संसारमें उत्तम मध्यम और हीन तीन प्रकारके मनुष्य और तीनही प्रकारके कर्म होते हैं इस कारण राजाको चाहिये कि, उत्तम पुरुषको सदा उत्तम अधिकार पै, मध्यमको मध्यमपै और हीनको हीनपर नियुक्त करै ॥ १३८ ॥

अमंत्रमक्षरं नास्ति नास्ति मूलमनौषधम् ॥
अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ॥१३९॥

अर्थ–कोईभी अक्षर ऐसा नहीं जो मंत्रमें उच्चारण न किया जाय और कोईभी मूल (वनस्पत्यादि) ऐसा नहीं जो औषधिमें न लिया-जाय और कोइभी पुरुष ऐसा नहीं जो याग्य नहीं हो परंतु यथा-योग्य अधिकार पै नियुक्तकरनेवाला बुद्धिमान् पुरुषही दुर्लभ होता है ॥ १३९ ॥

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामो मंडनप्रियः ॥
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात् स्पष्टवक्ता न वंचकः ॥१४०॥

अर्थ–जिसको किसीविषयकी वांछा नहीं है वह किसी विषयके राज्यकार्यको अंगीकार नहीं करता, जो कामी नहीं है वह शरीरकी शोभा दिखलानेवाली वस्तुओंमें प्रीति नहीं रखता, जो चतुर नहीं है वह अपने मुखसे प्रियवाक्य नहीं निकालसक्ता, जो स्पष्ट (खरी) कहनेवाला है वह वंचक (ठग) नहीं होता ॥ १४० ॥

प्रलये भिन्नमर्यादा भवंति किल सागराः ॥
सागरा भेदमिच्छंति प्रलयेपि न साधवः ॥ १४१ ॥

अर्थ-समुद्रभी प्रलयमें अपनी मर्यादाको निश्चयही छोड देते हैं. देखो अगाध होनेपरभी समुद्र भेदित होते हैं, परंतु कुलीन मनुष्य प्राणांतपर्यंत अपने स्वामीसे भेदकी इच्छा नहीं करते अर्थात् प्रलयमें समुद्र भेदित होते हैं परन्तु महात्मा संकट पडनेपरभी भेदित नहीं होते ॥ १४१ ॥

एतदर्थं कुलीनानां नृपाः कुर्वंति संग्रहम् ॥
आदिमध्यावसानेषु न त्यजंति च ते नृपम् ॥ १४२ ॥

अर्थ-इस कारण राजालोग अपने पास कुलीन मनुष्योंका संग्रह करते हैं, वे सुख दुःख और प्राणांतमेंभी अपने स्वामीको नहीं त्यागते ॥ १४२ ॥

छिन्नोऽपि चंदनतरुर्न जहाति गंधं वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम् ॥ यंत्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान् कुलीनः ॥ १४३ ॥

अर्थ-जैसे चंदनका वृक्ष कटनेपरभी अपनी उत्तम सुगंधको नहीं त्यागता, वृद्ध गजराजभी अपनी गजोचित लीलाको नहीं छोडता यंत्र (कोल्हू-चरखी) में दूदनेसेभी गन्ना अपनी मधुरताको नहीं त्यागता वैसे ही क्षीण होनेपरभी कुलीन मनुष्य अपने उत्तमशील, गुणादिकोंको नहीं छोडता ॥ १४३ ॥

धीरस्यापि शिरश्छेदे वीरत्वं नैव मुंचति ॥
दीनस्यापि पदं दद्याद्धीनत्वं नैव मुंचति ॥ १४४ ॥

अर्थ-धीरतायुक्त कुलीन पुरुषका शिरच्छेदन होनेपरभी वीरताको नहीं त्यागता, जैसे लिपिमेंभी धीरशब्दके शिरका कोष्ठ (धीर+वीर) काटदेनेपरभी वीरही बनेगा, और दीन (अकुलीन कायर) पुरुषको उत्तम अधिकार देनेसेभी हीनता (ओछेपन) को नहीं त्यागता जैसे लिपिमेंभी दीन शब्दके दकारमें (दीन+हीन) एकपद अधिक लगानेसेभी हीनही बनेगा इसीसे कुलीनोंको संग्रह करनाही उत्तम है १४४ ॥

साक्षरा विपरीताश्चेद्राक्षसा एव केवलम् ॥
सरसो विपरीतश्चेत्सरसत्वं न मुंचति ॥ १४५ ॥

अर्थ-यदि विद्वान् मनुष्योंका चालचलन शास्त्रमर्यादासे बाह्य हो जाय तो उनको केवल राक्षसही समझना चाहिये जैसे लिपिमें साक्षरा शब्दको उलटा पढनेसे (साक्षराः-राक्षसाः) राक्षस शब्द बनजाता है और शास्त्रमर्यादामें चलनेवाला विद्यावान् कुलीन विपरीतभी होजाय तथापि अपनी कर्तव्यता (स्वामिसेवा) को नहीं त्यागता जैसे सरस शब्दके विपरीत (सरसः सरसः) पढनेसेभी सरसही होगा १४५

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनताप-
पताडनैः ॥ तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते श्रुतेन
शीलेन कुलेन कर्मणा ॥ १४६ ॥

अर्थ-सुवर्ण सोनाके परीक्षक सुवर्णको (कसोटी लगाकर १ काटकर २ अग्निमें तपाकर ३ चोट देकर ४) इन चार परीक्षाके द्वारा अंगीकार करते हैं वैसेही राजाको उचित है कि, विद्याभ्यास तथा शास्त्रवेत्ता उत्तमजनोंकी संगति १ व मन वचन और शरीरसे संपूर्ण प्राणियोंसे अद्रोह २ उत्तम कुलमें जन्म ३ कर्तव्यकर्मोंका आचरण ४ इन चार प्रकारकी परीक्षाद्वारा पुरुषोंकी परीक्षा करके यथायोग्य अधिकारपै नियुक्त करे ॥ १४६ ॥

दौर्मन्त्र्यान्नृपतिर्विनश्यति यतिः संगात् सुतो लाल-
नाद्विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलो-
पासनात् ॥ ह्रीर्मद्यादनवेक्षणादपि कृषिः स्नेहः
प्रवासाश्रयान्मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्त्यागात्
प्रमादाद्धनम् ॥ १४७ ॥

अर्थ–दुष्ट मंत्रियोंकी सम्मातिसे राजाका राज्य, कुसंगतिसे जितें-द्रियपुरुषका महत्त्व, अत्यंत लालन (लडाने) से पुत्रका, विद्याभ्यासादि, और विद्याभ्यासके विना ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, दुष्टपुत्रके जन्मनेसे कुलका महत्त्व, अकुलीन मनुष्योंकी संगतिसे शीलस्वभावादि, मद्य पीनेसे शारीरक या कुलोचित लज्जा, अवलोकनके विना कृषि, प्रवास (विदेश) सेवन करनेसे प्रीति, ढीठतासे मित्रता, अन्यायसे समृद्धि और अतिव्ययसे या प्रमादसे धन नष्ट होजाता है इस कारण उपरोक्त कार्योंको विचारपूर्वक करना चाहिये ॥ १४७ ॥

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ॥
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥ १४८ ॥

अर्थ–धूर्तमनुष्य अपनी उन्नतिके निमित्त राजाको अनेक प्रकारसे दुराचारी करडालते हैं दुष्टोंका संग अग्निके समान क्या नहीं करता अर्थात् अग्नि अपनी वृद्धिके निमित्त अपने आश्रयकोभी जलादेती है इसीसे राजाको उचित है कि, धूर्त्तोंसे बचै ॥ १४८ ॥

हीनसेवा न कर्तव्या कर्तव्यो महदाश्रयः ॥
पयोपि शौंडिकी हस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥ १४९ ॥

र्थ–हीन मनुष्योंकी संगति नहीं करनी चाहिये महत्पुरुषोंका आश्रय करना श्रेष्ठ होताहै नीचकी संगति करनेसे उत्तमभी नीचत्वको प्राप्त होताहै, जैसे शौंडिकी (कलालनी) के हाथमें दुग्धका पात्रभी मदिराही कहलाती है ॥ १४९ ॥

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ॥
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोपि हितो जनः ॥ १५० ॥

अर्थ–अपने स्वामीके हितकी इच्छा करनेवाला मनुष्य आपत्तिकालमें तथा कुमार्ग (कुलरीतिको छोड) के चलनेमें तथा कार्यका समय उल्लंघन होनेमेंभी बेपूछे हितकारी बात बोले ॥ १५० ॥

अयुक्तं स्वामिनो युक्तं युक्तं नीचस्य दूषणम् ॥
अमृतं राहवे मृत्युर्विषं शंकरभूषणम् ॥ १५१ ॥

अर्थ-अयोग्यभी वस्तु समर्थको योग्यही होती है और दुर्जनको योग्य वस्तुभी अयोग्य होजाती है, जैसे अमरत्वको देनेवाला अमृतपान राहुको मृत्युकारक और मृत्युका देनेवाला विष महादेवके भूषण हुआ ॥ १५१ ॥

असंतुष्टा द्विजा नष्टाः संतुष्टाश्च महीभृतः ॥
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलांगनाः ॥ १५२

अर्थ-जिसको संतोष नहीं ऐसा ब्राह्मण, सेनाआदिके और द्रव्य उपार्जन वा सीमा बढानेमें संतोषी राजा, लज्जावती वेश्या और विना लज्जा कुलीन स्त्री ये नष्ट गिनेजाते हैं ॥ १५२ ॥

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च ॥
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥ १५३ ॥

अर्थ-धनधान्यके लेनदेनमें तथा शास्त्रोक्त यज्ञादिके प्रयोगोंमें, विद्या वा कला आदिकोंके अभ्यासमें भोजन करनेमें तथा पुत्रादिकोंके संबंधादिव्यवहारमें सर्वदा संदेह रहित अर्थात् खुलासा करके कार्य करनेवाला मनुष्य सुख भोगताहै ॥ १५३ ॥

षडेतान् पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ॥ अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ १५४ ॥ अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ॥ ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ १५५ ॥

अर्थ-अपनी उन्नतिकी इच्छा करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि, अपने शिष्योंके कर्तव्य कर्मोंके उपदेश करनेमें असमर्थ आचार्य (पुरोहित) को और कर्मकांड करानेकी विधिमें हीन ऋत्विज (कर्मांतरी) को और प्रजाकी रक्षा करनेमें असमर्थ राजाके राज्यको, कटुवचन बोल-

नेवाली भार्याको और ग्राममें रातदिन रहनेकी इच्छा करनेवाले गोपाल (गवालिया) को और रातदिन वनमें निवास करनेवाले नापित (नाई) को जलके तरनेमें टूटी नावकी समान छोडदेना चाहिये अर्थात् अपनी कुशलता चाहनेवाला मनुष्य जलके तरनेमें जैसे टूटी नावको छोड देता है वैसेही उक्त आचार्य आदिको भी छोडदे ॥ १५४ ॥ १५५ ॥

राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः ॥
भर्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा ॥१५६॥

अर्थ-प्रजामें अधर्मकी प्रवृत्तिको नहीं रोकनेवाला राजा प्रजाके पापका भागी होता है और राजाको अधर्मसे नहीं रोकनेवाला पुरोहित राजाके कियेहुए पापोंका भागी होताहै और स्त्रीको स्वतंत्रता देनेसे पतिभी स्त्रीके किये हुए अपराधोंका भागी होताहै वैसेही शिष्यको कुशिक्षा देनेवाला गुरुभी शिष्यके कियेहुए पापका भागी होताहै ॥ १५६ ॥

वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभो वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलवधूः ॥ वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानामुपगमः ॥१५७ ॥

अर्थ-वृषभके बिना शाला (गोठ) शून्य रहनी श्रेष्ठ है, परंतु दुष्टवृषभ बंधा रहना अच्छा नहीं, वेश्याको स्त्री कर लेना श्रेष्ठ है, परंतु स्त्री योग्य (अर्थात् उत्तम) शिक्षारहित कुलवतीभी श्रेष्ठ नहीं, वनमें वास करना श्रेष्ठ है, परंतु उत्तम विचारशून्य मूर्खराजाके राज्यमें रहना श्रेष्ठ नहीं । प्राण त्यागदेना श्रेष्ठ है, परंतु दुष्टोंकी संगति करना श्रेष्ठ नहीं ॥ १५७ ॥

वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं वरं क्लैब्यं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ॥ वरं प्राणत्यागो

न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचिर्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥ १५८ ॥

अर्थ-चुपचाप बैठ रहना श्रेष्ठ है, परंतु अनृत भाषण करना श्रेष्ठ नहीं । पुरुषोंका नपुंसक होना श्रेष्ठ है, परंतु परस्त्री गमन करना श्रेष्ठ नहीं । प्राण त्यागदेना श्रेष्ठ है, परंतु किसीकी चुगली करना श्रेष्ठ नहीं । भिक्षा मांगके भोजन करना श्रेष्ठ है, परंतु परधनको चुराके सुस्वादित भोजन करना श्रेष्ठ नहीं ॥ १५८ ॥

नीतिर्भूमिभुजां नतिर्गुणयुतां ह्रीरंगनानां रतिर्दंपत्योः शिशवो गृहस्य कविता बुद्धेः प्रसादो गिराम् ॥ लावण्यं वपुषः श्रुतं सुमनसः शांतिर्द्विजस्य क्षमा शक्तस्य द्रविणं गृहाश्रमवतः स्वास्थ्यं सतां मंडनम् ॥ १५९ ॥

अर्थ-नीतिमें चलना राजाओंका, नम्रता रखना गुणवानोंका, लज्जा स्त्रियोंका, प्रीति स्त्रीपुरुषोंका, बालक गृहका, कविता बुद्धिका, प्रसन्नतासे बोलना वाणीका, लावण्यता शरीरका, शास्त्राभ्यास करके मनन करना मनका, शांति ब्राह्मणोंका, क्षमा समर्थोंका, धन गृहस्थियोंका, स्वास्थ्य श्रेष्ठमनुष्योंका स्वाभाविक आभूषण कहा है ॥ १५९ ॥

कार्पण्येन यशः क्रुधा गुणचयो दंभेन सत्यं क्षुधा मर्यादा व्यसनैर्धनं च विपदा स्थैर्यं प्रमादैर्द्विजः ॥ पैशुन्येन कुलं मदेन विनयो दुश्चेष्टया पौरुषं दारिद्र्येण जनादरो ममतया चात्मप्रकाशो हतः ॥ १६० ॥

अर्थ-कृपणता (कंजूसी) रखनेसे यश, क्रोधसे गुणका समुदाय, कपटसे सत्यता, भूखसे कुलकी मर्यादा, व्यसनोंसे धन, विपदासे स्थिरता, प्रमादसे ब्राह्मणता, परनिंदासे कुलका महत्त्व, गर्वसे नम्रता,

कुचेष्टा (परस्त्री गमनादि) से पुरुषार्थ, दरिद्रतासे आदरसत्कार और घमंडसे बुद्धिका प्रकाश नष्ट होजाताहै ॥ १६० ॥

अर्थी लाघवमुच्छ्रितो निपतनं कामातुरो लांछनं निःस्वो वंचनमुन्मना विकलतां दोषाकुलः संशयम् ॥ लुब्धो कीर्तिमसंगरः परिभवं दुष्टोऽन्यदोषे रतिं दुर्वागप्रियतां दुरोदरवशः प्राप्नोति कष्टं मुहुः ॥ १६१ ॥

अर्थ–अर्थी (किसी विषयकी याचना करनेवाला) लघुताको, अत्यंत उन्नति पाके ऊर्ध्वमुख चलनेवाला तिरस्कारको, कामातुर (परस्त्रीगमन करनेवाला) रोगादिक तथा अकीर्तिरूप लांछनको, निर्धनमनुष्य वंचनताको, उदासीन मनवाला विकलताको, अनेकदोषोंसे युक्त संशयको, लोभी अपयशको, कायर पराजयको, दुर्जन श्रेष्ठमनुष्योंमें दोषारोपण करनेको, अप्रिय बोलनेवाला वैरभावको और द्यूत खेलनेवाला वारंवार कष्टको प्राप्त होताहै ॥ १६१ ॥

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः स्त्रीभिः कस्य न खंडितं भुवि मनः को नाम राजप्रियः ॥ कः कालस्य न गोचरांतरगतो कोर्थी गतो गौरवं को वा दुर्ज्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ॥ १६२ ॥

अर्थ–निर्धन धनाढ्य होके कौन घमंडी न हुआ, किस विषयासक्त मनुष्यकी विपत्ति नष्ट हुई, पृथ्वीपैं किस मनुष्यका मन स्त्रीने खंडित न किया, प्रसिद्ध देखा जाय तो कौन मनुष्य जन्मभर राजाका प्रिय हुआ, जन्म लेके कौन मृत्युके वश नहीं हुआ, कौन याचकने अपनी गौरवता (बडप्पन) बढाई, कौन मनुष्य दुष्टमनुष्योंकी संगतिरूप जालमें पडके कुशलपूर्वक निकला (अर्थात् कोई भी नहीं)॥ १६२॥

किं चित्रं यदि राजनीतिकुशलो राजा भवेद्धार्मिकः किं चित्रं यदि वेदशास्त्रनिपुणो विप्रो भवेत् पंडितः ॥

तच्चित्रं यदि रूपयौवनवती साध्वी भवेत् कामिनी
तच्चित्रं यदि निर्धनोपि पुरुषः पापं न कुर्यात्
क्वचित् ॥ १६३ ॥

अर्थ—राजनीतिमें कुशल राजा धर्मिष्ठ होना क्या आश्चर्य है, और वेदादि सत् शास्त्रोंमें निपुण ब्राह्मणका पंडित होना क्या आश्चर्य है। आश्चर्य वह है कि यदि रूपयौवनवती स्त्री पतिव्रता होना और आश्चर्य वो है कि यदि दरिद्री पुरुषभी कदापि पापका आचरण नहीं करै ॥ १६३ ॥

नदीतीरे च ये वृक्षा या च नारी निरंकुशा ॥
मंत्रिहीनाश्च राजानः शीघ्रं नश्यंत्यसंशयः ॥ १६४ ॥

अर्थ—नदीके तीरके वृक्ष और स्वतंत्र स्त्री और श्रेष्ठ मंत्रियोंसे हीन राजा शीघ्रही नष्ट होजाते हैं ॥ १६४ ॥

बलं विद्या च विप्राणां राज्ञां सैन्यं परं बलम् ॥
बलं वित्तं च वैश्यानां शूद्राणां च कनिष्ठिका ॥ १६५ ॥

अर्थ—ब्राह्मणोंका परम बल विद्या, और राजाओंका परम बल सेना, और वैश्योंका बल धन और शूद्रोंका बल उत्तमजनोंकी सेवा कहा है ॥ १६५ ॥

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च
भार्या ॥ पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाग्निना
षट् प्रदहंति कायम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—कुत्सित ग्राममें निवास, कुलहीन मनुष्यकी सेवा, कुभोजन (रूखाबासी तथा अपथ्यकारी), कलहकारिणी स्त्री, विद्याहीन पुत्र और विधवा कन्या, ये छः अग्निके विनाही शरीरको दहन करदेते हैं ॥ १६६ ॥

आलस्योपहता विद्या परहस्तगतं धनम् ॥
अल्पबीजं हतं क्षेत्रं हतं सैन्यमनायकम् ॥ १६७ ॥

अर्थ–आलसी मनुष्यकी पढीहुई विद्या नष्ट होजातीहै, दूसरेके हाथमें जानेसे धन निरर्थक होजाताहै, बीजकी न्यूनतासे खेतकी उपज नष्ट होजाती है; और सेनाध्यक्ष (सेनापति) के विना सेना किसी कामकी नहीं होती ॥ १६७ ॥

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः ॥
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात् परं सुखम् १६८

अर्थ–कामके समान कोई व्याधि नहीं, मोहके समान कोई शत्रु नहीं, क्रोधके तुल्य कोई अग्नि नहीं, और ज्ञानसे उत्कृष्ट कोई सुख नहीं ॥ १६८ ॥

अतिरूपेण वै सीता ह्यतिगर्वेण रावणः ॥
अतिदानाद्बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्ज्जयेत् ॥ १६९ ॥

अर्थ–अतिरूपके कारण सीता हरीगई, अति घमंडसे रावण मारा गया; और अतिदान देनेसे राजा बलि बंधनको प्राप्त हुआ, इसी कारण अति सर्वत्र वर्जनीय है ॥ १६९ ॥

अध्वा जरा मनुष्याणां वाजिनां बंधनं जरा ॥
अमैथुनं जरा स्त्रीणां वस्त्राणामातपो जरा ॥ १७० ॥

अर्थ–रातदिन पैदल मार्ग चलना मनुष्योंके निमित्त बुढापा है, सदा बंधनमें रखना अश्वोंके लिये बुढापा है, पुरुषका संयोग नहीं करना स्त्रियोंके लिये बुढापा है, और धूपमें रखना वस्त्रोंके लिये बुढापा है ॥ १७० ॥

तृणं ब्रह्मविदः स्वर्गस्तृणं शूरस्य जीवितम् ॥
जिताक्षस्य तृणं नारी निस्पृहस्य तृणं जगत् ॥ १७१ ॥

अर्थ-ब्रह्मज्ञानीको स्वर्ग तृणके समान है, शूरवीर जीवनको तृणके तुल्य मानता है, जिसने इंद्रियोंको अपने वशीभूत किया उसको स्त्री तृणके समान दीखती है, वैसेही संपूर्ण इच्छासे रहित मनुष्यको यह जगत् भी तृणके समान प्रतीत होता है ॥ १७१ ॥

जनिता चोपनीता च यश्च विद्यां प्रयच्छति ॥
अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरः स्मृताः ॥ १७२ ॥

अर्थ-जन्म देनेवाला, यज्ञोपवीतादि संस्कार करानेवाला, और विद्या पढानेवाला और अन्न देनेवाला तथा भयसे रक्षा करनेवाला इन पांचोंकोही शास्त्रकारोंने पिता कहाहै ॥ १७२ ॥

अत्यासन्ना विनाशाय दूरतो न फलप्रदाः ॥
सेव्यतां मध्यभावेन राजवह्निगुरुस्त्रियः ॥ १७३ ॥

अर्थ-अत्यंत सांनिध्य (निकट) रहनेसे किसी कालमें विनाशका हेतु होते हैं और अत्यंत दूर रहनेपर कभी फलदाई नहीं होते, इस कारण बुद्धिमान्को चाहिये कि राजा, अग्नि, गुरु और स्त्री इनको मध्यभावसे सेवन करे ॥ १७३ ॥

दूरस्थोपि न दूरस्थो यो यस्य मनसि स्थितः ॥
यो यस्य हृदये नास्ति समीपस्थोपि दूरतः ॥ १७४ ॥

अर्थ-जो जिसके मनमें स्थित है वह दूर निवास करनेपर भी दूर नहीं है और जो जिसके मनमें नहीं रहता वह समीप रहनेपर भी अत्यंत दूरके समान है ॥ १७४ ॥

यदि ते हृदयं विद्वन् सुनयं स्वप्नेपि मा सेविष्ठाः ॥
सचिवजितं षंढजितं युवतिजितं च राजानम् ॥ १७५ ॥

अर्थ-हे बुद्धिमान् मनुष्यो ! यदि तुम्हारा मन श्रेष्ठ न्यायमार्गमें चलनेवाला है तो कर्मचारियोंके वशीभूत वा नपुंसकके वशीभूत तथा स्त्रियोंके वशीभूत ऐसे राजाकी सेवा स्वप्नमें भी मत करो ॥ १७५ ॥

यो यस्य नो वेत्ति गुणप्रवाहं स तस्य निंदां सततं करोति ॥ यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुंजाम् ॥ १७६ ॥

अर्थ–जो जिसके गुणोंको नहीं जानता वह उसकी निश्चय निंदा करताहै। जैसे वनमें रहनेवाली भिल्लजातिकी स्त्री सिंहके पंजोंसे विदीर्ण गजराजके मस्तकसे निकले हुए गजमोतियोंको कंकर समझकर छोडके अपने आभूषण बनानेके निमित्त गुंजा (श्वेतचरमू–चौंटली) को एकत्र करके हार बनाय धारण करती है ॥ १७६ ॥

संतस्तृणोत्तारणमुत्तमांगात् सुवर्णकोट्यर्पणमामनंति ॥ प्राणव्ययेनापि कृतोपकाराः खलाः परे वैरमिहोद्वहंति ॥ १७७ ॥

अर्थ–उत्तम मनुष्य अपने शिरसे तृणमात्रभी दूर करनेके उपकारको कोटि सुवर्ण (क्रोड) मोहर देनेके समान मानते हैं और दुर्जनमनुष्यके उपकारार्थ प्राण देदेनेसेभी वह दुष्ट तो प्राणांत उपकारको छोडके उलटा अपने उपकार करनेवालेसे वैरही करताहै॥१७७॥

दुर्जनो दोषमादत्ते दुर्गंधिमिव शूकरः ॥
सज्जनस्तु गुणग्राही हंसः क्षीरमिवांभसि ॥ १७८ ॥

अर्थ–दुष्ट मनुष्य उत्तम गुणोंको त्यागकर सबके दोषोंको अंगीकार करताहै, जैसे संपूर्ण वनस्पतिआदि उत्तम पदार्थोंको छोडकर ग्रामशूकर दुर्गंधिकोही भक्षण करताहै और उत्तम मनुष्य तो पराये अवगुणोंको छोडके गुणोंकोही अंगीकार करते हैं । जैसे जल और दूधको मिलानेपरभी हंस जलको छोडके दुग्धमात्रही पान करताहै ॥ १७८ ॥

आक्रोशितोपि सुजनो न वदत्यवाच्यं निष्पीडितो

मधुरसुद्वमतीक्षुदंडः॥नीचो जनो गुणशतैरपि सेव्य-
मानो हास्येन यद्ददति तत् कलहेऽप्यवाच्यम्॥१७९॥

अर्थ—आक्षेपपूर्वक वाक्य कहनेपरभी उत्तम मनुष्य अपने मुखसे कुवाक्य कभी नहीं निकालते । जैसे चरखीमें देनेपरभी गन्ना मधुर-रसही देताहै, और अनेक गुणोंसे सेवन कियाहुआभी दुष्ट मनुष्य तो जो क्लेशमेंभी कहने योग्य नहीं वह वचन हास्यमेंही कहदेताहै । या जो हास्यमें वचन कहदेताहै वह क्लेशमेंभी कहने उचित नहीं है ॥ १७९ ॥

गुणायंते दोषाः सुजनवदने दुर्ज्जनमुखे गुणा दोषा-
यंते तदिदमपि नो विस्मयपदम् ॥ महामेघः क्षारं
पिबति कुरुते वारि मधुरं फणी क्षीरं पीत्वा वमति
गरलं दुःसहतरम् ॥ १८० ॥

अर्थ—श्रेष्ठ मनुष्यके मुखसे दूषित वाक्यभी गुणरूप होकर निकलते हैं और दुष्ट मनुष्यके मुखसे गुणयुक्त वाक्यभी दोषरूपी होके निकलते हैं, यह विस्मयजनक नहीं है, कारण कि, महामेघ समुद्रके क्षारयुक्त जलको पान करके वर्षासमयमें उसी जलको मधुर (मीठा) करके बरसाता है, और सर्प अमृतके समान मधुर दुग्धको पीकर अपने मुखसे उसी दुग्धको भयानक विष करके उगलता है ॥ १८० ॥

संसारविषवृक्षस्य द्वे फले ह्यमृतोपमे ॥
सुभाषितं च सुस्वादु संगतिः सुजने जने ॥ १८१ ॥

अर्थ—संसाररूप विषवृक्षके दो फल अमृततुल्य हैं, एक तो सुभाषित (मीठा) वचन, दूसरा श्रेष्ठ पुरुषोंका सत्संग इन दोनों अमृतरूपी फलोंको मनुष्य ग्रहण करे या संसाररूप विषवृक्षके अत्यंत स्वादिष्ठ एक तो सुभाषित (मीठा वचन) और दूसरा श्रेष्ठ जनोंकी संगति रूप ये दोनोंही अमृतके समान फल लगते हैं इन फलोंको बुद्धिमान्ही अंगीकार करते हैं ॥ १८१ ॥

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः ॥
सर्प एकाकिनं हंति खलः सर्वविनाशकृत् ॥ १८२ ॥

अर्थ–एक तो सर्प क्रूर होताहै दूसरा दुर्जनभी क्रूर ही होताहै इनमें सर्पसेभी दुर्जन अत्यंत क्रूर होताहै कारण कि, सर्प जिस मनुष्यको डसताहै वह एकही मृत्युको प्राप्त होताहै और दुष्ट जिसपर कोप करता है उसका सर्वस्व नष्ट करदेता है ॥ १८२ ॥

अहो बत विचित्राणि चरितानि महात्मनाम् ॥
लक्ष्मीं तृणाय मन्यंते तद्भारेण नमंति च ॥ १८३ ॥

अर्थ–अहो महात्माओंके चरित्र बडेही विचित्र हैं कि, लक्ष्मीको तृणके समान मानते हैं और ऐश्वर्यके बढनेपर उसी लक्ष्मीके भारसे नम्र होजाते हैं ॥ १८३ ॥

संपदि महतां चित्तं भवेदुत्पलकोमलम् ॥
आपत्सु च महाशैलशिलासंघातकर्कशम् ॥ १८४ ॥

अर्थ–महत् पुरुषोंके चित्त ऐश्वर्य बढनेके समयमें कमलके पुष्पकी समान कोमल होजाते हैं और आपत् कालके समयमें महान् पर्वतकी शिलासमूहके समान कठोरभावको धारण करलेते हैं अर्थात् ऐश्वर्य बढनेके समय गर्वित और विपत्तिके समय कायर नहीं होते ॥ १८४ ॥

मनीषिणः संति न ते हितैषिणो हितैषिणः संति न ते मनीषिणः ॥ सुहृच्च विद्वानपि दुर्लभो नृणां यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम् ॥ १८५ ॥

अर्थ–जो बुद्धिमान् हैं वे हितकारी नहीं होते जो हितैषी हैं वे बुद्धिमान् नहीं हैं मनुष्योंमें बुद्धिमान् होकर परहित करना बडा दुर्लभ है जैसे रोगनाशक औषधिका स्वादिष्ट होना दुर्लभ है ॥ १८५ ॥

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविह-

ता विरमंति मध्याः ॥ विघ्नैः पुनः पुनरपि परिहन्य-
मानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजंति ॥ १८६ ॥

अर्थ–विघ्न होनेके भयसे बुद्धिहीन दुष्ट मनुष्य कार्यका प्रारंभही नहीं करते और मध्यम पुरुष आरंभ करके विघ्न होनेपर कार्य छोड बैठते हैं और वारंवार विघ्न होनेपर भी उत्तम मनुष्य प्रारंभ किये हुए कार्यको समाप्तिपर्यंत कभी नहीं छोडते अर्थात् सिद्ध करलेते हैं १८६॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके शिरःशूलकरावपि ॥
गृहस्थश्च निरारंभी यतिश्च सपरिग्रहः ॥ १८७ ॥

अर्थ–गृहस्थी होके निरारंभ होना और संन्यस्त होके विविध सामग्रीको एकत्र करना, ये दोनोंही मनुष्य इस संसारमें शिरके शूल करनेवाले हैं अर्थात् अत्यंत निंदाके योग्य हैं ॥ १८७ ॥

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ॥
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरपि ॥ १८८ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि, प्रतिदिन अपने किये हुए कर्मोंका अवलोकन करे कि, मेरे किये हुए कर्म पशुकर्मोंके समान हैं वा श्रेष्ठ मनुष्योंके कर्तव्यके योग्य हैं ॥ १८८ ॥

बुधाग्रे न गुणान् ब्रूयात्साधु वेत्ति यतः स्वयम् ॥
मूर्खाग्रेपि च न ब्रूयाद् बुधप्रोक्तान् न वेत्ति सः १८९॥

अर्थ–बुद्धिमानोंके आगे अपने गुणोंके कहनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि बुद्धिमान् गुणवान्को स्वयं अच्छी प्रकार पहँचानलेते हैं और मूर्खके सन्मुखभी अपने गुणोंको नहीं कहना चाहिये क्योंकि मूर्ख ज्ञानवान्के भाषित गुणोंको नहीं जानसकता ॥ १८९ ॥

प्रायः संत्युपदेशार्हा धीमंतो न जडाशयाः ॥
तिलाः कुसुमसौगंध्यं वाहिनो न यवाः क्वचित् ॥ १९० ॥

अर्थ-बुद्धिमान्ही निश्चयकरके उपदेश देनेके योग्य होते हैं मूर्ख उपदेशके योग्य नहीं होता (अर्थात् बुद्धिमान्को उपदेश देना चाहिये मूर्खको नहीं) क्योंकि तिलोंको पुष्पोंके संग एकत्र करनेसे तिल पुष्पोंकी सुगंधिको धारण करलेते हैं, और जवोंको पुष्पोंके संग एकत्र करनेपरभी कदापि सुगंधिको धारण नहीं करते अर्थात् चमेलीके पुष्पोंमें तिलोंको रखके फिर निकालके तैल निकालनेसे चमेलीका तैल बनता है वैसे यवोंका चमेलीपिष्ट नहीं बनता ॥ १९० ॥

उपकारश्चापकारो यस्य व्रजति विस्मृतिम् ॥
पाषाणहृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा ॥१९१॥

अर्थ-जिस मनुष्यके मनमें पराया किया उपकार और अपकार विस्मरण होजाय उस पाषाणरूपहृदयवाले मनुष्यको जीवित कहना वृथा है अर्थात् वह मरा हुआ है ॥ १९१ ॥

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ॥
लोचनाभ्यां विहीनश्चेद्दर्पणः किं करिष्यति ॥१९२॥

अर्थ-जिसकी बुद्धि स्वयं उत्कृष्ट नहीं है उसको शास्त्राभ्यासादि किंचित् भी कार्यदायी नहीं होते अर्थात् जिसमें सर्वथा बुद्धिही नहीं उसको शास्त्र क्या करेगा यदि मनुष्य अंधा हो तो उसके नेत्रोंमें चष्मा लगानेसे चष्माका काच क्या दिखासकता है यानि नेत्रहीनको दर्पणके समान निर्बुद्धिको शास्त्र क्या करसकता है ॥ १९२ ॥

देशाटनं पंडितमित्रता च वारांगना राजसभाप्रवेशः ॥
अनेकशास्त्राणि विलोकितानि चातुर्यमूलानि भवंति पंच ॥ १९३ ॥

अर्थ-देशाटन करना, पंडितोंसे मित्रता रखनी और वेश्याका चरित्र देखना, राजसभामें जाना और अनेक शास्त्रोंको पढना तथा श्रवण करना ये पांचोंही चातुर्यताके मूल हैं अर्थात् देशाटन करनेसे अनेक

प्रकारकी वार्ता जाननेमें आती हैं और पंडितोंकी मित्रतासे इस लोक तथा परलोकके व्यवहारको जानलेताहै; और वेश्या हाव भाव कटाक्ष करके संपूर्ण मनुष्योंके मन हरनेमें चतुर होती है परंतु वेश्याके चरित्रको देखके जिसका मन चलायमान नहीं होता वह कहीं भी कुकृत्यपै चलायमान नहीं होगा और राजसभामें जानेसे अनेक प्रकारकी वार्ता करनेकी चातुर्यता आती है, और अनेक शास्त्रोंके श्रवण करनेसे तथा देखनेसे धर्मादि अनेक पदार्थोंका निश्चय होताहै ॥ १९३ ॥

अनेकाश्च तथा धर्माः पदार्थाः पशवो नराः ॥
देशाटनात् स्वानुभूताः पर्वता देशरीतयः ॥ १९४ ॥

अर्थ–अनेक प्रकारके धर्म, पदार्थ, पशु, नर, पर्वत, देशोंकी रीतियें ये सब देशाटन करनेसे जानेजाते हैं ॥ १९४ ॥

वेश्या तथाविधा वापि वशीकर्तुं नरं क्षमा ॥
नेयात्कस्य वशं तद्वत्स्वाधीनं कारयेज्जगत् ॥ १९५ ॥

अर्थ–वेश्या प्रियवादिनी होके भी किसीके वशीभूत नहीं होती और किस प्रकार मनुष्योंको अपने वश करलेनेमें समर्थ होती है वैसेही स्वयं किसीकेभी वशी न होवै और सब जगत्को अपने वशमें करै अर्थात् वेश्या प्रियवाक्य आदिसे सबको अपने वशमें करलेती है परंतु वेश्याके हावभाव आदिसे भी जिसका मन चलायमान नहीं होता वह कहां भी नहीं ठगाता इसी गुणको ग्रहण करनेके निमित्त शास्त्रकारोंने वारांगनाको चातुर्यका मूल कहा है ॥ १९५ ॥

कीदृशा राजपुरुषा न्यायान्यायौ च कीदृशौ ॥
मिथ्याविवादिनः के च के वै सत्यविवादिनः ॥ १९६ ॥

कीदृशी व्यवहारस्य प्रवृत्तिः शास्त्रलोकतः ॥
समागमनशीलस्य तद्विज्ञानं प्रजायते ॥ १९७ ॥

अर्थ–राजाके कार्यकारी पुरुष कैसे हैं और राजसभामें न्याय या अन्याय किस प्रकार होताहै और कौन मिथ्या विवाद करनेवाला है

और कौन सत्यवादी है शास्त्र और लोककी रीतिसे व्यवहारकी प्रवृत्ति कैसी है राजसभामें जानेवाला इत्यादि वार्ताको जान सकता है ॥ १९६ ॥ १९७ ॥

नाहंकारी च धर्मान्धः शास्त्राणां तत्त्वचिन्तकः ॥
एकं शास्त्रमधीयानो न विद्यात्कार्यनिर्णयम् ॥१९८॥
स्याद्बह्वागमसंदर्शी व्यवहारो महान्यतः ॥
बुद्धिमानभ्यसेन्नित्यं बहुशास्त्राण्यतंद्रितः ॥
तदर्थं तु गृहीत्वापि तदधीनो न जायते ॥ १९९ ॥

अर्थ—शास्त्रोंके तत्त्वको जाननेवाला मनुष्य अहंकारी और धर्म अधर्मके जाननेमें अंधा नहीं होता एकही शास्त्रके पढनेवाला सब प्रकारके व्यवहार और धर्मोंको नहीं जानसकता इसीसे मनुष्यको चाहिये कि, अनेक प्रकारके शास्त्रोंको पढै कारण कि, अनेक शास्त्रोंके पढनेसे अनेक प्रकारके व्यवहारोंको प्रगट करसकता है इसीसे बुद्धिमान् आलस्यको छोडके अहर्निश अनेकशास्त्रोंका अभ्यास करै और उन शास्त्रोंके सारांशको स्वीकार करके भी उनके अधीन नहीं होता अर्थात् अनेक शास्त्रोंके जाननेवाला विविध धर्मोंके देखनेसेभी अपने धर्मको नहीं त्यागता ॥ १९८ ॥ १९९ ॥

शास्त्रं सुचिंतितमपि परिचिंतनीयं स्वाराधितोपि
नृपतिः परिशंकनीयः ॥ अंके स्थितापि युवतिः परि-
रक्षणीया शास्त्रे नृपे च युवतौ च कुतो वशित्वम् २००

अर्थ—शास्त्रको अच्छी रीतिसे पढा हो तथापि उसको वारंवार विचारना चाहिये, क्योंकि अनेक बार पढनेसेभी शास्त्रकी संपूर्ण वार्ता नहीं जानीजाती, और अपने पर अत्यंत प्रसन्न राजासेभी डरना चाहिये, क्योंकि राजा किसीका मित्र नहीं होता, अंकमें स्थित युवतीकोभी रक्षा करनी चाहिये क्योंकि शास्त्र, राजा और स्त्रियें किसीके भी वशीभूत नहीं होते ॥ २०० ॥

सुकुलजन्म विभूतिरनेकधा प्रियसमागम इष्टपरं-परा ॥ नृपकुले गुरुणा विमलं यशो भवति पुण्य-तरोः फलमीदृशम् ॥ २०१ ॥

अर्थ–श्रेष्ठ कुलमें जन्म, अनेक प्रकारकी उत्तम विभूति, प्रियमित्रोंसे सर्वदा समागम, परंपरागत श्रेष्ठमर्यादा और राजकुलमें बडप्पनके साथ उत्तम यश बढना ये पूर्वजन्मकृत पुण्यरूपी वृक्षके फल इस जन्ममें प्राप्त होते हैं ॥ २०१ ॥

को लाभो गुणिसंगमः किमसुखं प्राज्ञेतरैः संगतिः का हानिः समयच्युतिर्निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः ॥ कः शूरो विजितेंद्रियः प्रियतमा कानुव्रता किं धन विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञा-फलम् ॥ २०२ ॥

अर्थ–लाभ किसको कहते हैं गुणवानोंकी संगति, दुःख क्या पदार्थ है मूर्ख पुरुषोंकी संगति, हानि किसका नाम है व्यर्थ समय बिताना, चातुर्यता क्या है धर्मतत्त्व (परमेश्वर) में प्रीति रखना, शूरवीर कौन है जिसने अपनी दश इंद्रियोंको वशीभूत किया है, अत्यंत प्यारी वस्तु कौन है आज्ञामें चलनेवाली स्त्री, और उत्तम धन क्या है विद्या, सुख क्या है उपार्जनके लिये परदेश सेवन करनेकी आवश्यकता न होना और राज्य किसका नाम है आज्ञाभंग (हुक्मअदूली) नहीं होना ॥ २०२ ॥

बालसखित्वमकारणहास्यं स्त्रीषु विवादमसज्जनसेवा ॥ गर्दभयानमसंस्कृतवाणी षट्सु नरो लघुतामुप-याति ॥ २०३ ॥

अर्थ–बालक या मूर्खसे मित्रता, विना कारण हँसना, किसीका हास्य करना, स्त्रियोंसे विवाद करना, दुर्जनोंकी संगति करना, गर्द-

भपै चढना और युक्तिशून्य वाक्य बोलना, ये छः कर्म करनेसे मनुष्यका बडप्पन चलाजाता है ॥ २०३ ॥

मृगा मृगैः संगमनुव्रजंति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरंगैः ॥ मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥ २०४ ॥

अर्थ–मृग मृगोंके साथ प्रीति करते हैं और गौ गायोंके साथ, अश्व अश्वोंके साथ, मूर्ख मूर्खोंके साथ, विद्वान् विद्वानोंके साथ प्रीति करते हैं और समानशील इसको कहते हैं कि, एकसा स्वभाववाले और एकसे कर्म करनेवाले तथा एक विद्या पढनेवाले वा तुल्यवय (ऊमर) वाले एकज्ञातिके वा एकत्र निवासादि करनेवाले और समानव्यसन जैसे मद्य पीनेवालेके संग मद्य पीनेवाला और तमालपत्र आदि खाने पीनेवालेके साथ तमालपत्र आदि खानेपीनेवाला इत्यादिकोंमें परस्पर स्वतः ही प्रीति उत्पन्न होती है ॥ २०४ ॥

परस्तुतगुणो यस्तु निर्गुणोपि गुणी भवेत् ॥
इन्द्रोपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ॥ २०५॥

अर्थ–जिसकी अन्यपुरुष सर्वत्र प्रशंसा करै वह निर्गुणभी हो तथापि सबके स्तुति करने योग्य होजाता है और इन्द्रके समान ऐश्वर्यवान् होकर भी यदि अपनी बडाई अपने मुखसे करने लगे तो वह पुरुष निश्चय लघुता (ओछापन) को प्राप्त होजाता है इस कारण उत्तम पुरुषको चाहिये कि, अपने मुखसे अपनी स्तुति न करै ॥२०५॥

यथा स्वहस्तस्तनमर्दनाद्वै सुखं न वामा लभते कदाचित् ॥ तथा नरो वै गुरुतां प्रयाति प्रकीर्तयन्स्वस्य गुणान्स्वयं कः ॥२०६ ॥

अर्थ–जैसे यौवनवती स्त्री अपने हाथसे अपने कुचोंका मर्दन करनेसे कदापि सुखको प्राप्त नहीं होती वैसेही अपने गुणोंका अपनेही मुखसे कीर्तन करनेवाला कौन मनुष्य बडप्पनको प्राप्त होता है २०६॥

कुचैलिनं दंतमलोपधारिणं बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च ॥ सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्री-र्यदि चक्रवर्ती ॥ २०७ ॥

अर्थ—अत्यंत मलिनवस्त्रवालेको और मुखशुद्धि नहीं करनेवालेको और आत्मशक्तिमे अधिक भोजन करनेवालेको, सबसे अप्रिय बोल-नेवालेको और सूर्यके उदयास्तसमयमें सोनेवालेको लक्ष्मी (उत्तम शोभा) त्याग देती है चाहे वह चक्रवर्ती क्यों न हो परंतु लक्ष्मी नहीं रहती ॥ २०७ ॥

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ॥
प्राप्ते त्वेकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥ २०८ ॥

अर्थ—अन्यायसे इकट्ठा कियाहुआ धन दशवर्षपर्यंत बढके रहता है और ग्यारहवां वर्ष प्राप्त होनेपर मूलसहित नष्ट होजाता है ॥२०८॥

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ॥
स्वात्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २०९ ॥

अर्थ—आपत्तिकाल (तकलीफ) दूर करनेके निमित्त धनकी रक्षा करनी चाहिये और बढे हुए धनसे स्त्रियोंकी रक्षा करनी चाहिये और अपनी आत्माकी रक्षा तो धन और स्त्रियोंसे भी करनी चाहिये अर्थात् आत्मरक्षाके निमित्त सर्वस्वत्यागमेंभी दोष नहीं ॥ २०९ ॥

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके जनपदहित-कर्ता त्यज्यते पार्थिवेन ॥ इति महति विरोधे वर्त-माने समाने नृपतिजनपदानां दुर्लभःकार्यकर्ता ॥२१०

अर्थ—जो मनुष्य राजाका हितकारी होता है उससे प्रजा द्वेषभाव रखती है और जो प्रजाका अत्यंत हितकारी होताहै उसको राजा अधिकारसे दूर करदेता है ऐसे वर्तमान विरोधके विषयमें राजा और प्रजाके हितकारी मनुष्यका मिलना बडाही दुर्लभ है ॥ २१० ॥

चारणैर्बंदिभिर्नीचैर्नापितैर्बालकैरपि ॥
न मंत्रं मतिमान्कुर्यात्साईं भिक्षुभिरेव च ॥ २११ ॥

अर्थ-बुद्धिमान्को चाहिये कि, चारण, बंदि (राजभाट अर्थात् वृथा स्तुति करनेवाले तथा दुर्जन और नापित (नाई) और बालक, या मूर्ख और भिक्षुक (संन्यासी आदि) इन लोगोंके संग उत्तम सम्मति न करे और गुप्तवार्ताके समयमें इन्हें निकट भी नहीं रक्खे ॥ २११ ॥

षट्कर्णो भिद्यते मंत्रश्चतुःकर्णः स्थिरो भवेत् ॥
द्विकर्णस्यापि मंत्रस्य ब्रह्माप्यंतं न गच्छति ॥२१२॥

अर्थ-जो मंत्र (संमति) छः कानोंमें चलाजाता है वह छिपा नहीं रहता अर्थात् उसको सर्व मनुष्य सुनलेते हैं इस कारण कार्य सिद्ध नहीं होता और चार कानोंकी संमति स्थिर रहती है और दो कानोंमें रहनेवाले मंत्रको ब्रह्मा भी नहीं जानसकता इस कारण राजाको चाहिये कि, सम्मतिके समयमें अयोग्य और अधिक मनुष्योंको नहीं रक्खै ॥ २१२ ॥

धूर्ते बंदिनि मल्ले च कुवैद्ये कितवे शठे ॥
चाटुचारणचौरेभ्यो दत्तं भवति निष्फलम् ॥ २१३ ॥

अर्थ-धूर्त, बंदी, मल्ल तथा मूर्ख वैद्य, कपटी, मूर्ख, चाटु चारण (मीठा खुशामदी) और चौर इनको दियाहुआ धनादि निष्फल होता है इस कारण इनको देना व्यर्थ है ॥ २१३ ॥

क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय सुजनाय यथाञ्जलिः ॥
ततः साधुतरः कार्यो दुर्जनाय हितैषिणा ॥२१४ ॥

अर्थ-अपने हितकी इच्छा करनेवाले पुरुषको चाहिये कि, जैसे श्रेष्ठकुलोत्पन्न सज्जन पुरुषका मान करनेके निमित्त नम्रता कीजाती है उससे भी बढकर प्रथम दुर्जनके निमित्त नम्रता करनी चाहिये

कारण कि, कुलीन मनुष्य अपने वैरीकाभी व्यर्थ बिगाड नहीं करता और दुर्जन मित्रकी भी उन्नतिको सहन नहीं करसक्ता ॥ २१४ ॥

दह्यमानाः सुतीव्रेण नीचाः परयशोग्निना ॥
अशक्तास्तत्पदं गंतुं ततो निंदां प्रकुर्वते ॥ २१५ ॥

अर्थ-दुर्जन मनुष्य दूसरेकी कीर्तिरूप असह्य अग्निसे जलाहुआ उसकी तुल्यता करनेको असमर्थ होकर निंदा करने लगता है अर्थात् दुष्ट मनुष्य दूसरेकी उत्तम वार्ताको देखके जलजाते हैं और उसकी बराबरी करनेमें असमर्थ होनेके सबब निंदा करने लगते हैं ॥ २१५॥

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दंभः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनि ॥
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे ॥
तत्को नाम गुणो भवेत्सगुणिनां यो दुर्जनैर्नांकितः॥२१६

अर्थ-दुर्जनोंका स्वभावही होता है कि, लज्जावान् पुरुषको शिथिल, व्रतधारीको दंभी, पवित्रको कपटी, शूरवीरको निर्दयी, सूधे (सादे) को मूर्ख, प्रिय कहनेवालेको दीन, तेजस्वीको घमंडी, अच्छे बोलने-वालेको बकवादी और स्थिरचित्तवालेको आलसी कहदेते हैं इससे जाना जाता है कि, गुणवानोंमें कौन ऐसा गुण है जिसको दुष्ट मनु-ष्योंने कलंक नहीं लगाया हो ॥ २१६ ॥

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽधकारागमे निर्वाते
व्यजनं मदांधकरिणां दर्पोपशांत्यै सृणिः ॥ इत्थं
तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिंता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः॥२१७॥

अर्थ-देखो ब्रह्माने अगाध समुद्रको तरनेके लिये जहाज, अंधेरा दूर करनेको दीपक, वायु नहीं चलनेमें वायु चलानेको पंखा और और मदोन्मत्त हाथीका घमंड दूर करनेको अंकुश बनाया है पृथ्वी-

पर ऐसा कोईभी पदार्थ नहीं है कि, जिसके लिये ब्रह्माने उपाय नहीं किया हो परंतु मैं जानता हूं कि, दुष्टमनुष्योंकी चित्तवृत्ति हरनेके निमित्त तो ब्रह्मा भी अपने पुरुषार्थसे शिथिल होगया ॥ २१७ ॥

गंधः सुवर्णे फलमिक्षुदंडे नाकारि पुष्पं खलु चंदनेषु ॥
विद्वान्धनी भूमिपतिश्चिरायुर्धातुः पुरा कोपि न बुद्धि-
दोऽभूत् ॥ २१८ ॥

अर्थ–सुवर्णमें सुगंध, इक्षु (गन्ने) में फल, चंदनमें पुष्प, विद्वान्को धनाढ्य और नीतिमान् राजाको दीर्घजीवी नहीं किया इस लिये जाना जाता है कि, पहिले विधाताको कोई भी बुद्धिका देनेवाला नहीं था, यदि बुद्धिदाता होता तो उपरोक्त कार्योंमें भूल नहीं होती ॥ २१८ ॥

प्रेम सत्यं तयोरेव ययोर्योगवियोगयोः ॥
वत्सरा वासरीयंति वत्सरीयंति वासराः ॥ २१९ ॥

अर्थ–प्रीति उन दोनोंकी सच्ची है कि, जिन्होंके मिलापमें संवत्सर भी दिवसके तुल्य ही बीते और वियोग (दूर रहने) में एक २ दिन भी संवत्सरके समान बीते ॥ २१९ ॥

इयं प्रीतिवल्ली हृदयभुवि दैवात्समुदिता ।
तथा यत्नाद्रक्ष्या प्रकृतिमृदुलाऽपायबहुला ॥
यथा नैनां स्फीतां पिशुनजनदुर्वाक्यदहनो ।
दहत्यंतः शोषं व्रजति न पुनः सौहृदनिधे ॥ २२० ॥

अर्थ–हे सज्जनपुरुषो ! यह प्रीतिरूपी लता (बेल) हृदयरूपी भूमिमें दैवसंयोगसे उत्पन्न होती है और बढी हुई इस बेलको दुर्जन मनुष्योंकी वाक्यरूपी अग्नि जलादेती है इस कारण इसकी उक्त अग्निसे यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये यह स्वभावहीसे बहुत कोमल होती है और इसमें विघ्न भी बहुत होजाते हैं और एकबार नष्ट होनेपर फिर प्रकट नहीं होती ॥ २२० ॥

संपूर्णकुंभो न करोति शब्दमर्द्धो घटो घोषमुपैति नूनम् ॥ विद्वान्कुलीनो न करोति गर्वं गुणैर्विहीना बहु जल्पयंति ॥ २२१ ॥

अर्थ-जो विद्वान् कुलीन होता है वह किसी बातका घमंड नहीं करता, और जो गुणहीन तथा अकुलीन होते हैं वे अधिक बकवाद करने लगते हैं जैसे संपूर्ण भरा हुआ घट नहीं बोलता और जल आदिसे अर्द्ध (आधा) भरा हुआ घट वारंवार शब्द करता है ॥ २२१ ॥

धिग्जीवितं शास्त्रकलोज्झितस्य धिग्जीवितं चोद्यमवर्जितस्य ॥ धिग्जीवितं व्यर्थमनोरथस्य धिग्जीवितं ज्ञातिबहिष्कृतस्य ॥ २२२ ॥

अर्थ-विद्या तथा कला नहीं जाननेवाले मनुष्यका जीना धिक्कार है और गृहस्थी होके उद्यम नहीं करनेवाले मनुष्यका भी जीना धिक्कार है, कार्य करनेमे शिथिल बैठे बैठे व्यर्थ मनोरथ करनेवालेका जीना भी धिक्कार है और जातिसे निकाले हुएका भी जीना धिक्कार है ॥ २२२॥

गते शोको न कर्तव्यो भविष्यं न विचिंतयेत् ॥ वर्त्तमानेन कालेन प्रवर्त्तंते विचक्षणाः ॥ २२३ ॥

अर्थ-बीते हुये समय और पदार्थका शोच नहीं करना चाहिये, तथा भविष्यत्की भी चिन्ता न करै क्योंकि बुद्धिमान् होते हैं वे वर्तमानकालमें समयानुसार कार्य करते हैं ॥ २२३ ॥

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुंदरगिरः शिष्यप्रदेयागमा विख्याताः कवयो वसंति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः ॥ तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः कुत्साः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः २२४

अर्थ- शास्त्रोक्त शब्दोंके उच्चारणसे जिनकी वाणी अत्यंत सुंदर है और शिष्योंको पढाने योग्य जिनके पास श्रेष्ठ विद्या है तथा आप भी उत्तम गुणोंसे विख्यात हैं ऐसे कवि जिस राजाके देशमें निर्धन होकर निवास करते हैं वह उस राजाकी जाड्यता (मूर्खता) है कारण कि, कविजन तो धनके विना भी श्रेष्ठही हैं जैसे जिन कुत्सित परीक्षकोंने अपने अज्ञातपनसे श्रेष्ठ मणियोंके मूल्य कम करदिये हैं वे परीक्षक ही निंदित समझे जाते हैं मणियें नहीं ॥ २२४ ॥

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिर्विपक्षः
पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ॥ तथाप्येको
रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं क्रियासिद्धिः सत्त्वे
भवति महतां नोपकरणे ॥ २२५ ॥

अर्थ-लंका जैसी दुर्गम नगरीको जीतना, अगाधसमुद्रको पैरोंसे तरके पारजाना, रावण जैसे वैरीसे लडना और संग्रामभूमिमें पशुजातिके वानर जिसकी सहाय करनेवाले तथापि अकेलेही रामचन्द्रने सकल राक्षसकुलका विध्वंस करादिया इसीसे निश्चय होता है कि, कार्यकी सिद्धि श्रेष्ठजनोंके पराक्रममें होती है, विविध सामग्रीसे नहीं ॥ २२५ ॥

तावद्भयेन भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ॥
आगतं तु भयं दृष्ट्वा नरः कुर्याद्यथोचितम् ॥ २२६॥

अर्थ-तबतक भयसे डरना चाहिये कि, जबतक भय अपनेको प्राप्त न हुआ हो और जब भय प्राप्त होजाय तो बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये भयको दूर करनेका यथोचित उपाय करै ॥ २२६ ॥

आपदामापतंतीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ॥
मातृजंघाहि वत्सस्य स्तंभीभवति बंधने ॥ २२७ ॥

अर्थ-हित पदार्थभी आनेवाली आपत्तियोंका हेतुरूप होजाता है

जैसे गौदोहनेके समयमें गायकी जंघा (अगला पैर) भी अपने वत्सको बांधनेके निमित्त स्तंभरूप होजाती है ॥ २२७ ॥

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ॥ तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च तावच्च तत्र च विधातृवशादुपैति ॥ २२८ ॥

अर्थ–जिससे, जिस करके, जैसे, जिस समयमें, जो, जितना और जहाँ शुभ व अशुभ अपना कर्म होता है वह प्रारब्ध संयोगके वश उससे, उस करके और उसी प्रकारसे तब, वह, उतनाही और वहाँही प्राप्त होजाताहै ॥ २२८ ॥

न पश्याति च जन्मांधः कामांधो नैव पश्याति ॥
मदोन्मत्ता न पश्यांति ह्यर्थी दोषं न पश्याति ॥ २२९ ॥

अर्थ–जन्मका अंधा किसीको नहीं देखसकता, कामांध (व्यभिचारी) भी किसी अच्छे बुरेको नहीं देखता, मदोन्मत्त (अत्यंत घमंडयुक्त) भी अच्छी बुरी वार्ताको नहीं देखता और अर्थी मनुष्य दोषोंको नहीं देखता ॥ २२९ ॥

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बांधवाः ॥
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पंडितः ॥ २३०

अर्थ–जिसके पास धन होताहै उसके सर्व मित्र होजाते हैं और जिसके पास धन होता है उसकेही भाई बंधु बांधव होजाते हैं और जिसके पास द्रव्य है वह जगत्‌में उत्तम मनुष्य कहलाता है और जिसके पास द्रव्य है वह मूर्ख भी हो तथापि बुद्धिमान्‌ही कहलाता है ॥ २३० ॥

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरांगना ॥
विभवो दानशक्तिश्च नाल्पस्य तपसः फलम् ॥ २३१ ॥

अर्थ–भोज्य भोजनशक्ति (खिलाना और खाना) उत्तम स्त्रियोंसे भोग तथा क्रीडा (अर्थात् खेलकूद) की शक्ति; और पतिव्रतास्त्रीका मिलना और अच्छा वैभव होना और दान देनेमें रुचि होना ये पूर्व-जन्मकृत श्रेष्ठ पुण्यका फल है ॥ २३१ ॥

न विप्रपादोदककर्दमानि न वेदशास्त्रध्वनिगर्जि-
तानि ॥ स्वाहास्वधाकारविवर्जितानि श्मशान-
तुल्यानि गृहाणि तानि ॥ २३२ ॥

अर्थ–जो गृहाश्रम ब्राह्मणोंके पैर धोनेके जलोंके कर्दम (कीच) से युक्त नहीं होते, और वेद तथा शास्त्रोंकी ध्वनिसे शब्दायमान नहीं होते तथा देवताओंके निमित्त स्वाहा शब्द पितरोंके निमित्त स्वधाशब्दके उच्चारणसे गर्जित नहीं होते, वे गृहाश्रम श्मशान भूमिकी समान समझे जाते हैं ॥ २३२ ॥

अनंतशास्त्रं बहुला च विद्या ह्यल्पश्च कालो बहु-
विघ्नता च ॥ यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा
क्षीरमिवांबुमध्यात् ॥ २३३ ॥

अर्थ–शास्त्र तो अपार हैं, विद्या व कलाभी अनेक हैं, आयुका समय बहुतही अल्प है जिसमें भी अनेक प्रकारके विघ्न हैं इस कारण बुद्धिमान्‌को चाहिये कि, जो जो सारपदार्थ हैं उन्हींको अंगीकार करै जैसे हंस जलके मध्यसे दुग्धमात्रको अंगीकार करता है ॥ २३३ ॥

धर्मे तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहता मित्रेऽ-
वंचकता गुरौ विनयता चित्तेऽतिगांभीर्यता॥आचारे
वाक्पटुतोदये सहनता धैर्यत्वमेवापदि युद्धे विक्र-
मता गुणे रसिकता धन्ये नृपे दृश्यते ॥ २३४ ॥

अर्थ–अपने धर्ममें दृढता रखना, मुखसे मधुरवाक्य बोलना, दान देनेमें उत्साह रखना, मित्रमें सच्ची प्रीति रखना, गुरुजनोंमें नम्रता-

युक्त भक्ति रखना, मनमें अत्यंत गंभीरता रखना, सभामें अत्यंत चातुर्यतायुक्त वाक्य निकालना, ऐश्वर्य बढनेपर भी सहनता रखना और विपत्ति 'कालमें धीरज रखना, और युद्धमें पराक्रम करना, गुणयुक्तसे प्रीति करना, उक्तगुण पुण्यशाली राजाओंमेंही देखनेमें आते हैं अन्यत्र नहीं अर्थात् ये गुण उत्तम राजाओंमेंही होतेहैं अन्यत्र नहीं इसलिये प्रार्थना है. कि, हे राजकुमारो ! सुकीर्तिके निमित्त उक्त गुणोंको सदा धारण करो ॥ २३४ ॥

निंदंतु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवंतु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥ अद्यैव वा मरणमस्तु युगांतरे 'वा न्यायात्पथः प्रविचलंति पदं न धीराः ॥ २३५ ॥

अर्थ–धीर वीरोंका यह कार्य है कि, नीतिके निपुण (नीति जाननेवाले) चाहे निंदा करैं चाहे स्तुति (प्रशंसा) करैं लक्ष्मी चाहे रहे चाहे जाय और प्राण भी चाहे अभी जाय, चाहे कल्पांतमें परंतु धीर मनुष्य तो न्याय (नीति) मार्गको छोडके एक भी पैग उसके बाहिर नहीं देते ॥ २३५ ॥

अकृत्यं नैव कर्त्तव्यं प्राणत्यागेऽपि संस्थिते ॥
न च कृत्यं परित्याज्यं धर्म एष सनातनः ॥ २३६ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् कुलीन मनुष्यको चाहिये कि, प्राणांतपर्यंत भी अकरणीय कार्यको न करै, और कर्तव्यकार्योंको कदापि न त्यागे, इसीका नाम सनातन (यानि पारंपर्य) धर्म है ॥ २३६ ॥

क्षुत्क्षामोपि जराकृशोपि शिथिलप्रायोपि कष्टां दशामापन्नोपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥ मत्तेभेंद्रविभिन्नकुंभकवलग्रासैकबद्धस्पृहः किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥ २३७ ॥

अर्थ-अति कष्ट प्राप्त होनेपर भी कुलीन मनुष्य अकर्त्तव्य कार्य नहीं करता वह सिंहके दृष्टांतसे दृढ करके दिखलाते हैं भूखका मारा अत्यंत दुर्बल, वृद्ध अवस्थाको प्राप्त होनेसे क्लेशित, शक्तिहीन और कष्टकी दशाको प्राप्त, तेजहीन और प्राण भी नाश होनेका समय प्राप्त हो रहाहो तथापि मत्तगजराजके विदारे हुए मस्तकके मांसका ग्रास करनेकीही अभिलाषा रखनेवाला मानी पुरुषोंके अग्रगण्य ऐसा सिंह क्या सूखी घासको खायगा कदापि नहीं ॥ २३७ ॥

धन्या वै जनयंति या नृपसुताः पुत्रान्खलु क्षत्रियान्सं-ग्रामांगणकोविदान्नयपरान्वीरान्वदान्यानहो ॥ प्रस्थैकं यवचूर्णकं सलवणं गृह्णंति यस्यापि ते तस्यार्थे ददतीह वीरकृतिनो धीराः शिरांसि प्रभो ॥ २३८ ॥

अर्थ-कुलीन मनुष्य अपना किंचित् भी उपकार करनेवालेके निमित्त अपने प्यारे प्राणोंको भी देदेते हैं वह क्षत्रियोंके दृष्टांतसे दृढ करते हैं-हे प्रभो ! संग्राम (रणभूमि) में बडे चतुर, नीतिपरायण, शूरवीर और दानी ऐसे क्षत्रियोंको जन्मानेवाली जो राजकुमारियें हैं वे बडी ही धन्य हैं क्योंकि सुकृति और धीर वीर क्षत्रिय जिस मनुष्यका केवल लवणयुक्त एक सेरभर चून (आटा) खालेते हैं उस मनुष्यके कामके निमित्त अपने नहीं देने योग्य शिरकोभी देदेते हैं+॥ २३८ ॥

चित्रास्वादकथैर्भृत्यैरनायासितकार्मुकैः ॥
ये रमंते नृपास्तेषां रमंते रिपवः श्रिया ॥ २३९ ॥

अर्थ-नानाप्रकारकी चित्र विचित्र वार्ताओंसे मालिकको प्रसन्न करनेवाले और शस्त्रास्त्र विद्यासे हीनभृत्यों (नौकरों) के साथ जो

+ दोहा-हूं बलिहारी जाऊं राणियां, थे जायावंश छत्तीस ।
सेरसलूणा कारणै, मोल समर्प्यै सीस ॥ १ ॥

राजा रमण (विहार-सहल) करते हैं उस राजाके शत्रु राज्यलक्ष्मीको भोगते हैं ॥ २३९ ॥

सौधीकृत्य हयान्वीर छदीकृत्य फलानि वै ॥
स्तंभीकृत्य हि यः कुंतान्भुंक्ते भूमिं स भूपतिः २४०॥

अर्थ–जो राजा घोडोंको महल, ढालोंको छत और भालोंको खंभे बनाकर पृथ्वीको भोक्ता है वह राजा भूपति कहलाता है॥२४०॥

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमितांश्चिन्वञ्छिशून्वर्द्धयन्प्रोतुंगान्नमयन्नतान्समुदयान्विश्लेषयन्संहतान् ॥ तीव्रान्कंटकिनो बहिर्नियमयन्म्लानान्मुहुःसेचयन्मालाकार इव प्रयोगनिपुणो राजा चिरं नंदतु ॥ २४१ ॥

अर्थ–जैसे बागवान् अपने बागमें उखडे हुए वृक्षोंके स्थानमें दूसरे वृक्षोंको रोपता है और फूले हुए वृक्षोंके फूलोंको चुनता रहता है। छोटे वृक्षोंको बढानेका उपाय करता रहता है तथा ऊंचे वृक्षोंको नमाता है। नमे हुवोंको ऊपर उठाताहै और एकत्र समुदायको पृथक् २ करता है और तीव्र कंटीले वृक्षोंको बाहर निकालता है और मुरझाये वृक्षोंको वारंवार सींचता रहताहै। वैसेही अपने राज्यमें उजडे ग्राम व घरोंको फिर वसाता हुआ धनाढ्य पुरुषोंसे विविध करद्वारा धनको खैंचता हुआ असमर्थोंको अपनी दृष्टिसे वढाता हुआ अभिमानियोंके घमंडको दूर करता हुआ और नम्रीभूत कुलीनोंका सत्कार करता हुआ एकत्र शत्रुसमुदायको भेदद्वारा पृथक् २ करता हुआ और धूर्तोंको अपने देशसे बाहिर निकालता हुआ निर्धनियोंको धनद्वारा पालन करता हुआ मालीके समान प्रजाकी पालना करनेमें निपुण राजा चिरकालपर्यंत आनंदको भोगता है ॥ २४१ ॥

इति राजनीतिः ।

अथ राजधर्माः ।

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ॥
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ २४२ ॥

अर्थ–राजाको जैसा आचरणयुक्त होना चाहिये जैसे राजाकी उत्पत्ति और जिन जिन कर्मोंके करनेसे राजाको परम सिद्धि प्राप्ति होती है उन राजधर्मोंको मैं कहताहूं ॥ २४२ ॥

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ॥
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ २४३ ॥

अर्थ–इस लोकमें प्रथम राजा न होनेके कारण जगत् सर्वत्र भयसे व्याकुल हुआ इस कारण संपूर्ण जगत्की रक्षा करनेके अर्थ ब्रह्माने राजाकी रचना की इसीसे प्रजाकी रक्षा करना ही राजाका मुख्य कर्त्तव्य कर्म है ॥ २४३ ॥

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ॥
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ २४४ ॥

अर्थ–प्रजाको प्रसन्न रखनेसे तथा अपने तेजसे स्वयं प्रकाशमान होनेसे राजा, और अपने भुजदंडके बलसे पृथ्वीको उदारतापूर्वक भोगनेसे भोज, और प्राणिमात्रमें विशेष तेजस्वी होनेसे विराट्, तथा राजसूयादि यज्ञ करनेसे सम्राट्[1] और सबके दुःखोंको दूर करनेसे क्षत्रिय[2] भूमिका पालक होनेसे भूपति और मनुष्योंको अपने २ धर्ममें चलाके पालन करनेसे नृप कहाता है । जो इन उपरोक्त शब्दोंसे स्तुति किया जाता है उसका सन्मान करनेकी कौन पुरुष इच्छा नहीं करता ॥ २४४ ॥

पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ॥
विकले सति पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥ २४५ ॥

---

१ सपूर्ण राजाओंको जीतकर कर लेना और यज्ञ करना ।
२ क्षताद्दुःखात्त्रायते इति क्षत्रियः ।

अर्थ-राजा मेघके समान प्राणिमात्रका आधार होता है अर्थात् मेघके वर्षनेसे प्राणिमात्र जीते हैं दैवसंयोगसे अनावृष्टि होनेमें भी प्राणी जीसकते हैं परंतु राजाके विना नहीं जीसकते ॥ २४५ ॥

इंद्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ॥
चंद्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ २४६ ॥

अर्थ-इस कारण इंद्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चंद्रमा, कुबेर इन सर्व देवोंके सारभूत अंशोंको लेकर उन अंशोंसे प्रभुने राजाको बनाया है ॥ २४६ ॥

यस्मादेषां सुरेंद्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ॥
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥२४७॥

अर्थ-जिन इंद्रादि श्रेष्ठ देवोंके सारभूत अंशोंसे राजा रचा गया है इस कारण संपूर्ण प्राणियोंसे राजा अपने तेज द्वारा बढजाता है अर्थात् इस कारण प्राणियोंसे राजा अधिक पराक्रमी होता है ॥२४७॥

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम् ॥
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम् ॥ २४८ ॥

अर्थ-अग्नि, असावधानीसे समीप जानेवाले एकही मनुष्यको जलाती है और उसके पुत्र आदिको नहीं अर्थात् जो अग्निको अज्ञानतासे स्पर्श करलेता है उसीको अग्नि जलाती है, एकके स्पर्श करनेसे सबको नहीं जलासक्ती और राजाकी क्रोधाग्नि गौ घोडे बहल हीरे पन्ने सुवर्ण चांदी इत्यादि द्रव्यसंचयसमेत अपराधीके स्त्री पुत्र भाई आदि कुलपर्यंतको दहन करदेती है ॥ २४८ ॥

यदा न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ॥
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २४९ ॥

अर्थ-यदि राजा अपनी प्रजाको श्रेष्ठ शिक्षा देनेवाला नहीं होवै तौ विना मल्लाहकी नाव जैसे समुद्रमें डूब जाती है वैसेही प्रजाभी अज्ञानरूप समुद्रमें डूब जाती है अर्थात् जो राजा अपनी प्रजाको

विद्या और धर्मकी शिक्षा नहीं दिलाता उस राजाकी प्रजा मूर्खता और अधर्मरूप समुद्रमें डूब जाती है ॥ २४९ ॥

योहि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् ॥
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत् ॥ २५० ॥

अर्थ-जो राजा धर्ममें तत्पर है वह देवांशी है दूसरे राजा राक्षसांश होते हैं। जो राक्षसांशक होता है वह धर्मका नाशक और प्रजाको पीडा देनेवाला होता है ॥ २५० ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ॥
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ २५१ ॥

अर्थ-प्रजाकी रक्षा करना १ पात्रको दान देना २ यज्ञ करना ३ वेद पढना ४ विषय (गाना बजाना नाचना) इत्यादि दुर्व्यसनोंमें आसक्त न होना ये पांचोंही क्षात्रियके निमित्त परमेश्वरने साधारण कर्म बनाये हैं ॥ २५१ ॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ॥
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ २५२ ॥

अर्थ-प्रजाकी न्यायपूर्वक रक्षा करनाही राजाका सर्वधर्मोंसे उत्तम धर्म कहा है। क्योंकि निर्दिष्ट फल राजनीतिमें दिखलाये हुये न्यायके अनुकूल दंडआदिके देनेहीसे राजा प्रजाके किये हुए धर्मके छठे हिस्सेका भागी होताहै और न्यायपरायण राजाही धर्मात्मा कहाता है ॥ २५२ ॥

संग्रामेष्वनिवृत्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् ॥
शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥२५३॥

अर्थ-संग्राममें पीठ नहीं देना और प्रजाकी न्यायपूर्वक रक्षा करना विद्वानोंका आदर सत्कार करना ये तीनोंही राजाओंके निमित्त परम कल्याणकारक कहे हैं ॥ २५३ ॥

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि ॥
सुपालितप्रजो यः स्यात्सर्वधर्मविदेव सः ॥ २५४ ॥

अर्थ–जो राजा न्यायपूर्वक प्रजाकी रक्षा करनेवाला है वह राजा संपूर्ण धर्मका जाननेवाला है (अर्थात् जिसने नीतिपूर्वक प्रजाकी रक्षा की उसने संपूर्ण धर्म करलिये फिर उस राजाके तप करनेसे क्या प्रयोजन है ? अर्थात् वह राजा तपोमयमूर्ति है) और उस राजाके यज्ञ करनेसे क्या प्रयोजन है ? (अर्थात् प्रजापालनरूप यज्ञमें तत्पर होनेसे वह राजा यज्ञहीकी मूर्ति है) ॥ २५४ ॥

जातिजानपदान्धर्माञ्छ्रेणिधर्मांश्च धर्मवित् ॥
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत् ॥ २५५ ॥

अर्थ–राजनीति धर्मके जाननेवाले राजाको चाहिये कि अपने वशीभूत राज्यमें जातिधर्म अर्थात् जिस जिस जातिका वेदप्रतिपाद्य जो धर्म है तिसको और जानपदधर्म अर्थात् जिस जिस देशमें वेदविहित जो धर्म है उसको, और श्रेणिधर्म (व्यापार करनेवालोंकी जो रीति है) उसको और कुलधर्म जिस जिस कुलका जो धर्म है उसको अच्छी रीतिसे जानकर उनसे विरुद्ध नहीं हो ऐसा धर्मव्यवहारमें प्रचलित करे अर्थात् अपने वशमें आये हुए देशोंके पारंपर्य धर्मको कदापि नहीं तोडे ॥ २५५ ॥

सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः ॥
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ २५६ ॥

अर्थ–रागद्वेषादिरहित और धर्मके जाननेवाले द्विजाति (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों) ने जिस देश कुलजातिमें जैसा आचरण स्थापन किया हो उस देश, कुल, जातिके अनुकूल रीतिहीका सदा स्थापन करै ॥ २५६ ॥

मौलाञ्छास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान् ॥
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥ २५७ ॥

अर्थ–स्वराज्य तथा स्वदेशमें उत्पन्न हुये पितापितामहादिके क्रमसे राजाके सेवक हो वेदादिसत्शास्त्र तथा नीति शास्त्रके जाननेवाले तथा शूर वीर और जिनका विचार कदापि निष्फल नहीं हो वा अमोघ शस्त्रवाले अर्थात् जिनका चलाया हुआ शस्त्र अस्त्र लक्ष्य (निसानेसे कभी नहीं चूकता हो) और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए हों तथा कार्याकार्यमें भली प्रकार परीक्षा किये गये हों ऐसे सात वा आठ मंत्री अर्थात् (सम्मतिदेनेवाले) बनावे ॥ २५७ ॥

मध्यंदिनेऽर्द्धरात्रे वा विश्रांतो विगतक्लमः ॥
चिंतयेद्धर्मकामार्थान्सार्द्धं तैरेक एव वा ॥ २५८॥

अर्थ–मध्याह्नकाल वा अर्द्धरात्रिके समयमें स्वस्थचित्त होके राजा उक्त मंत्रियोंसहित वा अकेलाही धर्म, अर्थ और कामसंबंधी कार्योंका चिंतवन करै ॥ २५८ ॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम् ॥
कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ॥२५९ ॥

अर्थ–परस्पर विरोधको प्राप्त हुए धर्म, अर्थ और काम संबंधी कार्योंको या परस्परमें विरुद्धभाव रखनेवाले सामंतादिकोंके विरोध दूर करनेके उपायोंको या परस्पर विरुद्धवाले धर्म, अर्थ, कामके विरोधको बचाके उनके अर्जनका उपाय सोचै और राज्यसंबंधी कार्योंकी सिद्धिके उपायोंको कन्याओंके विवाह, और विद्याभ्यासादिकोंके उपायोंका और राजकुमारोंकी रक्षा अर्थात् उनको दुर्व्यसनोंसे बचावे तथा नीतिशास्त्र वा शस्त्रविद्यामें कुशल करे इन उपायोंको अवश्य विचार करै ॥ २५९ ॥

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च ॥
अंतःपुरप्रचारं च प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २६० ॥

अर्थ–गुप्त और प्रकट चिट्ठी पत्री आदि लेखके लेजानेवाले दूतोंको पराये देशमें भेजनेका, और आरंभ किये हुए कार्योंके शेष पूरे होने

का, तथा अंतःपुरमें रहनेवाली स्त्रियोंके आचरणको जाननेका, और परराज्यमें भेजहुए दूतोंकी चेष्टा जाननेके निमित्त गुप्त चार भेजनेका उपायभी चिन्तवन करै ॥ २६० ॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पंचवर्गं च तत्त्वतः ॥
अनुरागापरागौ च प्रचारं मंडलस्य च ॥ २६१ ॥

अर्थ—संपूर्ण आठ प्रकारके कर्मोंका चिंतवन करै, अर्थात् प्रजाओंसे न्यायपूर्वक करआदिको लेना १ भृत्यादिकोंको यथायोग्य भृति और पारितोषिक देना २ मंत्रियोंको वा सेना आदिकोंको राज्यसंबंधि कार्योंके निमित्त देशदेशांतरोंमें भेजना ३ तथा न भेजना ४ अपने जानेहुए कार्यकी सिद्धिके निमित्त मंत्रियोंको आज्ञा देना, तथा अपने अज्ञातकार्योंको अच्छीरीतिसे विचारके यथायोग्य आज्ञा देना ५ प्रजाके लेनदेन आदि व्यवहारको देखके धर्मपूर्वक न्याय करना ६ व्यवहारोंमें हारेहुए अर्थी, प्रत्यर्थी (मुद्दईमुदायले) से शास्त्रोक्तरीतिपूर्वक धन लेना ७ पापियोंको प्रायश्चित्त कराना, तथा दुष्टोंको दंड देकर शुद्ध करना ८ और वर्गशब्दसे प्रणीत पांच प्रकारके चारोंको भी श्रेष्ठ विचारपूर्वक नियत करै, वह पांच वर्ग लिखते हैं—दूसरेके भीतरकी वार्ता जाननेवाला, निर्भय बोलनेवाला, कपटयुक्त व्यवहार करनेवाला, मनुष्य यदि जीविकाके निमित्त आवै तो राजा उसको दान मानसे अपना करके एकान्तमें कहे कि जिसका दुष्ट कर्म देखो, उसी समय हमसे कहो १ जो संन्याससे भ्रष्ट है उसका दोष तो लोकमें विदितही है परंतु वह बुद्धिमान् और पवित्रतासे युक्त होवे और आजीविकाके लिये अपनेपास आया होवे तो बहुत लाभवाले मठमें उसको अध्यक्ष करके राजा एकान्तमें कहे कि जिसका दुष्ट कर्म देखो वह उसी समय मुझसे कहो, ऐसे कहके जिस भूमिमें बहुतसा धान्य उत्पन्न होता हो वह भूमि जीविकाके लिये दे॰ कारण कि वह भ्रष्ट संन्यासी उस जीविकासे राजाके कार्यकरनेमें नियुक्त कपटसंन्यासधारी गुप्तचारों (डिटैकटिव पुलिस) का भरण पोषण किया करै, २ श्रेष्ठ बुद्धि और

पवित्रतायुक्त कृषिकार दैववशसे क्षीणवृत्ति होनेके कारण जीविकाके निमित्त यदि अपनेपास आवे तो उसको एकांतमें पहलेके समान वाक्य कहै, और कृषि करनेके लिये अपनी भूमि देवै ३ जीविकारहित बनियाको एकांतमें पहलेकी भांति कहके धन तथा मान देके अपना करै. और वाणिज्य करनेकी आज्ञा देवै ४ और जो मनुष्य केवल जीविकाके निमित्तही जटाधारी मुंडिया (मुंडित) बन जाय उसको उक्त जीविका देके एकांतमें पहलेकी भांति वाक्य कहै, और वह मनुष्य राजाके कार्योंकी सिद्धिके लिये बहुतसे कपटी जटाधारी व मुंडिये शिष्योंसमेत कहांकिसीके आश्रममें जाके तपस्वी जनोंके पास तप करने लगै और लौकिकको निराहार तपस्या दिखलानेके लिये महीने दो महीनेमें सबोंके आगे एक मुट्ठीभर बेर (बोर) आदिको भोजन करै, और रात्रिमें जिस समय कोई न जानसके उस समयमें राजाकी ओरसे नियत गुप्त पदार्थका यथेष्ट भोजन करै, और शिष्यगण उसकी सिद्धाई प्रकट करनेके लिये सर्व मनुष्योंसे कहै कि गुरुजी भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालके जाननेवाले हैं, यदि जो मनुष्य अपना सुख दुःख कहेगा उसका मनोरथ सिद्ध होगा इस प्रकारके प्रचारसे सर्व मनुष्य विश्वास मानके अकथनीय कार्यकोभी कहदेते हैं ५ राजाको चाहिये कि इन पांच प्रकारके गुप्त चारोंके द्वारा अपने प्रतिपक्षी राजा और अपने मित्र तथा मंत्री आदिकोंकी प्रीति व अप्रीतिको जानके उसका यथायोग्य उपाय सोचै, कारण कि इनमेंसे कौन संधिकी इच्छा करता है और कौन विग्रह चाहता है यह बात जानके वैसा उपाय करै ॥ २६१ ॥

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ॥
उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ २६२

अर्थ–राजाको चाहिये कि अपने शत्रु और अपनेको जीतनेकी इच्छा करनेवाले अन्य राजा हो इन दोनों राजाओंके समीपवर्ती जो इनसे समर्थ राजा है वह मध्यम कहलाता है उसकी अच्छी बुरी चेष्टा-

को जानै और बुद्धिमान्, उत्साहसंपन्न, श्रेष्ठप्रकृति संयुक्त जो राजा है वह (विजिगीषु) कहलाता है, उसकीभी चेष्टाका विचार करै। मध्यम (विजिगीषु) तथा शत्रु मिले हुए इन तीनोंको अनुग्रह करनेमें और बिगडेहुए उक्त तीनों राजाओंके निग्रह करनेमें जो समर्थ राजा है वह उदासीन कहलाता है उसकीभी चेष्टाका विचार (चिंतवन) करै और सहज प्राकृत तथा कृत्रिम इन तीन प्रकारके शत्रुओंकी चेष्टाका भी यत्नपूर्वक विचार करै ॥ २६२ ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मंडलस्य समासतः ॥
अष्टौ चान्याःसमाख्याता द्वादशैव तु ताःस्मृताः २६३

अर्थ—मध्यम, विजिगीषु, उदासीन, शत्रु ये चारों प्रकृति राज्यमंडलकी मूल प्रकृति कहलाती है और संक्षेपसे आठ शाखा प्रकृति कही गई हैं उनको कहते हैं शत्रुकी भूमिके आगे मित्र १ अरिमित्र २ मित्रमित्र ३ अरिमित्रमित्र ४ पार्ष्णिग्राह ५ आक्रंद ६ पार्ष्णिग्राहसार ७ आक्रंदसार ८ चार मूलप्रकृति और आठ शाखाप्रकृति मिलके बारह प्रकृति होती हैं ॥ २६३ ॥

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदंडाख्याः पंच चापराः ॥
प्रत्येकं कथिता ह्येताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ २६४ ॥

अर्थ—उन बारह प्रकृतियोंके मध्ये एक एक प्रकृतिके प्रति मंत्री १ राज्य २ दुर्ग ३ कोश ४ सेना ५ ये पाच द्रव्य प्रकृति कहलाती हैं एक एक प्रकृतिके पांच २ भेद होनेसे द्रव्य प्रकृति साठ प्रकारकी होती है साठ प्रकारकी द्रव्यप्रकृति और चार प्रकारकी मूलप्रकृति और आठ प्रकारकी शाखाप्रकृति ये सब मिलके संक्षपसे बहत्तर ७२ प्रकृतियें होती हैं राजा गुप्तचारोंके द्वारा इनकी चेष्टाका सर्वदा विचार करतारहै ॥ २६४ ॥

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ॥
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत् ॥ २६५ ॥

अर्थ—नहीं जीतीहुई भूमि आदिके जीतनेकी सदा इच्छा करै और अपनेको प्राप्त हुए भूमि आदि पदार्थोंकी रक्षा करनेका यत्न करै और रक्षा कियेहुए देश तथा सुवर्णआदिको सरोवर व कूप नहर और व्यापार आदिसे बढावै और बढेहुए द्रव्यआदिको विद्याभ्यासमें तथा शिल्पोन्नति धर्मोपदेश, तीर्थस्थान, दान आदिश्रेष्ठकर्मोंमें लगावै ॥२६८

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम् ॥
अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतंद्रितः ॥ २६६ ॥

अर्थ—यह उक्त चार प्रकारके कार्योंको इस लोक व परलोकके सुख देनेवाले पुरुषार्थका प्रयोजन समझना चाहिये इसीसे आलस्यरहित होके इस चतुर्विध कार्यको नित्यप्रति भले प्रकार सेवन करै ॥ २६६ ॥

अलब्धमिच्छेद्दंडेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ॥
रक्षितं वर्द्धयेद्वृद्ध्या वृद्धं दानेन निःक्षिपेत् ॥ २६७ ॥

अर्थ—नहीं प्राप्त हुए देश, धन आदिकी चतुरंगिनी सेनाके द्वारा प्राप्ति करै और प्राप्त हुए देश तथा धन आदिकी देखनेसे रक्षा करै। अर्थात् देशमें दौरा करके प्रजाके सुख दुःखको जानकर दशविध दुःखसे प्रजाकी रक्षा करै। और धनआदिकी देखनेसे रक्षा करै और रक्षा किये हुए देश धनआदिको विद्या कला शिल्प तथा जल स्थलके मार्गद्वारा वाणिज्य आदि बढानेके उपायोंसे बढावे और बढे हुए धनआदिको शास्त्रोक्तरीतिसे विभाग कर भोगमें आनै ॥ २६७ ॥

नित्यमुद्यतदंडः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ॥
नित्यं संवृतसर्वार्थो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः ॥ २६८ ॥

अर्थ—राजाको चाहिये कि, अपनी सेनाको नित्यप्रति व्यूहाभ्यास (कवायद) की शिक्षा देकर युद्ध करनेमें उद्यत करै और व्यूहाभ्यासकी शिक्षासे बढी हुई सर्वांगसे संवृत अत्यंत बलयुक्त सेनासे तथा नाना प्रकारकी शस्त्रविद्यासे नित्यप्रति अपने पुरुषार्थको प्रगट करता रहै और संमति आचार चेष्टा तथा गुप्त रखनेयोग्य यावन्मात्र

राज्यसंबंधी कार्योंको सदा गुप्त रक्खै और अपने शत्रुके व्यसन आदि विविध छिद्रोंको गुप्त चारोंके द्वारा देखनेमें लगा रहै ॥ २६८ ॥

नित्यमुद्यतदंडस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत् ॥
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दंडेनैव प्रसाधयेत् ॥ २६९ ॥

अर्थ-जिस राजाकी सेना युद्धशिक्षामें नित्य प्रबल है तथा जिस राजाके राज्यमें अपराधीको अपराधके अनुकूल सदा दंड दिया जाता है उस राजाके प्रबल दंडके डरसे डरता हुआ संपूर्ण जगत् अपनी मर्यादामें स्थिर रहता है तिस कारणसे राजाको चाहिये कि न्यायपूर्वक दंडके बरतावसेही सर्व जीवधारियोंको अपने वशमें करै ॥ २६९ ॥

अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया ॥
बुध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ २७० ॥

अर्थ-बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि, अपनी सर्वप्रकृतिमे कपट-रहित होके व्यवहार करै कदापि कपट नहीं करै क्योंकि कपट करनेमे किसीके भी विश्वास योग्य नहीं रहता, धर्मकी रक्षाके निमित्त सत्य-हीसे व्यवहार करै और अपने पक्षकी सदा यत्नसे रक्षा करता हुआ प्रजा आदिमें भेदके निमित्त शत्रुकी प्रवृत्त कीहुई माया (कपट) को गुप्त चारोंके द्वारा सदा जानै ॥ २७० ॥

नास्य च्छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु ॥
गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ २७१ ॥

अर्थ-राजाको ऐसा यत्न करना चाहिये कि शत्रु तथा प्रकृति आदि अपने व्यसन और प्रकृति भेद आदि छिद्रोंको कदापि नहीं जानसकै और अपने शत्रुका व्यसन तथा प्रकृति भेदमे निर्बलता आदि छिद्रोंको गुप्त चारोंके द्वारा जानै और कछुआ जैसे अपने मुख कर चरण आदि अंगोंको अपने देहमें छुपा लेता है वैसेही राज्यके अंगरूपिमंत्रिआदिको दान मान सत्कार आदिसे अपने वशीभूत

करलेवे और कदाचित् दैवसंयोगसे प्रकृति आदि भेदरूप छिद्रको प्राप्त होजाय तो यत्नसे उसको अलग करदेवै ॥ २७१ ॥

बकवच्चिंतयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ॥
वृकवच्चावलुंपेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ २७२ ॥

अर्थ-जैसे बगुला जलमें रहनेवाली अतिचंचलतायुक्त मच्छलीको पकडनेके लिये एकाग्रमनसे ध्यान लगाके चिंतवन करता है ऐसीही एकान्तमें रक्षायुक्त भी शत्रुके देश द्रव्य आदि पदार्थोंको लेनेका चिंतवन करै, और जैसे सिंह अति बलवान् दीर्घकाय हाथीको मारनेके निमित्त पराक्रम करता है ऐसेही द्रव्य, सेना, आदिकी वृद्धि करके बलवान् शत्रुको भी जीतनेके निमित्त संपूर्ण शक्तिसे चढाई करै । और जैसे चीता पालनेवालेसे रक्षा किये हुए भी पशुको रक्षककी असावधानीमें मारही लेता है ऐसेही दुर्ग आदिमें रक्षित भी शत्रुको समय पाके असावधानीमें मार लेवे जैसे खरगोश (खरहा) नाना प्रकारके धनुषधारी व्याधोंके बीचमें आके टेढी गतिसे उछलके भाग जाता है ऐसेही बलवान् शत्रुसे घेरे जानेपर किसी प्रकार शत्रुकी असावधानीमें धर्मिष्ठ बलवान् दूसरे राजाका आश्रय लेनेके निमित्त दूर चलाजावै ॥ २७२ ॥

एवं विजयमानस्य यस्य स्युः परिपंथिनः ॥
तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरुपक्रमैः ॥ २७३ ॥

अर्थ-इस प्रकार विजय करते हुए राजाके जो विरोधी हो उन सबको साम, दान, भेद, दंड उपायोंसे वशमें करै ॥ २७३ ॥

यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः ॥
दंडेनैव प्रसह्यैताञ्छनकैर्वशमानयेत् ॥ २७४ ॥

अर्थ-यदि विरोध करनेवाले शत्रु सामादि चार उपायोंके मध्ये प्रथम कहे हुए तीन उपाय साम, दान, भेदसे यदि वशीभूत नहीं हो तो उनको बलसे देश, द्रव्य आदिके बिगाडपूर्वक युद्धरूपी दंडसे शनैः २ वशमें करै ॥ २७४ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पंडिताः ॥
सामदंडौ प्रशंसांति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ २७५ ॥

अर्थ—सामादि चार उपायोंके मध्ये नीतिके ज्ञाता बुद्धिमान् मनुष्य देशकी वृद्धिके निमित्त सदा साम और दंडहीकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् सामदंडसे देशकी वृद्धि होती है वैसी दान भेदसे नहीं ॥ २७५ ॥

यथोद्धराति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ॥
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपंथिनः ॥ २७६ ॥

अर्थ—जैसे खेतमें साथ उत्पन्न हुए धान्य तृण आदिकोंमेंसे कृषक (निराव निरानेवाला) धान्यकी रक्षा करता है और तृणआदिको उखाडता है, वैसे ही राजा अपने राज्यमें सभ्य पुरुषआदिकी रक्षा करे और डाकू तथा दुष्ट सत्त्वोंको मारै ॥ २७६ ॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ॥
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबांधवः ॥ २७७ ॥

अर्थ—जो राजा मोहके वशीभूत होकर राज्यको न देखता हुआ दंड्य अदंड्यके विचारशून्य होकर नीतिसे विरुद्ध धन लेने तथा मारने आदि पीडासे प्रजाको कष्ट देता है वह मूढ राजा शीघ्रही राज्यसे भ्रष्ट होजाता है अर्थात् प्रजाको कष्ट देनेसे प्रजा भागजाती है वा विपरीत होके शत्रुका बल बढादेती है और प्रजा नष्ट होनेसे तथा अधर्म करनेसे राजाका जीवन निर्वाह भी नहीं होता और जीवन निर्वाह नहीं होनेसे बांधव भी त्यागदेते हैं ॥ २७७ ॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयंते प्राणिनां यथा ॥
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयंते राष्ट्रकर्षणात् ॥ २७८ ॥

अर्थ—जैसे आहार आदिकोंको रोकके शरीरको सुखा देनेसे मनुष्य आदिकोंके प्राण नष्ट होजाते हैं वैसेही अन्याय प्रवृत्तिके कारण प्रजा उजड होनेसे राजाके प्राण अर्थात् कोश, सेना, आदि बांधवोंसहित

नष्ट होजाते हैं इसीसे राजाको चाहिये कि, प्रजाकी अपने प्राणके समान रक्षा करै ॥ २७८ ॥

विक्रोशन्त्योऽथ यस्य राष्ट्राद्ध्रियंते दस्युभिः प्रजाः ॥
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥ २७९ ॥

अर्थ–मंत्री आदिकों समेत जिस राजाके देखते देशमेंसे पुकारती हुई प्रजाके धन, आदिको चौर आदि लूटते हों और उस भयसे प्रजाकी रक्षा नहीं करनेवाला राजा जीता हुआभी मृतकके समान है ॥ २७९ ॥

न कर्षयेत् प्रजां कार्यमिषतश्च नृपः कदा ॥
अपि स्थाणुवदासीत शुष्यन्परिगतः क्षुधा ॥ २८० ॥

अर्थ–राजाको चाहिये कि दैववश धन आदिके अभावमें क्षुधाको प्राप्त होके भी सूखा वृक्षके समान स्थित रहै परंतु किसीभी समयमें किसी कार्यके मिषसे प्रजाको धन, पुत्र, पशु आदिके हरनेसे दुःखित न करै ॥ २८० ॥

विद्यावत्सु शरच्चंद्रो निदाघार्को द्विषत्सु च ॥
प्रजासु च वसंतार्क एवं स्यात्त्रिविधो नृपः ॥ २८१ ॥

अर्थ–जैसे शरदृतुका चन्द्रमा सबको आनंददायी होता है वैसेही राजाभी विद्यावानोंके मध्यमें शरद्के चन्द्रमाकी समान वृत्तिको धारण करके सबको आनंदित करै और जैसे ज्येष्ठमासका सूर्य सबको तपाता है वैसेही शत्रुओंको अपना पराक्रमरूप तेज धारण करके तपायमान करै और जैसे वसंत ऋतुका सूर्य मध्यम वृत्तिको धारण करता है, वैसेही अत्यंत क्रूर और अत्यंत सरलभावको छोडके मध्यम वृत्तिसे अपनी प्रजाकी रक्षा करै–इस प्रकार कार्यभेदसे राजाको तीन प्रकारकी मूर्ति धारण करनी चाहिये ॥ २८१ ॥

व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ॥
मंत्रज्ञैर्मंत्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ २८२ ॥

अर्थ—अर्थी प्रत्यर्थी आदिके वाक्योंसे नाना प्रकारके संदेह दूर होनेका नाम व्यवहार है वक्ष्यमाण व्यवहारोंको देखनेकी इच्छा करनेवाला राजा श्रुति, स्मृति, तथा नीतिमें निपुण ब्राह्मणोंके सहित और संमतिके देनेवाले मंत्रियों सहित चपलतारहित एकाग्रमन होके न्यायालयमें प्रविष्ट होवे। यहां चपलतारहित इस कारण कहा है कि चपलता रखनेसे मुद्दई मुद्दायलेके कहे हुए वाक्योंको यथार्थ रूपसे नहीं विचार सकता ॥ २८२ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीतांगः समाहितः ॥
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत् ॥ २८३ ॥

अर्थ—धर्मज्ञ राजा न्यायके समय किसीका भी पक्षपात न करे पक्षपातको छोडके न्याय करनेसे राजाके न्यायासनको धर्मासन (धर्मराजका आसन) कहते हैं, इस कारण वस्त्रादि अलंकृत (अर्थात् सुंदर पोशाक आदि धारण करके) एकाग्र चित्त होकर न्यायासनपर बैठे और दश दिक्पालोंके अर्थ नमस्कार करके अपने देखने योग्य व्यवहारोंको आरंभ करे ॥ २८३ ॥

अर्थानर्थावुभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ॥
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ २८४ ॥

अर्थ—(प्रजारक्षण आदि) अनर्थ (अन्यायसे प्रजाकी पीडा आदि) इन दोनोंको जानके केवल धर्म तथा अधर्मके निर्णयके निमित्त अर्थी प्रत्यर्थी (मुद्दई मुद्दायले) के कार्य (मुकद्दमों) को बहुत वर्ण एकत्र होनेमें ब्राह्मण आदिके क्रमसे सब कार्योंको देखै ॥ २८४ ॥

बाह्यैर्विभावयेल्लिंगैर्भावमंतर्गतं नृणाम् ॥
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २८५ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि गद्गद आदि भाषणमें तथा मुखकी आकृति बदलके काली पीली होजानेमें तथा दृष्टिको नीची

देखके शरीरकी शिथिलता आदि होनेसे तथा देहमें पसीना आके रोमांच आदि होजानेसे, और नेत्रोंके विकार चपलता आदिसे तथा हाथ पैर आदिकी चपलता इत्यादि बाह्य विकारोंसे मुद्दई मुद्दायले आदि सब मनुष्योंके मनकी वृत्तिको पहचानके कार्याकार्यका निश्चय करै ॥ २८५ ॥

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ॥
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक्पृथक् ॥ २८६ ॥

अर्थ–राजा सभासदोंसहित आगे कहे अठारह प्रकारके व्यवहारोंमें निबद्ध ऋणादानआदि कार्योंको दिनादिनप्रति शिष्टपुरुषोंके स्थापन किये हुए देशाचार, कुलाचार, साक्षी आदिसे और शास्त्रोक्त दिव्य आदि हेतुसे पृथक् पृथक् विचारै ॥ २८६ ॥

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपो स्वामिविक्रयः ॥ संभूयश्च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ २८७ ॥ वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ॥ क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ २८८ ॥ सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दंडवाचिके ॥ स्तेयं च साहसं चैव स्त्री-संग्रहणमेव च ॥ २८९ ॥ स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च ॥ पदान्यष्टादशैतानि व्यवहार-स्थिताविति ॥ २९० ॥ एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ॥ धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्य-विनिर्णयम् ॥ २९१ ॥

अर्थ–अठारह प्रकारके मार्ग ये हैं कि, १ ऋणादान (किसीसे कर्ज लेने देनेका विवाद) २ निक्षेप (धरोहर किसीने किसीके पास पदार्थ धरा हो और माँगनेपर नहीं देना) ३ अस्वामि विक्रय (दूस-

रेके पदार्थको पदार्थके स्वामीके विना कहे दूसरा बेचदेवे) ४ संभूय समुत्थानं (एक संमति करके किसीपैं आक्रमण करना, वा इकट्ठे होके व्यापारादि करना) ५ दत्तस्यानपकर्म (किसीको कोईभी पदार्थ देनेके लिये कहकर अपात्र बुद्धिसे व लोभसे न देना) ६ वेतनस्यैव चादानं (किसीकी तनखाहमेंसे लेलेना तथा कम देना) ७ संविदश्च व्यतिक्रमः (किसी व्यवहारके निमित्त की हुई व्यवस्थाको उल्लंघन करदेना (करारको बदल देना) ८ क्रयविक्रयानुशयः (किसी पदार्थके लेने देनेमें संदेह उत्पन्न करके नटजाना) ९ विवादः स्वामिपालयोः (किसी पदार्थके स्वामी और वेतनसे नियुक्त पालनेवालेमें परस्पर झगडा होना) १० सीमाविवादधर्मः (ग्रामआदिकी सीमाका झगडा) ११ दंडपारुष्यं (किसीको कठोर दंड देना) १२ वाक्पारुष्यं (किसीको अयोग्य वाक्य कहना अर्थात् मानहानि करना गाली देना) १३ स्तेयं (किसीका धन आदि चोरलेना) १४ साहसं (किसीसे बलपूर्वक लेख आदि लिखालेना, व धन आदि छीनलेना) १५ स्त्रीसंग्रहणं (किसीकी स्त्रीसे बलात्कार कुचेष्टा करनी) १६ स्त्रीपुंधर्मः (स्त्री और पुरुषके धर्ममें व्यतिक्रम होना) १७ विभाग (पिता आदिके धन आदिके विभाग) १८ द्यूतमाह्वयः (धन आदि जडपदार्थको तथा पशुआदि चेतन जीवको दावमें लगाके जुआ खेलना) ये अठारह प्रकारके परस्पर विरुद्ध व्यवहारके स्थान हैं । इन ऋणादानादि अठारह प्रकारके व्यवहार स्थानोंमें बहुधा विवाद करनेवाले मनुष्योंके अनादि तथा परंपरासे चले आये हुए नित्यधर्मका आश्रय लेके राजा कार्यका निर्णय करे इस स्थानमें भूयिष्ठशब्दके देनेसे मनुजीका यह अभिप्राय विदित होता है कि, इन अठारहप्रकारके व्यवहारस्थानोंसे अन्यभी बहुतसे व्यवहारस्थान हैं उसमेंभी परस्पर विवादका यथार्थ निर्णय करै ॥२८७-२९१॥

बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत् ॥
यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २९२ ॥

अर्थ–राजाको चाहिये कि, अपने राज्यमें जिसका पिता मरजाय उस बालकके धनकी अपने धनके समान तबतक रक्षा करै कि, जब तक वह बालक संपूर्ण विद्या पढके चौबीस वर्षसे अधिक आयु-वाला होजाय, यह नियम ब्रह्मचर्यपूर्वक संपूर्ण वेद तथा सर्वविद्या कलादि पढनेवाले द्विजातियोंके निमित्त कहा है इस कारण राजा अनाथ बालकके धनकी रक्षा करता हुआ उस बालकको पूर्ण विद्याभ्यास कराके विविध व्यवहारोंमें सावधान होनेके उपरांत पिताके धनका स्वामी करै और जिन जिन जातिमें ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास करानेके नियम नहीं हैं, उन जातिके अनाथ बालकके धनकी तबतक रक्षा करे कि, जबतक वह बालक सोलह वर्षसे अधिक वयवाला होके सब व्यवहारोंमें सावधान होजाय ॥ २९२ ॥

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् ॥
अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥२९३॥

अर्थ–जिस धनके मालिकका निश्चय नहीं हो और वह धन रक्षाके लिये भ्रमण करते हुए राजपुरुषोंको मिलगया हो तो उस धनको राजा अपने द्वार आदिपै रखकर डौंडी पिटवादे कि, किसीका कोई पदार्थ खोयागया होवे तो आकर लक्ष आदि सूचित करे यदि डौंडी पिटवानेके उपरान्त तीन वर्षोंके भीतर उस धनका स्वामी निश्चय होजाय तो उनको देदै स्वामी निश्चय नहीं हो तो तीन वर्षोंके उप-रान्त उस धनका स्वामी राजा होताहै अर्थात् उसे नीलाम करदै ॥ २९३ ॥

आददीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतान्नृपः ॥
दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २९४ ॥

अर्थ–श्रेष्ठ मुनियोंके प्रवृत्त किये हुए धर्मको आदर करता हुआ राजा जो खोया हुआ धन अपनेको प्राप्त हुआ है उस धनके स्वामीका निश्चय होने पर रक्षाके अनुकूल तथा धनके स्वामीकी योग्यताके अनुकूल उस धनमेंसे छठे भाग, वा दशमें भाग, वा बारहवें भागको ग्रहण करै, और शेष रहा धन स्वामीको देदै ॥ २९४ ॥

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरैर्हृतं धनम् ॥
राजा तदुपयुंजानश्चौरस्याप्नोति किल्बिषम् ॥२९५॥

अर्थ—राजाको चाहिये कि चोरोंसे हरे हुए धनको पुलीस द्वारा चोरोंसे मंगवाके धनके स्वामीको देदै उस धनमेंसे उक्त भागको नहीं ले क्योंकि, उस धनके भोगनेवाला राजा चोरके पापको प्राप्त होता है ॥ २९५ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा वाप्यस्य पूरुषः ॥
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ २९६ ॥

अर्थ—राजा वा राजाके नियत किये हुए प्राड्विवाक आदि धन आदिके लोभसे अर्थी प्रत्यर्थी (मुदई मुदायले) आदिके प्रार्थना किये विना ऋण आदिके झगडोंको आप उत्पन्न न करै (अर्थात् मुदई मुदायलेके पुकार करनेके विना धनके लोभसे किसीको नहीं बुलावै न दंड देवै) और अर्थी अथवा प्रत्यर्थी आदिके कहनेपर किसीभी प्रकार धन आदिके लोभसे कार्यकी वेपरवाही न करै अर्थात् सुनके फैसला करदेवै ॥ २९६ ॥

अधमर्णार्थसिद्ध्यर्थमुत्तमर्णेन चोदितः ॥
दापयेद्धनिकस्यार्थमधमर्णाद्विभावितम् ॥ २९७ ॥

अर्थ—ऋण (कर्ज) लेनेवाला यदि ऋण देनेवाले धनीका धन नहीं देवे तो ऋण देनेवाला धनी अपना धन लेनेके निमित्त राजाके पास निवेदन करै तो धनीके सूचित करने पर लेख आदिसे निश्चय किया हुआ धन धनीको (ऋण देनेवाले मुदईको) आगे कहे उपायोंसे ऋण लेनेवालेके पाससे दिलावे ॥ २९७ ॥

यैर्यैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः ॥
तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ २९८ ॥

अर्थ—वक्ष्यमाण जिन जिन उपायोंसे धन देनेवाले धनीको अपना

धन प्राप्त होजाय उन उन उपायोंसे कर्ज लेनेवालेको वशमें करके धनीका धन दिलादे ॥ २९८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च ॥
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पंचमेन बलेन च ॥ २९९ ॥

अर्थ—धर्म अर्थात् सामसे समझाके, व्यवहार अर्थात् कृषि, वाणिज्य आदि व्यवहार कराके, छल अर्थात् कर्जदारके पाससे कोई पदार्थ किसी मिषसे मांगके फिर नहीं देना, आचरित अर्थात् धन पशु आदिको बेंचके ऋण दिलाना, बल अर्थात् बन्दी (कैद) करके ऋण दिलादेना, उक्त उपायोंके मध्यमेंसे किसीभी उपायसे कर्जदारको वशमें करके धनीको धन दिलावै ॥ २९९ ॥

अपह्नवेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ॥
अभियोक्तादिशेद्देश्यं कारणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ३०० ॥

अर्थ—यदि कर्ज लेनेवाला किसी धनीसे कर्ज्ज लेकर फिर धनीके मांगनेपर नटजाय कि, मैंने इससे कर्ज्ज नहीं लिया ऐसे कहनेपर प्राड्विवाक (न्याई) के सामने धनी अपना लेख तथा धन देनेके समय साक्षी होवैं उनको उपस्थित करै कारण कि बहुधा स्त्री मूर्ख आदिके धनका निर्णय साक्षियोंसेही होना है इसीसे प्रथम साक्षी देवै तथा लेख आदि दिखावै ॥ ३०० ॥

साक्षिणः संति मेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिशेन्न यः ॥
धर्मस्थः कारणैरेतैर्हीनं तदपि निर्दिशेत् ॥ ३०१ ॥

अर्थ—जो मुद्दई मुद्दायले सभामें जाके कहै कि, इस कार्यके विषयमें मेरे साक्षी विद्यमान हैं तो ऐसे कहनेपर प्राड्विवाक उसको साक्षी बुलानेकी आज्ञा दे फिर वह अपने साक्षियोंको उपस्थित न करै तौ धर्ममें स्थित प्राड्विवाक इन कारणोंसे उसको मुकद्दमेंसे हारा हुआ समझै ॥ ३०१ ॥

अभियोक्ता न चेद्ब्रूयाद्वध्यो दंडयश्च धर्मतः ॥
न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः ॥३०२॥

अर्थ—जो अर्थी (मुद्दई) राजाके प्रति किसी विषयकी अर्जी देके फिर इजहार लेनेके समय भाषामें उस कार्यको खुलासा नहीं कहै तो भारी मुकद्दमेकी अपेक्षासे वध्यके योग्य होताहै, और हलकेसे धर्मपूर्वक दंडके योग्य होताहै और प्रत्यर्थी (मुद्दायले) यदि पैंतालीस दिनोंतक अपनी मानहानिकी पुष्टक निमित्त अभियोग (नालिश) नहीं करे व पैंतालीस दिन पर्यंत अपने मुकद्दमेकी अपील नहीं करै तौ वह धर्मसे हारा है छलसे नहीं ॥ ३०२ ॥

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ॥
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥ ३०३ ॥

अर्थ—सर्व वर्णोंमें सत्य बोलनेवाले प्रामाणिक पुरुष, और संपूर्ण धर्मोंको जाननेवाले और लोभसे वर्जित ऐसे मनुष्योंको ही न्यायके कार्योंमें साक्षी करने चाहिये इनसे विपरीतोंको नहीं अर्थात् साक्षी प्रामाणिक पुरुषोंकी मानी जाती है धूर्तोंकी नहीं ॥ ३०३ ॥

सभांतः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ॥
प्राड्विवाको नियुंजीत विधिनानेन सांत्वयन् ॥३०४॥

अर्थ—सभामें आये हुए साक्षियोंसे वादी प्रतिवादीके सामने फौजदारी वा दीवाणीका हाकिम (अफसर) आगे कही विधिसे वहुत संतोष देता हुआ कार्य पूछै ॥ ३०४ ॥

यद्द्वयोरनयोर्वेत्थं कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ॥
तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिणः ॥ ३०५ ॥

अर्थ—इन दोनों वादी प्रतिवादीके इस कार्यमें जो वार्ता आप जानते हों वह सत्यपूर्वक कहो क्यों कि इस कार्यके सत्यासत्य निर्धारमें आपही साक्षी हैं ॥ ३०५ ॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन् साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ॥
इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ३०६ ॥

अर्थ—जो साक्षी साक्षी देने रूप अपने काममें सत्य बोलता है वह साक्षी जन्मांतरमें ब्रह्मलोक आदि लोकोंमें निवास करता है और इस लोकमें अत्यंत उत्तम कीर्तिको प्राप्त होता है क्योंकि यह सत्यरूप वाणीही वेदोंमें सराही गई है ॥ ३०६ ॥

साक्ष्येनृतं वदन् पाशैर्बध्यते वारुणैर्भृशम् ॥
विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥३०७॥

अर्थ-साक्षीमें झूठ बोलता हुआ जलोंको वहनेवाली सर्परूपी नसोंसे बंधके जलोदररोगसे पीडित होकर सौ जन्मपर्यंत विवश रहता है इससे साक्षीको चाहिये कि, साक्षीमें झूठ न बोलै ॥ ३०७ ॥

मन्यंते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः ॥
तांस्तु देवाः प्रपश्यंति स्वस्यैवांतरपूरुषः ॥ ३०८ ॥

अर्थ—जा कोई पाप करनेवाले यों जानते हैं कि मुझको इस पाप करनेमें कोई भी नहीं देखता है उन्हें ऐसा नहीं जानना चाहिये कारण कि उन गुप्त पाप करनेवालोंको सूर्य चंद्र पृथ्वी आदि देवता देखते हैं और अपनेमें स्थित परमेश्वर रूप जीवात्मा अवश्य देखता है इससे झूठ न बोलै ॥ ३०८ ॥

ब्रह्मघ्नस्य स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः ॥
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य ते ते स्युर्ब्रुवतो मृषाः ॥ ३०९ ॥

अर्थ—ब्राह्मणके मारनेवालेको जो नरक आदि लोकप्राप्ति होती हैं और स्त्री तथा बालघातिको और मित्रद्रोही तथा कृतघ्नी (परोपकारको नहीं माननेवाले) को जो जो लोक मिलते हैं वे ही नरक आदि लोक झूंठी गवाही देनेवालेको प्राप्त होते हैं इससे सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ३०९ ॥

असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः ॥
अविंदंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लंभयेत् ॥ ३१० ॥

अर्थ-जिन कार्योंमें साक्षी नहीं होवे उन कार्योंमें परस्पर विवाद करते हुए वादी प्रतिवादीके कपटोंसे यथार्थ सत्यको नहीं जानता हुआ प्राड्विवाक वहां शास्त्रोक्त शपथ (सौगंद) से कार्यकी सत्यताको जानै ॥ ३१० ॥

यः कौटसाक्ष्यं कुर्वाणाँस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ॥
प्रवासयेद्दंडयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ॥ ३११ ॥

अर्थ-धर्मात्मा राजाको चाहिये कि झूंठी गवाही देनेवाले क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्रको अपराधके अनुकूल धनदंड देकै अपने देशमेंसे निकालदे और झूंठी गवाही देनेवाले ब्राह्मणको भी धनदंडके विनाही देशसे निकाल देवे ॥ ३११ ॥

अधर्मदंडनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ॥
अस्वर्ग्यं च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ ३१२ ॥

अर्थ-अन्यायसे दंड देनेवाले राजाका इस लोकमें यश नाश हो जाता है और मरनेके पीछे भी निंदा ही शेष रहजाती है और स्वर्ग-आदिकी प्राप्तिके निमित्त किये हुए कर्म भी परलोकमें अधर्मदंडके प्रभावसे निष्फल होजाते हैं ॥ ३१२ ॥

अदंड्यान्दंडयन्राजा दंड्यांश्चैवाप्यदंडयन् ॥
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥ ३१३ ॥

अर्थ-जो दंडके योग्य नहीं हैं उनको धन आदिके लोभसे दंड देताहुआ और दंडके योग्यको अनुरोधसे दंड नहीं देता हुआ राजा इस लोकमें महान् अपयशको प्राप्त होता है और मरके नरकको प्राप्त होता है ॥ ३१३ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति ॥
यथा यथा महद्दुःखं दंडं कुर्यात्तथातथा ॥ २१४ ॥

अर्थ—मनुष्योंको तथा पशुओंको पीडा देनेके निमित्त जो प्रहार करनेपर जैसी जैसी पीडाकी आधिक्यता होय वैसा वैसा दंडभी अधिक करै कारण कि मर्मस्थान आदिके भेदन करनेसे तथा चर्म-भेदन करनेसे अस्थि आदिके तोडनेसे तथा प्राणान्त करनेसे देश-कालके अनुकूल दंडकीभी प्रबलता होती है ॥ २१४ ॥

छेदने चैव यंत्राणां योक्ररश्म्योस्तथैव च ॥
आक्रंदे चाप्यपैहीति न दंडं मनुरब्रवीत् ॥ २१५ ॥

अर्थ—यान (बग्घी आदि) के यंत्र आदि टूटजानेसे तथा जोत-या बागडोर आदि टूटजानेसे और सारथी आदिके मुखसे हटजाओ हटजाओ ऐसा शब्द सुनादेनेके उपरांत यदि उन यानसे मनुष्य आदिकी हानि बाधा होजाय तौ वहां मनुजी कहते हैं कि सारथी आदि दंड देनेके योग्य नहीं होते ॥ २१५ ॥

यत्रापवर्तते युग्यं वैगुण्यात् प्राजकस्य तु ॥
तत्र स्वामी भवेद्दंड्यो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २१६ ॥

अर्थ—जहां सारथीकी मूर्खता (रथ बग्घीआदि नहीं चलाजानने) से यदि रथ आदि मार्गको छोडके चलै और उससे हानि होजाय तौ वहां रथआदिका स्वामीही दो सौ पण (पइसा) दंड करने योग्य होता है क्योंकि मूर्ख सारथी रखनेसे यह दोष रथके स्वामीका ही है ॥ २१६ ॥

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दंडमर्हति ॥
युग्यस्था प्राजकेनाप्ते सर्वे दंड्याः शतं शतम् ॥ २१७ ॥

अर्थ—जहां सारथी चतुर होनेपरभी यदि रथआदिसे किसी भी प्रकार प्रमादके कारण हिंसाआदि दोष होजाय तौ वहां सारथीही दंडके योग्य होताहै और धनके लोभसे कम किराया देकर जान बूझके

असावधान मारथीके रथआदिपै बैठके चलनेपर किसी प्रकार हानि आदि दोष होजाय तौ वहां बैठनेवालोंके सौ सौ पण पृथक् २ दंड करना चाहिये ॥ ३१७ ॥

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ॥
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्तेत पितृवन्नृषु ॥ ३१८ ॥

अर्थ-राजा अपने राष्ट्रसे वार्षिकलगान वा धान्य आदिके विभाग लेनेके निमित्त श्रेष्ठ पुरुषोंको भेजै, और प्रजाके रक्षा आदि सर्व कार्योंको शास्त्ररीतिसे करै तथा अपने राज्यमें अपनी प्रजाको पुत्रवत् मानै ॥ ३१८ ॥

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः ॥
न चादेयं समृद्धोपि सूक्ष्ममप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ ३१९ ॥

अर्थ-धनआदि क्षीण होजानेपर भी राजा नहीं लेने योग्य धनको कदापि नहीं लेवै और अतिधनाढ्य होनेपरभी लेने योग्य थोडाभी धन (छदामकी कौडी) भी न छोडे ॥ ३१९ ॥

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात् ॥
दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह च नश्यति॥३२०॥

अर्थ-नहीं लेने योग्य धन आदिके लेनेसे, और शास्त्रोंमें कहे हुए लेने योग्यभी धनआदिके नहीं लेनेसे राजाकी दुर्बलता विख्यात होती है और नहीं लेने योग्य धनआदिके लेनेसे मरके नरकमें जाता है और लेने योग्यको छोडदेनेसे कोश नष्ट होनेके कारण दरिद्रताको भोगता है ॥ ३२० ॥

यः काकिणिं चाप्यपथप्रपन्नां समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम्॥ कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्तस्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः ॥ ३२१ ॥

अर्थ—जो राजा व्यर्थ जाती छदामकी कौडियोंको भी हजार मोहरके तुल्य जानकर व्यर्थ नहीं जानेदे और व्यय करनेके समय करोड-रुपियोंकोभी कुछ नहीं समझे उस राजसिंहको राज्यलक्ष्मी कदापि नहीं त्यागती ॥ ३२१ ॥

वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्द्धिनीम् ॥
अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शतैः ३२२॥

अर्थ—वसिष्ठजीकी कही हुई वृद्धि (व्याज) धनकी बढानेवाली है उसको व्याजसे जीविका करनेवाला सदा लेवे वह वृद्धि यही है कि, सौ रुपये आदि देनेपर मासमासके प्रति उसका अस्सीवां भाग अर्थात् सवा रुपया और सौ मोहर पै सवा मोहर लेवै ॥ ३२२ ॥

अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबंधके ॥
वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपंचकमन्यथा ॥ ३२३ ॥

अर्थ—सुवर्ण आदि गिरवी रखके रुपये देनेपर मासमासमें सौ रुप-येपर सवारुपया व्याज लेना होता है और विनागिरवी रखे कर्ज देने-पर ब्राह्मण आदिवर्णोंको क्रमसे सौ रुपयोंपर दो तीन चार पांच रुपया मासमासके प्रति व्याज देना होता है ॥ ३२३ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालौ व्यवस्थितः ॥
अतिक्रामन् देशकालौ न तत् फलमवाप्नुयात्॥३२४॥

अर्थ—यहां चक्रवृद्धिशब्दसे चक्रवाले छकडे (बैल गाडी) आदिके किरायेकी वृद्धि कही है, छकडे आदिके भाडेसे जीविका करने-वाला देश तथा कालकी व्यवस्थासे युक्त होताहै जैसे पुष्करसे काशीतक इस छकडेमें बैठाके लेजाऊंगा जिसका आपको दश रुपये देना होगा इसको देशव्यवस्था कहते हैं और एक महीनेतक इस छकडेसे आपके कार्यको करता रहूंगा तो पन्द्रह रुपये लूंगा इसको कालव्यवस्था कहते हैं यदि दैव संयोगसे देश तथा कालकी व्यवस्था

उल्लंघन होजाय अर्थात् छकडा काशीतक नहीं जासके वा एक मास-पर्यंत कार्य नहीं करसके तो उक्त द्रव्य नहीं मिलता ॥ ३२४ ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ॥
स्थापयंति तु यां वृद्धिं सातत्राधिगमं प्रति ॥ ३२५ ॥

अर्थ-व्यापार आदिके लिये समुद्रयात्रा करनेमें कुशल और देश तथा कालसे अर्थवृद्धिको जाननेवाले अर्थात् जल तथा स्थलके मार्गके जानेमें चतुर और इतने देशतक तथा इतने कालतक लेजानेमें इतना किराया लेना योग्य है इस भांति देश तथा कालके लाभरूप धनके जाननेवाले वैश्य आदि उस विषयमें जिस कियाको स्थापन करै वहां वही व्यवस्था है और वहां वही वृद्धिके धनकी प्राप्तिमें प्रमाण है ॥ ३२५ ॥

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च ॥
सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथैश्चैव वैदिकैः ॥ ३२६ ॥

अर्थ-धरोहरके छुरानेवाले, तथा विना रक्खे मांगनेवालेको राजा साम आदि सब उपायोंसे तथा वेदमें कहेहुए यथायोग्य सौगन्दोंसे निश्चय करै ॥ ३२६ ॥

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते ॥
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौ वा तत्समं दमम् ३२७॥

अर्थ-जो किसीकी धरोहर रखके फिर मांगनेपर न दे और जो विना रक्खे मांगै वे दोनोंही चौरके समान दंडके योग्य हैं वा धरोहरके द्रव्यके समान दंड देने योग्य है ॥ ३२७ ॥

उपधाभिश्च यः कश्चित् परद्रव्यं हरेन्नरः ॥
ससहायः स हंतव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ ३२८ ॥

अर्थ-राजा तुमपर क्रोधित है तुम मुझे इतना धन दो तो मैं तुमको बचादूंगा वा इतनी चांदी देनेसे इतना सोना बनादूंगा वा इतना द्रव्य देनेसे ऐसी कन्या दूंगा इत्यादि कपटसे जो कोई मनुष्य दूस-

रेके द्रव्यको हरता है, वह छलसे पराये धनको लेनेवाला अपने सहायकों सहित बहुत मनुष्योंके आगे हाथ आदि छेदनरूप नाना प्रकारके वधसे मारनेके योग्य है ॥ ३२८ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम् ॥
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत् ॥३२९॥

अर्थ–धर्मके अर्थ याचना करते हुए किसीको धर्मके लिये जिसने धनदान दियाहै और धन लेजानेके पश्चात् वह उस धनको धर्मार्थ नहीं लगावे तथापि उस धनपै दान देनेवालेका स्वामित्व नहीं रहता, और धर्मार्थनहीं लगानेमें तथा दान लेनेवालेके प्राणान्त होजानेपरभी दाता उस धनको अन्यके निमित्त नहीं देसकता ॥ ३२९ ॥

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याज्यो याज्यं चर्त्विक् त्यजेद्यदि ॥
शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तयोर्दंडः शतं शतम् ॥ ३३० ॥

अर्थ–जो यजमान दुष्टचेष्टासे रहित कर्मकाण्ड करानेमें समर्थ ऋत्विजको निरपराध त्यागदे और दुष्टकर्मोंसे रहित कर्मकांड करनेमें भक्तियुक्त यजमानको यदि ऋत्विज छोडदेवै तौ राजाको चाहिये कि, इन दोनोंको सौ सौ पण दंड दै अर्थात् विना अपराध किसीको कोईभी त्याग दे तौ उसको अवश्य दंड दे ॥ ३३० ॥

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमर्हति ॥
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दंड्यः शतानि षट् ॥ ३३१ ॥

अर्थ–माता, पिता, और स्त्री तथा पुत्र ये चारोंही पालन, पोषण सेवा आदि नहीं करतेहो तथापि पतित होनेके विना त्यागने योग्य नहीं होते जो कोई पतित (जातिभ्रंश) होनेके विना इन्होंको त्यागदे तौ राजाको चाहिये कि, इन एक एकके छोडनेमें उसके छः सौ पण दंड करै ॥ ३३१ ॥

आगमं निर्गमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभौ ॥
विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत् क्रयविक्रयौ ॥ ३३२ ॥

अर्थ-यह वाणिज्यकी जिनस कितनी दूरसे आई है और यह पदार्थ यहांसे किस देशतक विकनेको जाताहै और अपने देशमें उत्पन्न हुई वस्तु कितने दिन यहां रही और इस जिनसके बेचनेमें लाभ तथा हानि क्या होतीहै ऐसे धान्य वस्त्र आदि वाणिज्यके सब पदार्थोंका विचार करके लेने देनेवालोंको जैसे पीडा नहीं होवे वैसा भाव (निरख) अपने राज्यमें लेनदेनके लिये नियत करै ॥ ३३२ ॥

पंचरात्रे पंचरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते ॥
कुर्वीत चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनं नृपः ॥ ३३३ ॥

अर्थ-व्यापारकी वस्तुओंका आनाजाना नियत नहीं होता इस कारण अस्थिरमोलकी वस्तुओंका तौ पांच पांच रात्रि बीतनेपर और स्थिरमोलकी वस्तुओंका एक एक पक्ष (पंद्रह दिन) बीतने पर वस्तुका भाव नियत दिनपर्यंत न्यून न करनेके लिये व्योपार करनेवाले व्योपारी आदिके सामने राजा आप्त पुरुषोंके साथ भाव (निरख) नियत करै ॥ ३३३ ॥

तुलामानं प्रतिमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम् ॥
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत् ॥ ३३४ ॥

अर्थ-राजाको चाहिये कि, सुवर्ण आदि तोलनेके बाटों (तोले आदि) को और धान्य आदि तोलनेके आढक (सेर) वा कुडव (पाव) सेर आदि बाटोंको और वस्त्रआदि व्यवहारके लिये गज आदिको सर्वसाधारण पुरुषोंके जाननेके निमित्त राजा इनको राज्य-चिह्नसे अंकित करै, अर्थात् छाप लगादेवे और कमती बढती करनेके भयसे छः छः महीने बीतनेपर सभ्यपुरुषोंके साथ राजा इन उक्त बाट आदिकी फिर परीक्षा कियाकरै ॥ ३३४ ॥

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मांतान्वाहनानि च ॥
आयव्ययौ च नियतावाकरान् कोशमेव च ॥ ३३५ ॥

अर्थ-राजा प्रारंभ किये हुए कार्योंकी सिद्धिको प्रतिदिन उनके अधिकारियोंके द्वारा दीखै ऐसेही हाथी, घोडे आदि वाहनोंको भी देखै और नित्य आमदनी तथा खर्चको और सुवर्ण आदिके उत्पत्ति-स्थानोंको और खजानेको अधिकारियोंके द्वारा सदा देखै, व्यवहा-रोंको देखनेमें असमर्थ भी राजा अपने कार्यको न छोडै अर्थात् असामर्थ्य होनेमें पत्रद्वारा खबर नित्य मंगावै ॥ ३३५ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ॥
न साहसिकदंडघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ ३३६ ॥

अर्थ-जिस राजाके राज्यमें दंडके भयसे चौर नहीं है और परायेकी स्त्रीसे गमन करनेवाला नहीं और कठोर वाक्य बोलनेवाला, वा झूठ बोलके किसीके व्यर्थ कलंक लगानेवाला और घरों आदिके जलानेमें साहस करनेवाला दंडपारुष्य करनेवाला (किसीको राजाकी आज्ञाके विना दंड देनेवाला वा अधिक दंड देनेवाला) नहीं है वह राजा स्वर्गमें आनंद भोगनेवाला होता है ॥ ३३६ ॥

एतेषां निग्रहो राज्ञः पंचानां विषये स्वके ॥
साम्राज्यकृत्सजात्येषु लोके चैव यशस्करः ॥ ३३७॥

अर्थ-जिस राजाने अपने राज्यभरमें चोर आदि इन पांचोंको दंड देकर चोरी आदिसे निवृत्त कर दिये है, वह राजा सब राजाओंमें अधिराज होजाता है, और लोकमें यशका भागी होता है ॥३३७॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ॥
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्याद्विवासनम् ॥ ३३८ ॥

अर्थ-जो पापचेष्टावाले अधिकारी कार्यके निमित्त आये हुए अर्थी प्रत्यर्थीसे यदि घूंस (रिस्वत) लेले तौ उन दुष्टोंके सब धनको छीनके राजा अपने देशसे निकाल दे क्योंकि दुष्टोंपै दया करनेसे राजा उनके किये हुए पापोंका भागी होता है ॥ ३३८ ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात् कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥ ३३९ ॥

अर्थ-जो राजा कार्य विशेषको देखके कार्यके अनुकूल तीक्ष्ण-वृत्ति तथा कोमल वृत्तिको धारण करताहै, सदा एकवृत्तिमें नहीं रहता वह तीक्ष्ण स्वभावयुक्त और मृदुस्वभावयुक्त ही राजा सर्व प्रजाको प्रिय होताहै इसीसे राजाको समय और कार्यके अनुकूलही वृत्ति धारण करनी चाहिये ॥ ३३९ ॥

आज्ञाभंगकरान् राजा न सहेत्स्व सुतानपि ॥
विशेषः कोऽत्र राज्ञश्च राज्ञश्चित्रग तस्य च ॥ ३४० ॥

अर्थ-राजा आज्ञाभंग करनेवाले अपने पुत्रोंकोभी सहन न करै अर्थात् आज्ञा भंग करनेवाले पुत्रकोभी दंडदे (तो अन्यपुरुषोंको दंड देनेमें क्या आश्चर्य है) यदि आज्ञा भंग करनेवालेको दंड न देवै तो चित्रसमान है अर्थात् शरीरधारी राजामें और चित्रमें कोई भेद नहीं ॥ ३४० ॥

एवं सर्वानिमान् राजा व्यवहारान् समापयन् ॥
व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ-इस प्रकार उक्तरीतिसे इन ऋणादान आदि सर्व व्यवहारोंको यथार्थ निर्णयपूर्वक समाप्त करता हुआ राजा संपूर्ण पापोंसे छूटके स्वर्गलोक आदि उत्कृष्टगतिको प्राप्त होता है ॥ ३४१ ॥

इति राजधर्माः ।

अथ राजाश्रितकार्यम् ।

चारान् मंत्रं च कोशञ्च दंडं चैव विशेषतः ॥
अनुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥३४२॥

अर्थ–इन चार बातोंको राजा सदा अपने अधीन रक्खै १ चार अर्थात् (गुप्त विचरनेवाले दूत व प्रसिद्ध समाचारके देनेवाले दूत ये अपनी आज्ञाके बिना कहीं भी न जाय) और २ मंत्र (अर्थात् साम आदि किसीसे करना हो तो राजाकी संमतिके विना कोई न करै) और ३ कोश (अर्थात् खजानेसे राजाकी मोहरयुक्त आज्ञाके विना खजांची किसीको एकभी पैसा न दै) और ४ दंड (अर्थात् सेनाको राजाके हुक्मके विना कोई भी कहां नहीं लेजासके तथा धनदंड वधदंड राजाकी आज्ञाके विना कोई भी न देवै जिसमें भी सेना तो सदा राजाकेही अधीन रहनी चाहिये) संपूर्ण राज्यका मूल सेना है ये चारों ही कार्य विशेष करके राजाकेही आश्रय रहने योग्य हैं क्यों कि इन चारोंहीमें सब राज्यकी स्थिति है ॥ ३४२ ॥

अर्थदंडवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि ॥
तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः ॥ ३४३ ॥
द्विगुणं दंडमादाय पुनस्तत्कार्यमुद्धरेत् ॥
साक्षिसभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः ॥ ३४४ ॥

अर्थ–अर्थ दंड (किसीका धन हरके देशसे निकाल देना वा जुर्माना करना) और वधदंड (किसीको फांसी आदिसे मारना) ये दोनों दंड राजाकी आज्ञाके विना कोईभी नहीं करै और अर्थी प्रत्यर्थी न्यायपूर्वक दी हुई राजा वा प्राड्विवाक आदिकी आज्ञाको तथा शिक्षाको अपनी अज्ञानतासे किसी प्रकार अधर्मसे हुई मानके फिर अपने हठसे अपील करै तौ उस अर्थी और प्रत्यर्थीसे प्रथम किये हुए दंडका द्विगुण दंड लेनेके लिये इकरार लिखाके राजा धर्मपूर्वक उसके कार्यका फिर शोधन (तहकीकात) करै और साक्षी तथा सभासदों

(सभावालों) की भूलसे भी किसी प्रकार अभियोग (मुकद्दमें) में दोष दीखै तौ फिर सावधानीसे उस कार्यकी राजा जांच करै ३४३॥ ३४४

अमात्यः प्राड्विवाको वा ये कुर्युः कार्यमन्यथा ॥
त्रिपक्षाभ्यंतरे राजा कार्यिभ्यश्च निवेदितः ॥ ३४५ ॥

अर्थ–अमात्य तथा प्राड्विवाक तथा सभासद ये किसी प्रकार पक्षपातसे कार्यको उलटा करदें तो पैंतालिस दिनोंके भीतर अर्थी प्रत्यर्थीसे निवेदन किया हुआ राजा (अपील करनेपर) सुने॥ ३४५॥

तत्सर्वं हि स्वयं कुर्यात्तान्सहस्रं तु दंडयेत् ॥
नहि जातु विना दंडं कश्चिन्मार्गेऽवतिष्ठते ॥ ३४६ ॥

अर्थ–अपील करनेपर उस सब कार्योंको स्वयं करै, अर्थात् उस कार्यकी जांचके लिये राजा स्वयं अनुसंधान (अर्थात् तहकीकात) करै और जाच करनेपर अमात्य आदिका कुकृत्य सत्य होजाय तौ उनपर सहस्र रुपये तक दंड करै, क्यौं कि दंड करनेके विना कदापि कोई भी मनुष्य अपने मार्गमें नहीं चलते ॥ ३४६ ॥

कामक्रोधौ तु संयम्य योऽर्थान् धर्मेण पश्यति ॥
प्रजास्तमनुवर्तंते समुद्रमिव सिंधवः ॥ ३४७ ॥

अर्थ–जो राजा कामक्रोधको रोककर अर्थी प्रत्यर्थी आदिके अर्थ (दावे) को राजनीतिके अनुकूल धर्मपूर्वक देखताहै प्रजा उस राजाके अनुकूल इस प्रकार हो जाती है कि जैसे नदियें समुद्रके॥ ३४७॥

नियुक्तहस्तार्पितराज्यभारास्तिष्ठंति ये सौधविहार-
साराः ॥ बिडालवृन्दार्पितदुग्धपूराः स्वपंति ते
मूढधियः क्षितींद्राः ॥ ३४८ ॥

अर्थ–जो राजा संपूर्ण राज्यसंबंधी कार्योंको अपने अमात्योंके अधीन करके महल आदिमें नाना प्रकारकी क्रीडा आदिको सुख मानके एकांतस्थानोंमें रातदिन स्थित रहते हैं वे मूढबुद्धि राजा पीने योग्य

दूधसे भरे हुए पात्रको मार्जार (बिल्ली) के सन्मुख रखके सोते हैं, अर्थात् नाना प्रकारके मिष्टान्नसे युक्त दूधसे भरे हुए पात्रको बिल्लीके सन्मुख छोडके निश्चिंत सोनेवाला मूर्ख मनुष्य दूध पीनेके फलसे वंचित रहताहै, वैसेही राज्यभारको दूसरोंके अधीन करके रात दिन क्रीडा करनेवाला मूढ राजा भी भोगने योग्य विविधराज्यलक्ष्मीसे वंचित रहताहै इसी कारण उत्तम यश तथा राज्यलक्ष्मीकी इच्छा करनेवाला राजा प्रजाके कार्योंको स्वयं देखै ॥ ३४८ ॥

इति राजाश्रितकार्यम् ।

अथ समयविभागः ।

शिवस्मरणमेवैकं भवदुःखांतकारकम् ॥
यथा रव्युदयो ह्येकः प्रभवेद्ध्वांतनाशकः ॥ ३४९ ॥

अर्थ–इस संसारमें एक परमेश्वरका स्मरणमात्रही जन्ममरणरूपी दुःखको नाश करनेवाला है, जैसे एक सूर्यका उदयही समस्त जगत्के अंधकारका नाशक होता है ॥ ३४९ ॥

यशोधनवतां राज्ञां वक्ष्येऽहं हितकांक्षया ॥
मदीयेच्छानुपूर्वं हि विभागं समयस्य च ॥ ३५० ॥

अर्थ–श्रेष्ठकीर्तिहीको उत्तम धन माननेवाले राजाओंके हितके लिये अपनी इच्छाके अनुकूल दिनचर्याको कहताहूं ॥ ३५० ॥

भूमिपाले हि यत् प्रोक्तं स्वर्गसाधनमुत्तमम् ॥
उत्थाय पश्चिमे यामे तत्सर्वं सम्यगाचरेत् ॥ ३५१ ॥
गजाश्वरथयानं तु प्रातः सायं सदाभ्यसेत् ॥
व्यूहाभ्यासं सैनिकानां स्वयं शिक्षेच्च शिक्षयेत् ३५२

अर्थ–राजाके निमित्त वेदादि सत्शास्त्रोंमें जो उत्तम और स्वर्गका साधनकर्म (स्नान, संध्या, अग्निहोत्र वेदपाठ इत्यादि) कहे हैं उन

संपूर्ण कर्मोंके सूर्योदयके पहिले उठके शास्त्रविधिके अनुकूल नित्य करै और आरोहणकी दृढशिक्षाके निमित्त गज, अश्व, रथ इत्यादि सवारियोंका प्रातःकाल और सायंकाल सदा अभ्यास करै और सैनिकोंके निमित्त कहा हुआ व्यूहाभ्यासको राजा स्वयं सीखै और सेनाको भी सिखावै ॥ ३५१ ॥ ॥ ३५२ ॥

कोनर्घ्यवसुः कालो हि का हानिः समयच्युतिः ॥
को निधिश्चोत्तमो नृणां कालो याति सुकर्मणि ३५३॥

अर्थ–इस श्लोकको समयके प्रश्नोत्तरकी रीतिसे कहते हैं इस संसारमें मनुष्योंके निमित्त अमूल्य पदार्थ कौन है (उत्तर) समय (प्रश्न) हानि किसका नाम है (उत्तर) समयको व्यर्थ व्यतीत करना (प्रश्न) उत्तम धन किसको कहते हैं (उत्तर) श्रेष्ठ कार्योंमें समय बिताना ॥ ३५३ ॥

गतं चान्यत् पुनर्याति दैवात्सर्वं नृपोत्तमाः ॥
जातु गतं क्षणं नैवायातं याति च यास्यति ॥ ३५४ ॥

अर्थ–हे उत्तम भूमिपालों ! सब गयेहुए अन्यपदार्थ दैवसंयोगसे फिरभी मिलजाते हैं परन्तु गया (बीता) हुआ क्षण मात्रभी समय कदापि न आया न आता और नहीं आवेगा ॥ ३५४ ॥

मुधा कालं न नेतव्यं वदंति कवयो मुहुः ॥
येन सार्थीकृतः कालः सुखं भुंक्ते स वै पुमान् ॥ ३५५ ॥

अर्थ–इसीसे कविजन वारंवार कहते हैं कि समयको व्यर्थ व्यतीत न करै, क्योंकि जिस मनुष्यने इस अमूल्य समयको सार्थ किया है वह मनुष्यही सुखको भोगताहै ॥ ३५५ ॥

---

१ दोहा–समय न चूको सुघडनर, कवि कहतहै कूक ।
चतुरनके कसकत हिये, समय चूककी हूक ॥ १ ॥
वायू, रेल, विजली कडक, ये सबसे अधिक उडत ।
ऐसे समय अमोल्यको, लेहु आदिसे अंत ॥ २ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय कृतशौचः समाहितः ॥
संध्याग्निहोत्रस्वाध्यायान् कृत्वा नित्यं यथाविधि ३५६

अर्थ-सूर्योदयसे दो घडी पहले उठके शौच स्नान आदि करै और चित्तको एकत्र करके शास्त्रोक्तविधिसे संध्या अग्निहोत्र और स्वाध्याय (वेदपाठआदि) को नित्यप्रति यथाविधि करै ॥ ३५६ ॥

बलार्द्धेन ततः कुर्याद्व्यायामं बलवर्द्धनम् ॥
तत्कृत्वा तु सुखं देहं विमृद्नीयात् समंततः ॥ ३५७ ॥

अर्थ-तदनंतर बलार्द्ध (दंड कसरत करते करते मुखसे श्वास जल्दी जल्दी चलने लगे और शरीरपै पसीना होजाय ऐसे श्रम) से बल बढानेके लिये कसरत करै और दंडकसरत करके देहको पसीनेसे विमुक्त करै ॥ ३५७ ॥

व्यायामो हि सदा पथ्यो बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥
स च शीते वसंते च तेषां पथ्यतमः स्मृतः ॥३५८॥

अर्थ-बलवान् और सचिक्कण भोजन करनेवाले मनुष्योंके लिये कसरत करना सदा हितकारक कहाहै और जिसमेंभी शीतकाल तथा वसंतकालमें तो उक्त मनुष्योंके निमित्त अत्यंतही हितकारक है ३५८ ॥

वंदयित्वा तु पितरौ गुर्वादिपंडितांस्ततः ॥
अर्हयित्वोदयाद्गच्छेन्मुहूर्ते तु द्वितीयके ॥ ३५९ ॥
कार्याणां दर्शनार्थं च हयमारुह्य भूपतिः ॥
मंदुरां चैव वारीं च मयागारं रथालयम् ॥ ३६० ॥
कोष्ठागारं तथा शस्त्रशालां शिल्पालयं तथा ॥
व्यूहाभ्यासं च सेनाया यच्चान्यद्दर्शनीयकम् ॥ ३६१ ॥

अर्थ-कसरत करनेके अनंतर अपने माता पिताको प्रणाम करके गुरुआदिकोंके और पंडितोंके यथायोग्य सत्कार करै सूर्योदयसे चार

घडी दिन चढनेसे पहिले राजा घोडेपर चढके राजकीय कार्योंको देख-नेके निमित्त जाय-वह देखने योग्य कार्य यह है कि अश्वशाला और गजशाला और उष्ट्रशाला और रथशाला कोठार तथा शस्त्रशाला; शिल्पशाला, सेनाका व्यूहाभ्यास और इनके सिवाय अन्यभी अवश्य देखने योग्य कार्योंको देखै ॥ ३५९ ॥ ३६० ॥ ३६१ ॥

दृष्ट्वा यथारुची राजा मुहूर्ते तु चतुर्थके ॥
परिचारकसंयुक्तः पुनः स्वहर्म्यमाविशेत् ॥ ३६२ ॥

अर्थ-राजा अपनी रुचिक अनुकूल (अर्थात् जिस कार्यको जिस दिन देखना हो उसी दिन) देखके आठ घडी दिन चढनेके पहले परिचारकोंके सहित फिर अपने भवनमें प्रविष्ट होवै ॥ ३६२ ॥

शरदिंदुकराभासं प्रतिभासादिचित्रितम् ॥
मकरंदसमासिक्तं सर्वर्तुकसुखप्रदम् ॥ ३६३ ॥

अर्थ-जो महल शरद्की पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल और नाना प्रकारके चित्रोंसे चित्रित तथा अनेक उपकरणोंसे सज्जित अतर गुलाबजल आदि सुगंधित पदार्थोंसे सिंचित और संपूर्ण ऋतुओंमें आनंदके देनेवाला हो ॥ ३६३ ॥

अतिश्लक्ष्णांशुकास्तीर्णं सुवाद्यध्वनिरंजितम् ॥
अगुरूवृकधूपेन धूपितं सुमनोहरम् ॥ ३६४ ॥

अर्थ-अत्यंत कोमल गलीचे बिछे हो और मनोहर बाजोंसे शब्दाय-मान अगुरू तथा नाना प्रकारके धूपादि सुगंधित पदार्थोंसे धूपित और सब भांतिसे मनका हरनेवाला हो ॥ ३६४ ॥

नानाशस्त्रास्त्रसंकीर्णं कृत्रिमपत्रिराजितम् ॥
ततः श्रमापनोदार्थमाप्लुत्याथ विभूषितः ॥ ३६५ ॥

अर्थ-अनेक प्रकारके शस्त्रअस्त्रआदिसे सुशोभित और काष्ठ तथा काच आदिके बनाये पदार्थोंसे शोभायमान हो ऐसे महलमें प्रविष्ट होके

तदनंतर श्रम दूर करनेके निमित्त स्नान करके वस्त्र और आभूषण धारण करे ॥ ३६५ ॥

वर्णकेनाथ सौगंध्यैरर्चितश्च सुहृद्वृतः ॥
भुंजीत षड्रसं नित्यं सद्यो बलकरं शुभम् ॥ ३६६ ॥

अर्थ—कस्तूरीआदिसे बने हुए पदार्थ तथा उत्तम सुगंधित द्रव्योंसे अर्चित होके इष्टमित्रोंसहित तत्काल बल बढानेवाला अच्छा स्वादिष्ठ और छहों रसोंसे बनाहुआ भोजन करै ॥ ३६६ ॥

ततः षष्ठे मुहूर्ते तु वंदितो दर्शनार्थिभिः ॥
यथायोग्यं समाश्वास्य तांस्तु राजा समाहितः॥ ३६७॥

अर्थ—भोजन करनेके अनंतर बारह घडी दिन चढनेके पहिले समयमें दर्शनाभिलाषियोंसे वंदना कियाहुआ राजा अच्छी सावधानीसे उन लोगोंका आदर सत्कार करै ॥ ३६७ ॥

ततश्च प्राड्विवाकादिबोधितो व्यवहारतः ॥
तेषां कार्याणि संश्रुत्य मंत्रयित्वा सभासदैः ॥ ३६८ ॥

अर्थ—उक्तपुरुषोंके आदरसत्कार करनेके उपरांत प्राड्विवाक (फोजदारी दिवानीका अफसर) आदि अपने २ कार्योंको निवेदन करै उनके कार्योंको अच्छी सावधानीसे सुनके कार्यसिद्धिके निमित्त अपने सभासदोंकी संमति लेवै ॥ ३६८ ॥

राज्योन्नातिकरामाज्ञां दत्त्वा स्वमतिपूर्विकाम् ॥
स्वे स्वेऽधिकारे तान् राजा संयोज्य कृतनिश्चयान् ३६९

अर्थ—और अपनी निश्चयबुद्धिके अनुकूल राज्यकी उन्नाति करनेवाली आज्ञाको देकर कार्यके निर्णय कियेहुए उन अधिकारियोंको अपने अपने अधिकार पर भेजै ॥ ३६९ ॥

कोषकार्यं ततः पश्येद्राज्यमूलं हि तत्स्मृतम् ॥
नियतायश्च कत्यस्ति व्ययश्च नियतः कति ॥ ३७० ॥

अर्थ-इसके उपरान्त खजानेके कार्यको देखै कारण कि बुद्धिमानोंने खजानेका ही राज्यका मूल कहाहै इससे नित्य आय (आमदनी) और नित्य खर्च होनेका निश्चय करै ॥ ३७० ॥

कोषभूतस्य द्रव्यस्य व्ययः काति गतस्तथा ॥
व्यवहारे मुद्रितायव्ययशेषं कतीति च ॥ ३७१ ॥

अर्थ-कोष (खजाने) का संचितद्रव्य कितना खर्च हुआ और व्यवहारमें आमदनी और खर्चका शेष कितना रहा ॥ ३७१ ॥

प्रत्यक्षतो लेखतश्च ज्ञात्वेत्थं प्रत्यहं नृपः ॥
ततोष्टमे मुहूर्ते तु प्रासादे ह्युक्तलक्षणे ॥ ३७२ ॥
क्लमापनोदनार्थाय पयःफेनद्युतौ भजेत् ॥
किंचित्कालं तु शयनं शय्यायां योगनिद्रया ॥ ३७३ ॥

अर्थ-राजा इस प्रकार नित्यप्रति खजानेके द्रव्यको प्रत्यक्ष और लेख (नामा) से देखै, तिसके अनंतर सोलह घडी दिन चढनेके समयमें उक्तलक्षणोंसे युक्त महलमें श्रमको दूर करनेके निमित्त अच्छी श्वेत उज्ज्वल शय्यापर किंचित्काल योगनिद्रा (चमकती नींद) से शयन करे ॥ ३७२ ॥ ३७३ ॥

वार्तां तु परराष्ट्रस्य नीतिग्रंथान् स्मृतिं तथा ॥
नानादेशवृतान्तस्य सूचकं वाचिहारकम् ॥ ३७४ ॥
राजर्षीणां चेतिहासं शृणुयाद्वा यथारुचि ॥
ततो मुहूर्ते दशमे कृतशौचादिकक्रियः ॥ ३७५ ॥

अर्थ-किंचित्काल निद्रा लेके फिर परराज्यकी अच्छी बुरी वार्ताको तथा नीतिके ग्रंथोंको तथा मनुस्मृतिआदिको और अनेकदेशोंकी वार्ता सूचितकरनेवाले समाचारपत्रोंको तथा बडे बडे राजर्षियोंके इतिहासोंको अपनी रुचिके अनुकूल नित्यप्रति श्रवण करै वा स्वयं देखे और

उसके अनन्तर दशवें मुहूर्त (तीन बजे पहिले) उठके शौचादि करै ॥ ३७४ ॥ ३७५ ॥

अथर्त्वलंकृतो बिभ्राट् सुहृद्भिश्च समावृतः ॥
मंत्रज्ञैर्मंत्रिभिःसार्द्धं विनीतः प्रविशेत् सभाम् ॥ ३७६ ॥

अर्थ—ऋतुके अनुकूल वस्त्र अलंकार आदिको धारण करके अत्यंत शोभायमान होकर सुहृदोंसे संयुक्त और सम्मतिके देनेवाले मंत्रियों सहित शांतचित्त होके न्यायालयमें प्रविष्ट होवै ॥ ३७६ ॥

धर्मासनमधिष्ठाय कुर्यात्कार्यस्य निर्णयम् ॥
प्राड्विवाकादिभिर्दत्तमर्थिप्रत्यर्थिनां च यत् ॥ ३७७ ॥
पत्रं तदवलोक्यैव दद्याद्योग्यं हि तीरितम् ॥
न पक्षं कस्यचित्कुर्याद्राजा धर्ममनुस्मरन् ॥ ३७८ ॥

अर्थ—और न्यायके आसनपर बैठके जो जो राजाश्रित कार्य है उसका निर्णय करै और प्राड्विवाक आदिने मुद्दई मुद्दायलेका जो निबटेरा किया हो उसकी अपील करनेपर उस मुकद्दमेको अच्छी रीतिसे देखके उसपर योग्य आज्ञा देवै और राजनीतिके धर्मको स्मरण करता हुआ राजा न्यायके विषयमें किसीका पक्षपात न करै ॥ ३७७॥३७८ ॥

शाश्वतं धर्ममास्थाय सर्वाः संरंजयन् प्रजाः ॥
विसृज्यैवं सभां श्लाघ्यां मुहूर्ते तु त्रयोदशे ॥ ३७९ ॥

अर्थ—परंपरासे प्राप्त न्यायमार्गमें स्थित होके संपूर्ण प्रजाको प्रसन्न-करता हुआ राजा तेरहवें मुहूर्त (पांचबजेके समय) में अपनी प्रशं-सनीय न्यायसभाको विसर्जन करै ॥ ३७९ ॥

ततो यानं यथेष्टं वारुह्य यातु नृपोत्तमः ॥
उद्यानं वा ह्यरण्यं वा शूरैः शस्त्रास्त्रकोविदैः ॥ ३८० ॥
समावृतो वेष्टवर्गैर्नानाक्रीडनतत्परैः ॥
द्विमुहूर्तं सदा तत्र विहरेत्तु यथासुखम् ॥ ३८१ ॥

अर्थ—इसके उपरान्त राजा अपने अभीष्ट यथारुचि वाहनपर चढके शस्त्रास्त्रचलानेमें चतुर ऐसे शूरवीरोंके सहित तथा नाना प्रकारकी क्रीडाकरनेमें तत्पर अपने अभीष्ट वांच्छित पुरुषोंसे युक्त होके एकान्तक्रीडाके बगीचेमें तथा वनमें जाके सदा दो मुहूर्त्त सुखपूर्वक विहार करै ॥ ३८० ॥ ३८१ ॥

ततः सायाह्नसमये सुहृद्भिः परिवारितः ॥
प्रविशेद्विमलं हर्म्यं वंदितो दर्शनार्थिभिः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—तदनंतर, सायंकालके समयमें सुहृदोंसे समावृत होके दर्शनाभिलाषियोंसे वंदना कियाहुआ राजा अपने पवित्र महलमें प्रविष्ट होवै ॥ ३८२ ॥

ततः प्रकृतिभी राजा तथान्यैश्च सुहृज्जनैः ॥
समावृतो सभां दिव्यां प्रविशेत्तु परिष्कृतः ॥ ३८३ ॥

अर्थ—इसके पीछे अलंकारोंको धारण करके राजा पुरोहित आदि दश प्रकृतिसे तथा इतर सुहृदोंसे समावृतहोके दिव्य (रमणीक) में प्रविष्ट होवै ॥ ३८३ ॥

यथेष्टमासने स्थित्वा सुवाद्यध्वनिरंजितम् ॥
वेश्यानां षड्विधं गानं श्रुत्वा मौहूर्तिकं ततः ॥ ३८४ ॥

अर्थ—सभामें जाकर अपनी इच्छाके अनुकूल आसनपर बैठके सुंदर बाजाओंकी ध्वनिसे अत्यंत शोभायमान वेश्या आदिकोंके छः प्रकारके गायनको दो घडी पर्यंत श्रवण करै । यह एकही निरन्तर न सुनै कभी दूसरे गुणियोंका भी गाना सुनै तात्पर्य यह कि गानविद्यामें भी कुशल होना चाहिये ॥ ३८४ ॥

हर्षयन् प्रकृतीः सर्वा यथाविधि विसर्जयेत् ॥
ततो वै गूढचाराणां वार्तया द्विमुहूर्तकम् ॥ ३८५ ॥

अर्थ—राज्यकी सब प्रकृतिको हर्षित करता हुआ सबको यथाविधि

विसर्जन करै और इसके पीछे गूढचारी (गुप्तपुलिस) की वार्ता सुन-नेमें दो मुहूर्त सदा व्यतीत करै ॥ ३८५ ॥

नयेन्नित्यं ततो राज्ञा प्रासादे समलंकृते ॥
साकं स्वकांतयैकांते हास्यसंलापनर्मभिः ॥ ३८६ ॥

अर्थ—गूढचारियोंसे वार्तालाप करनेके पाश्चत् सुसाज्जित कियेहुए प्रबन्धकभवनमें अपनी प्राणप्रियाके साथ हास्यसंलापआदि क्रीडा करै ॥ ३८६ ॥

भोजनेन च नेतव्यं घटिकानां चतुष्टयम् ॥
ततः शेतां रम्यहर्म्ये गीतवाद्यैः सुशोभिते ॥ ३८७ ॥

अर्थ—फिर भोजन करनेमें चार घडी व्यतीत करै और भोजन करके गायन तथा वादित्रसे सुंदर शोभायमान रमणीक स्थानमें शयन करै ॥ ३८७ ॥

स्वानुरक्तां सुरूपां च सुवस्त्रां प्रियवादिनीम् ॥
सुभूषणां सुसंशुद्धां प्रमदां शयने भजेत् ॥ ३८८ ।

अर्थ—अपनेमें अत्यंत प्रीति रखनेवाली, सुंदररूपवाली श्रेष्ठ व धारण करनेवाली प्रियवादिनी और अच्छे अलंकारोंसे संयुक्त और पतिव्रतधर्ममें परायण स्त्रीके संग शयन करै ॥ ३८८ ॥

एवं विहरतो राज्ञः सुखं सम्यक् प्रजायते ॥
अहोरात्रं प्रभज्यैवं त्रिंशद्भिस्तु मुहूर्तकैः ॥ ३८९ ॥

अर्थ—इस प्रकार व्यवहारोंमें चलते हुए राजाओंको निश्चय श्रेष्ठ सुख मिलता है इसीसे उक्तरीतिके अनुकूल साठ घडीके दिनरातको तीस मुहूर्तोंसे विभाग करके समयको श्रेष्ठ कर्मोंमें व्यतीत करै ॥ ३८९ ॥

नयेत्कालं वृथा नैव नयेत्स्त्रीमद्यसेवनैः ॥
यत् काले ह्युचितं कर्तुं तत् कार्यं द्रागशंकितम् ३९०

अर्थ–स्त्री तथा मदिरा आदि दुर्व्यसनोंके सेवनसे काल (समय) को व्यर्थ व्यतीत न करै और जो कार्य जिस समयमें करने योग्य हो उसको उसी समयमें निःशंक होके करै ॥ ३९० ॥

इति समयविभागः।

अथ दंडप्राधान्यम्।

दंडः शास्ति प्रजाः सर्वा दंड एवाभिरक्षति ॥
दंडः सुप्तेषु जागर्ति दंडं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ ३९१ ॥

अर्थ–इस संसारमें दंडही सब प्रजाओंका शासन करताहै और दंडही सब प्रजाओंकी रक्षा करताहै और सब प्रजाके सोजानेपरभी प्रजाकी रक्षाके लिये दंडही जागता है अर्थात् सुखपूर्वक निश्चिंत सोने-पर भी दंडके भयसे चौर आदि किसी प्रकार उपद्रव नहीं करते और बुद्धिमान् मनुष्य दंडहीको धर्म कहते हैं क्योंकि राजाके दंडके भयसे प्राणिमात्र अपने अपने धर्ममें प्रवृत्त होकर इस लोक तथा परलोकके साधनभूत कर्मोंको करते हैं ॥ ३९१ ॥

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥
भयाद्भोगाय कल्पंते स्वधर्मान्न चलंति च ॥ ३९२ ॥

अर्थ–उसी दंडके भयसे स्थावर (वृक्ष आदि) चर (मनुष्य आदि) सर्व प्राणी अपने भोगके निमित्त समर्थ होते हैं, अर्थात् जो दंड नहीं होता तो बलवान् पुरुष दुर्बलके धन, पुत्र आदिके हरनेमें और वृक्षआदिकोंके छेदन करदेनेमें स्वच्छंद होकर किसीका भय नहीं रखते और उसी दंडके भयसे यावन्मात्र देव, मनुष्य, आदि सब भूत प्राणी अपने धर्मको नहीं त्यागते हैं अर्थात् ईश्वर प्रणीत दंडके भयसे (यद्भयात् वाति वातोयं सूर्यस्तपति यद्भयात् इति श्रुतेः) सूर्य आदि ज्योतिर्गणभी नित्य भ्रमण करते हैं और मनुष्य अपने

अपने वर्णाश्रमधर्मको नहीं छोडते और वृक्षआदि अपनी अपनी ऋतुमेंही फलते हैं ॥ ३९२ ॥

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दंडश्चरति पापहा ॥
प्रजास्तत्र न मुह्यंति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ ३९३॥

अर्थ–जिस राजाके राज्यमें श्यामवर्ण और लाल नेत्रवाले पुरुषके समान भयानक रूपको धारण करता हुआ और पापकारी पुरुषोंको नाश करता हुआ दंड विचरता है उस राज्यमें प्रजा व्याकुल नहीं होती यदि दड देनेवाला राजा अपराधके अनुकूल दंड देनेकी विधिको भले प्रकार जानता हो तो (अर्थात् जिस राजाने दुष्टोंकी दुष्टाई दूर करनेके निमित्त कठोर दंड नियत करदियाहै उस राजाकी प्रजा दुःख नहीं पाती) ॥ ३९३ ॥

येऽपि संभिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिंदकाः ॥
तेपि भोगाय कल्पंते दंडेनाशु प्रपीडिताः ॥ ३९४ ॥

अर्थ–जो वर्णाश्रमआदिकी मर्यादाको तथा देश कुलाचार आदिकी मर्यादाको भेदन करनेवाले हैं और वेदकी निंदा करनेवाले नास्तिक आदि हैं वह भी दंडसे पीडित होकर तत्काल अपने अपने परंपराके धर्ममें प्रवृत्त हो जाते हैं ॥ ३९४ ॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः ॥
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्त्तिषु ॥ ३९५ ॥

अर्थ-देश तथा समयको और अपराधीकी तथा अपनी शक्तिको विद्याको, नीतिको विचारपूर्वक देखकर अन्याय करनेवाले मनुष्योंपर उस दंडको अपराधके अनुकूल नियत करे अर्थात् देश देशकी तथा समय समयकी रीतिके अनुकूल अपराधियोंको जैसा अपराध हो वैसाही दंड दे ॥ ३९५ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ॥
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दंडस्य विभ्रमात् ॥ ३९६ ॥

अर्थ-अपराधीको दंड नहीं देनेसे तथा अनुचित दंड देनेसे ब्राह्मण आदि सब वर्ण परस्पर स्त्रीगमन करनेसे वः अपने अपने कर्त्तव्य कर्मोंके त्यागनेसे वर्णसंकर होजावै और धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-रूप फलोंकी देनेवाली शास्त्रोंकी मर्यादा भी नष्ट होजाय और चोरी तथा साहस आदिसे दूसरेका अपमान करनेसे सब लोकमें उपद्रव उत्पन्न होजाते हैं ॥ ३९६ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदंडश्च शत्रुषु ॥
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३९७॥

अर्थ-अपने राज्यमे नीतिशास्त्रके अनुकूल दंड दे और शत्रुओंको कठोर दंड देवे और स्वभावसे स्निग्धसुहृदोंको कुटिल दंड नहीं दै और स्वल्प अपराधमें ब्राह्मणोंपर क्षमायुक्त दंड करे ॥ ३९७ ॥

अर्थे सर्वे समारंभाः समायत्ता न संशयः ॥
स च दंडे समायत्तः पश्य दंडस्य गौरवम् ॥ ३९८ ॥

अर्थ-संसारके यावन्मात्र कार्योंके आरंभ धनके आश्रयसे होते हैं इसमें संदेह नहीं और वह धन दंडके अधीन होता है इस कारण दंडमहिमाको देखो अर्थात् न्यायपूर्वक दंडहीसे सब पदार्थ मिलते हैं यह जानना चाहिये ॥ ३९८ ॥

तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ॥
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दंडेनैवाभिहन्यते ॥ ३९९ ॥

अर्थ-उस दंडको यथार्थ प्रवृत्त करता हुआ (देता हुआ) राजा धर्म-अर्थ-काम इन तीनोंको भोगताहै और कामासक्त चल बुद्धिवाला निष्प्रयोजन हर्ष क्रोध आदि करनेवाला और क्षुद्र (व्यर्थ छिद्र करनेवाला) राजा अनुचित दंड देनेसे राज्य ऐश्वर्यको नहीं भोगता ॥ ३९९ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ॥
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ४०० ॥

अर्थ-पुरोहित आदि राजप्रकृतिकी सहायतासे रहित, मूढ लोभी और जिसने नीतिशास्त्र नहीं पढा हो, तथा विषयादिमें आसक्त हो ऐसा राजासे उक्त गुणवाला दंड न्यायपूर्वक नहीं दिया जाता इस कारण राजा उक्त दोषोंसे रहित होना चाहिये ॥ ४०० ॥

अदानेनापमानेन छलाच्च कटुवाक्यतः ॥
राज्ञः प्रबलदंडेन नृपं मुंचंति वै प्रजाः ॥ ४०१ ॥

अर्थ-राजाकी कृपणतासे, व्यर्थ तिरस्कार करनेसे, प्रजासे छल करनेसे, कटुक वाक्य बोलनेसे और विचारशून्य प्रबल दंडके देनेसे प्रजा राजाको छोडदेती है अर्थात् इन दोषोंसे युक्त राजाके देशोंको छोडके प्रजा अन्यत्र चली जाती है इसीसे राजाको विना विचारे किसीको व्यर्थ प्रबल दंड न देना चाहिये ॥ ४०१ ॥

इति दंडप्राधान्यम् ।

अथ व्यसनानि ।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ॥
व्यसनानि दुरंतानि प्रयत्नेन विवर्ज्जयेत् ॥ ४०२ ॥

अर्थ-आदिमें सुख और अंतमें दुःखके देनेवाले कामसे उत्पन्न हुए दश और क्रोधसे उत्पन्न हुए आठ इन अठारह दुर्व्यसनोंको राजा यत्नपूर्वक त्याग दे ॥ ४०२ ॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ॥
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥ ४०३॥

अर्थ-कारण कि कामसे उत्पन्न हुए दश व्यसनोंमें आसक्त हुआ राजा धन और धर्मसे हीन होजाता है और क्रोधसे उत्पन्न हुए आठ व्यसनोंमें लगा हुआ राजा प्रकृतिके कोपसे स्वयं नाशको प्राप्त होताहै ॥ ४०३ ॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ॥
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥ ४०४॥

अर्थ–अब उन व्यसनोंके नाम कहते हैं, १ बहुत शिकार खेलना २ जुआ आदि खेलना ३ श्रेष्ठकामोंमें व्यतीत करने योग्य समयको दिनमें निद्रासे नष्ट करना ४ व्यर्थ पराया छिद्र करना ५ सदा स्त्रियोंके संग एकांतमें रहना ६ मद्य पीकर उन्मत्त होजाना ७ कर्तव्य कार्यको छोडके व्यर्थ गाना ८ व्यर्थ बाजे बजाना ९ नृत्य आदि करना १० निष्प्रयोजन (विना काम) इधर उधर भटकते फिरना ये दश व्यसन विचार शून्य सुखकी इच्छा रखनेसे उत्पन्न होते हैं इनका कारण काम है ॥ ४०४ ॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ॥
वाग्दंडजं च पारुष्यं क्रोधजोपि गणोष्टकः ॥ ४०५ ॥

अर्थ–किसीके गुप्तदोष चुगलीसे प्रगट करना १ बलात्कारसे किसीको दंड देना २ किसीसे व्यर्थ छलछिद्र करना ३ पराये ऐश्वर्यको देखके जलना ४ दूसरेके गुणोंमें व्यर्थ दोषारोपण करना ५ देने योग्य धनको नहीं देना तथा लेने योग्य द्रव्यको प्रमादसे छोड देना ६ किसीको व्यर्थ गाली देना तथा अगम्यागम्य और चोरी आदिका कलंक लगाना ७ हस्तपाद आदिसे किसीको व्यर्थ ताडन देना तथा व्यर्थही धन आदि हरलेना ८ ये आठ दुर्व्यसन क्रोधसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् इनका कारण क्रोध है ॥ ४०५ ॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ॥
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥ ४०६ ॥

अर्थ–जिसको धर्मशास्त्र आदिके बनानेवाले विद्वान् कामसे उत्पन्न दश तथा क्रोधसे होनेवाले आठ इन दोनों प्रकारके व्यसनोंका मूल कहते हैं उस लोभको राजा यत्नपूर्वक जीते क्योंकि उक्त अठारह व्यसन केवल लोभहीसे उत्पन्न होते हैं इसीसे राजा अत्यंत लोभको धारण न करै ॥ ४०६ ॥

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ॥
एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥ ४०७ ॥

अर्थ-मद्य पीना १ जूआ आदि खेल खेलना २ स्त्रीके वशीभूत होजाना तथा परस्त्री आदिसे संगति करना ३ शिकार खेलना ४ क्रमसे कहे हुए इन चारोंही व्यसनोंको कामज दश व्यसनोंमें अत्यंत दुर्व्यसन जानने चाहिये ॥ ४०७ ॥

दंडस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ॥
क्रोधजेपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥४०८॥

अर्थ-व्यर्थ दंड देना १ व्यर्थही कठोर आदि वाक्य कहना २ धनके लेन देनमें दूषित होना ३ इन तीनोंको क्रोधसे उत्पन्न सात व्यसनोंमें सदा अत्यंत कष्टके देनेवाले जानने चाहिये ॥ ४०८ ॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषंगिणः ॥
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥४०९॥

अर्थ-अत्यंत दुःखदायी पान आदि कामज चार व्यसन और वैसेही दंडपातन आदि क्रोधसे उत्पन्न तीन व्यसन इन मद्यपान आदि सात व्यसनोंके गण जो सर्वत्र राजमंडलमें बहुधा स्थित हैं उनमेंसे बुद्धिमान् प्रजाहितैषी राजा पहले पहलेको अगले अगलेसे अत्यंत कष्टका देनेवाला दुर्व्यसन जानै, सोही कहते हैं जैसे कामज चार व्यसनोंमें जूआ खेलनेसे भी मद्यका पीना अतिकष्ट देनेवाला है कारण कि मद्य पीनेसे संज्ञा न रहनेके कारण इच्छापूर्वक चेष्टा आदि करनेसे देह धन आदिके बिगाडनेवाले दोष उत्पन्न होते हैं जूआमें तौ केवल धन आदिही आते जाते हैं और स्त्रीव्यसनसे जूआ अति कष्टदायी होताहै कारण कि जूआ खेलनेमें वैर उत्पन्न होना आदि नीतिशास्त्रके कहे हुए अनेक दोष होते हैं, और मूत्र पुरीष आदि वेगोंके रोकनेसे रोगोत्पत्ति भी होती है, और स्त्रीव्यसनमें तौ संतानकी उत्पत्ति आदि गुणोंका योगभी है, मृगया तथा स्त्रीव्यसन इन दोनोंमें भी स्त्रीव्यसन

अत्यंत हानिकारक है कारण कि, दिनरात्रि स्त्रीके साथ एकांत रहनेसे अवश्य देखने योग्य कार्योंको न देखना तथा कालका उल्लंघन होजानेसे धर्मलोप आदि दोष होना तथा भोग आदिकी लालसासे मद्यपान आदि दुर्व्यसनोका सेवन करना इत्यादि अनेक दोष होते हैं और मृगयामें तौ श्रम करनेसे आरोग्यता तथा शूरता आदि गुणोंकाभी योग है इस प्रकार कामज चार व्यसनोंके गणमें पहला पहला भारी दोषयुक्त है और क्रोधज दंड पारुष्य आदि तीन दोषोंमें वाक्पारुष्यसे दंडपारुष्य दुष्ट है क्योंकि अंगच्छेदन आदि विविधदंडका किसी प्रकार समाधान नहीं होसक्ता और सामान्य वाक्पारुष्यका तौ दान, मान, तथा नम्रता, आदि सत्कारोंसे समाधानभी होसक्ताहै और अर्थ दूषणसे वाक्पारुष्य अति दोषयुक्त तथा मर्मस्थानोंको पीडा देनेवाला है कारण वाक्पारुष्यकी चिकित्सा अति कठिन है सोइ कहाभी है (न प्ररोहति वाक्क्षतम्) अर्थात् शस्त्र आदिसे किया हुआ घाव फिर औषधीसे भरकर मिलभी जाताहै परंतु वाग्रूप शस्त्रका किया हुआ घाव किसी प्रकार नहीं मिलसक्ता और अर्थ दूषणका तौ अति लेन देनसे साधनभी होसक्ताहै इस प्रकार क्रोधज इन तीन दुर्व्यसनोंमें भी पहला पहला अतिकष्टतर है अर्थात् अर्थदूषणसे वाक्पारुष्य, वाक्पारुष्यसे, दंडपारुष्य, दंडपारुष्यसे मृगया, मृगयासे स्त्रीसंग, स्त्रीसंगसे अक्षक्रीडा, अक्षक्रीडा (जूआखेलना) से मद्यपान, ये क्रमसे कष्टतरसे कष्टतर दुर्व्यसन कहाहै इसीसे उक्त सात दुर्व्यसनोंको तौ बुद्धिमान् राजा यत्नसे त्यागदे ॥ ४०९ ॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ॥
व्यसन्यधोधो व्रजति स्वर्याति व्यसनी मृतः ॥ ४१० ॥

अर्थ–उक्त मृगया आदि अठारह दुर्व्यसन और मृत्यु, इन दोनोंमेंसे व्यसन अत्यंत हानिकारक है कारण कि, व्यसनोंमें आसक्त होनेवाला मनुष्य इस लोकमें अपयशको प्राप्त होता है तथा धन आदिकी प्राप्ति करनेवाले अनेक कार्योंकी हानि उठाके मरनेपर

नरकोंमें जाता है और दुर्व्यसनोंसे बचनेवाला मनुष्य इस लोकमें सुकीर्त्तिका भागी होके मरनेपर स्वर्ग आदि उत्तम लोकोंमें जाता है ॥ ४१० ॥

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादिते ॥
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसंगो ह्यत्र दोषवान् ॥ ४११ ॥

अर्थ–मद्यपान १ अक्षक्रीडा २ स्त्रीसंग ३ मृगया ४ गान ५ वादित्र ६ इन छः कामोंको बुद्धिमान् युक्तिपूर्वक सेवन करै क्योंकि इन कामोंमें अत्यंत आसक्त होनेसे अनेक दुःख भोगने पडते हैं॥४११॥

द्यूतं स्त्रीमद्यमेवैतत्रितयं बह्वनर्थकृत् ॥
अयुक्तं युक्तियुक्तं हि धनपुत्रमतिप्रदम् ॥ ४१२ ॥

अर्थ–जूआ १ स्त्रीसंग २ मद्यपान ३ इन तीनोंको अयुक्तिपूर्वक सेवन करनेसे बहुत अनर्थ प्रगट होते हैं (अर्थात् बहुत दुःखदायी होते हैं) और युक्तिपूर्वक सेवन किये हुए ये तीनों ही क्रमसे धन, पुत्र और बुद्धिके देनेवाले होते हैं ॥ ४१२ ॥

नलधर्मप्रभृतयः सुद्यूतेन विनाशिताः ॥
सकापट्यं धनायालं द्यूतं भवति तद्विदाम् ॥४१३॥

अर्थ–नल, युधिष्ठिर आदि राजर्षि छलरहित होकर जूआ खेलनेसे नाशको प्राप्त हुए (अर्थात् राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट होगये) और जूआ खेलनेमें निपुण मनुष्योंके निमित्त तौ कपटपूर्वक खेला हुआ यह जुआ धन देनेमें समर्थ होता है ॥ ४१३ ॥

व्यायच्छंतश्च बहवः स्त्रीषु नाशं गता अमी ॥
इंद्रदंडक्यनहुषरावणाद्याः सदा ह्यतः ॥ ४१४ ॥

अर्थ–परस्त्रियोंकी इच्छा करनेवाले इन्द्र, दंडक्य, नहुष और रावण आदि बहुतसे बलशाली राजा इस परस्त्रीसंगकी इच्छाहीसे सदा अपयश और नाशको प्राप्त हुए अर्थात् परस्त्रीसंगकी आसक्तिसे

देवेंद्र और रावण आदिकोभी अनेक दुःख भोगने पडे तौ मनुष्यका कहनाही क्या है ॥ ४१४ ॥

दृष्ट्वा शास्त्राण्यथात्मानं सन्नियम्य यथोचितम् ॥
कुर्यान्नृपः स्ववृत्तं तु परत्रेह सुखाय च ॥ ४१५ ॥

अर्थ—इसीसे राजा शास्त्रोंको देखके अपने मनको कुकर्मोंसे रोके और इस लोक तथा परलोकके सुखके निमित्त शास्त्रोक्त उत्तम आचरणको धारण करै ॥ ४१५ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ॥
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यति ॥ ४१६ ॥

अर्थ—शास्त्रोक्त देशाचार कुलाचार आदि जिस श्रेष्ठमार्गसे जिसके पिता और पितामह आदि चले आयेहों श्रेष्ठ पुरुषोंके स्थापन किये हुए उसी देशकुलाचार आदिके मार्गमें सब पुरुषोंको सदैव चलना चाहिये कारण कि श्रेष्ठ पुरुषोंके स्थापन किये हुए देशाचार आदिमें चलता हुआ मनुष्य कदापि दूषित नहीं होता ॥ ४१६ ॥

अनुगंतुं सतां मार्गं कृत्स्नेनापि न शक्यते ॥
स्वल्पमप्यनुगंतव्यं मार्गस्थो नैव सीदति ॥ ४१७ ॥

अर्थ—रागद्वेषादिरहित श्रेष्ठ मनुष्योंके स्थापन किये हुए आचार विचारआदि मार्गमें यदि समग्रतासे चलनेकी समर्थता न हो तौ भी श्रेष्ठोंके स्थापन किये आचारआदि मार्गमें अपनी शक्तिके अनुकूल थोडा तो चलनाही चाहिये कारण कि श्रेष्ठोंके स्थापन किये हुए मार्गमें चलता हुआ कदापि दूषित नहीं होता ॥ ४१७ ॥

इतत्यष्टादशव्यसनानि ।

अथ यशस्वी ।

धनिनोपि निरुन्मादा युवानोपि न चंचलाः ॥
प्रभवोप्यप्रमत्ताश्च महामहिमशालिनः ॥ ४१८ ॥

अर्थ-महान् यशस्वी उनको कहते हैं कि जो अपार धन होनेपर भी उन्मादको प्राप्त नहीं होते और युवा अवस्था होनेपर भी परस्त्री-गमन आदि कुकृत्योंमें चंचलताको धारण नहीं करते समर्थ होने-पर भी अत्यंत नम्रताको धारण करते हैं यह महत् (बडे) पुरुषोंके स्वाभाविक धर्म हैं ॥ ४१८ ॥

नीतिज्ञा यं प्रशंसंति यं प्रशंसंति वै द्विजाः ॥
साधवो यं प्रशंसंति स पार्थ पुरुषोत्तमः ॥ ४१९ ॥

अर्थ-हे पृथाके पुत्र ! नीतिके जाननेवाले राजर्षि जिसकी बडाई करैं और बडे बडे विद्वान् जिसकी प्रशंसा करैं तथा परोपकारी बडे बडे सज्जन पुरुष जिसकी प्रशंसा करैं वह पुरुष सर्व पुरुषोंमें उत्तम कहाता है अर्थात् महान् यशस्वी है यह राजा युधिष्ठिरके प्रति भीष्म-जीका कथन है ॥ ४१९ ॥

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ॥
अनुकंप्योनुकंप्यश्च स जातः स च जीवति ॥ ४२० ॥

अर्थ-जिसके मित्र सदा मित्रही हैं और शत्रु सदा शत्रुही हैं अर्थात् मित्रता हो जानेपर फिर कदापि उसमें विगाड नहीं करता और शत्रुता होनेपर अनेक प्रकारके लोभसेभी शत्रुका विश्वास नहीं करता शरणागतको कदापि नहीं त्यागता वही पुरुष जन्माहुआ है अर्थात् उसीका जन्म लेना सफल है और वह पुरुषही इस संसारमें जीता है अर्थात् उसका जीना सार्थ है ॥ ४२० ॥

गुरून् कुर्वंति ये वंश्यानन्वर्था यैर्वसुंधरा ॥
येषां यशांसि शुभ्राणि ह्रेपयंतींदुमंडलम् ॥ ४२१ ॥

अर्थ–जो मनुष्य अपने कुलको उन्नति देकर बडा करता है और जिन्होंने इस वसुंधरा (भूमि) को सार्थ कर दिया है अर्थात् संपूर्ण धनकी धारण करनेवाली होनेसे भूमिको वसुंधरा कहते हैं तौ जिन्होंने विद्या तथा कला आदिके उपचारोंसे भूमिको अनेक प्रकारके धनोंसे पूर्ण कर दिया है और जिनकी उत्तम कीर्ति चंद्रमंडलकोभी लज्जित करती है वे पुरुषही इस संसारमें महान् यशस्वी कहलाते हैं ॥ ४२१ ॥

तुंगत्वमितरानाद्रौ नेदं सिंधावगाहता ॥
अलंघनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४२२ ॥

अर्थ–इस संसारमें ऊंचापन और अगाधता (अथाह) ये दोनोंही उल्लंघन करनेमें नहीं आनेके हेतु होते हैं अर्थात् इन दोनों गुणोंमेंसे जिसमें एकभी गुण होताहै वह पदार्थ उल्लंघन करनेमें नहीं आता यदि उक्त दोनोंही गुण एकत्र होजायँ उसका तौ कहनाही क्या है जैसे पर्वत (सुमेरु आदि) में केवल ऊंचापन है अथाहता नहीं और समुद्रमें केवल अथाहता है ऊंचापन नहीं ये दोनोंही एक एक गुणसे अलंघनीय कहाते हैं और बुद्धिमान् विचारशाली यशस्वी पुरुषमें तौ वे दोनोंही अलंघनीयके हेतु विद्यमान रहते हैं ॥ ४२२ ॥

दीनानां कल्पवृक्षः सुगुणफलनतः सज्जनानां कुटुंबी ह्यादर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः ॥ सत्कर्तानावमंता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसंतीवचान्यः ॥ ४२३ ॥

अर्थ–जो दीनोंकी आशा पूर्ण करनेके निमित्त श्रेष्ठगुणरूप फलोंसे नमाहुआ कल्पवृक्ष, सज्जनोंके निमित्त कुटुंबी (अर्थात् सुख दुःखमें सहायता करनेवाला) विद्या कला तथा श्रेष्ठ गुण आदि उत्तमवार्ता सीखनेवालोंके निमित्त आदर्श (दर्पणरूप वा प्रदर्शनी) सुंदर चरित्रोंको धारण करनेवाले पुरुषोंके निमित्त कसौटी, शीलरूप तरंगोंका

समुद्र, सबका यथायोग्य सत्कार करनेवाला तथा अपने पास आये हुए शत्रुकाभी अपमान नहीं करनेवाला, पुरुषोंमें गुणका सागर, चातुर्यता तथा उदारताकी मूर्ति, ऐसा एकभी श्लाघनीय मनुष्य अधिक गुणोंसे युक्त होनेके कारण जीवित माना जाताहै और उक्त गुणोंसे हीन जो इतर पुरुष है वह श्वास लेता हुआ मृतक है अर्थात् लोहकार (लुहार,) की धौंकनीके समान है ॥ ४२३ ॥

इति यशस्वी ।

अथ जीवन्मृतः ।

जीवंतोपि मृताः पंच व्यासेन परिकीर्तिताः ॥
दरिद्रो व्याधितो मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥४२४॥

अर्थ–दरिद्री, सदा रोगिष्ठ, मूर्ख, सदा विदेशमें रहनेवाला नित्य मजूरी कर पेट भरनेवाला, इनके जीवित रहनेपरभी वेदव्यासजीने तौ इन पाँचोंकोही मृतकके समान कहा है । अर्थात् ये श्वास लेते हुए मृतक हैं ॥ ४२४ ॥

दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यांति वै ॥
स लोहकारभस्त्रेव श्वसन्नापि न जीवति ॥ ४२५ ॥

अर्थ–जिसका समय दान, उपभोग, आदिसे रहित होके व्यर्थ व्यतीत होताहै वह पुरुष लोहकार (लुहार) की धौंकनीके समान श्वास लेता हुआहै तथापि जीवित नहीं समझाजाता ॥ ४२५ ॥

को भस्त्रेव भुवि श्वसन्नापि मृतो वेत्सीति विद्वन् वद
चेत्याकर्ण्य तदाब्रवीच्छृणु रसानाथेश सूर्यप्रभ ॥
यं धूर्ता गणकाश्च गायकगणा वैद्यास्तथा मागधाः
स्वैरिण्यश्च शठाश्च चारणगणा जाराः प्रशंसंतिहि ४२६

अर्थ–हे विद्वन् ! इस संसारमें लुहारकी धौंकनीके समान श्वास लेता हुआ मृतक (मरा) कौन है जिसको यदि आप जानते हों तो

कहो ऐसा वाक्य सुनके कहा कि, हे सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार ! आप श्रवण करो कि, जिस पुरुषको धूर्त्त १ गणक २ गानेवाले ३ वैद्य ४ मागध (राजभाट) ५ व्यभिचारिणी स्त्रियें ६ मूर्ख कविआदि, ७ और परस्त्रियोंसे संगति करनेवाले ८ उक्तप्रकारके प्राणी जिसको शरा हैं वह जीता हुआ भी मृतकके समान है ॥ ४२६ ॥

कितवा यं प्रशंसंति यं प्रशंसंति चारणाः ॥
यं प्रशंसंति बंधक्यः स पार्थ पुरुषाधमः ॥ ४२७ ॥

अर्थ-हे पार्थ ! जिसकी धूर्त्तलोग प्रशंसा करैं और जिसकी मूर्ख चारणलोग प्रशंसा करैं, व्यभिचारिणी स्त्रियें जिसकी प्रशंसा करैं, वह पुरुष पुरुषोंमें अधम (नीच) कहा गया है ॥ ४२७ ॥

नटगायकगणिकामल्लषंढाल्पजातिषु ॥
योऽतिसक्तो नृपो निंद्यः स एव हि श्वसन्मृतः॥४२८॥

अर्थ-नट, गानेवाले, वेश्या, मल्ल, नपुंसक, और हीनजातिके पुरुष, इनमें अत्यंत आसक्ति (प्रीति) रखनेवाला जो राजा है वह लोकिकमें निंदाके योग्य होताहै और वह राजा लुहारकी धौंकनीके समान श्वास लेता हुआहै तथापि मृतकही समझा जाताहै ॥ ४२८ ॥

स जीवति यशो यस्य कीर्तिर्यस्य स जीवति ॥
अयशोऽकीर्तिसंयुक्तो जीवन्नापि न जीवति ॥४२९ ॥

अर्थ-जिस मनुष्यका इस संसारमें शरीर विद्यमान नहीं रहने परभी यश, और कीर्ति, ये दोनोंही विद्यमान हैं, वह मरगया हो तौभी सदा जीवितही है और जो अपयश तथा अकीर्तिसे संयुक्त जीवित है तौभी वह मराहुआ है (अर्थात् निंदित पुरुषका जीनाभी मरनेहीके समानहै) ॥ ४२९ ॥

इति जीवन्मृतः ।

अथ कोशप्रकरणम् ।

एकार्थसमुदायो यः स कोशः स्यात् पृथक् पृथक् ॥
अप्रधर्ष्यः सदा कार्यः प्रजासंरक्षणाय च ॥ ४३० ॥

अर्थ–जो एक प्रकारके धनका समुदाय हो उसको पृथक् २ खजाना कहते हैं, राजा अपनी प्रजाकी रक्षाके निमित्त उस कोष (खजाने) को सदा अटूट करै (अर्थात् कालके पडनेपरभी क्षय न होवे ऐसा परिपूर्ण करै) ॥ ४३० ॥

येन केनाप्युपायेन धनं संचिनुयान्नृपः ॥
तेन संरक्षयेद्राष्ट्रं बलं यज्ञादिकाः क्रियाः ॥ ४३१ ॥

अर्थ–जिस किस उपायसे राजा धनका संग्रह अवश्य करै और उस संग्रह कियेहुए धनसे प्रजा और सेनाकी रक्षा करै और यज्ञ आदि उत्तमोत्तम क्रियाभी करै ॥ ४३१ ॥

बलप्रजारक्षणार्थं यज्ञार्थं कोशसंग्रहः ॥
परत्रेह च सुखदो नृपस्यान्यश्च दुःखदः ॥ ४३२ ॥

अर्थ–सेना तथा प्रजाकी रक्षाके निमित्त और यज्ञ आदि उत्तम कर्मोंकी सिद्धिके अर्थ संग्रह कियाहुआ धन इस लोक और परलोकमें राजाको सुख देनेवाला होताहै और इतर कामोंके निमित्त संग्रह किया हुआ धन उभयलोकमें दुःख देनेवाला होता है अर्थात् दुर्व्यसनोंमें धनका क्षय करना लोकमें अपयश और परलोकमें नरकका देनेवाला होताहै ॥ ४३२ ॥

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ॥
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् ॥ ४३३ ॥

अर्थ–राजाओंको अत्यंत यत्नसे कोश (खजाने) की भलीप्रकार रक्षा करनी चाहिये कारण कोश राजाओंका मूलकारण है और कोशकी वृद्धिसेही राज्यकी वृद्धि होती है ॥ ४३३ ॥

न कोशः शुद्धशौचेन न नृशंसेन जातुचित् ॥
मध्यमं पदमास्थाय कोशसंग्रहणं चरेत् ॥ ४३४ ॥

अर्थ-अत्यंत पवित्रतासेभी कोश (खजाने) की वृद्धि नहीं होती (अर्थात् दंडआदिके देनेमें अतिदया रखनेसे खजानेमें धनसंग्रह नहीं होता) और अत्यंत हिंसकतासे कदापि खजानेका संग्रह नहीं होता इसीसे राजाको उचित है कि, मध्यम वृत्तिको धारण करके सदा कोशका संग्रह करै ॥ ४३४ ॥

त्यक्त्वानीतिं बलं स्वीयं प्रजापीडनतो धनम् ॥
संचितं येन तत्तस्य स्वराज्यं शत्रुसाद्भवेत् ॥ ४३५ ॥

अर्थ-जिस राजाने नीति और बलको त्यागकर अपनी प्रजाको पीडा देके धनका संग्रह किया हो उस राजाकी समस्त प्रजा शत्रु रूप होजाती है (अर्थात् प्रजा विपरीत होजानेसे कोशवृद्धि नहीं होती) ॥ ४३५ ॥

दंडभूभागशुल्कानामाधिक्यात्कोशवर्धनम् ॥
अनापदि न कुर्वीत तीर्थदेवकरग्रहात् ॥ ४३६ ॥

अर्थ-राजाको उचित है कि, आपत्कालके विना दंड, भूभाग (मालगुजारी, हांसील, भेज) और महसूल की अधिक लगानसे तथा तीर्थस्थानोंसे, देवस्थानोंसे कर लेके कदापि कोशकी वृद्धि न करै (अर्थात् युद्ध आदिकी आपत्तिके विना दंडआदिकी अधिक लगान न लगावै और तीर्थआदि पुण्यस्थानोंसे भी कर न लेवै) ॥ ४३६ ॥

दंडभूभागशुल्कैस्तु विना कोशाद्बलस्य च ॥
संरक्षणं भवेत्सम्यग्यावाद्विंशतिवत्सरम् ॥ ४३७ ॥
तथा कोशस्तु संधार्यः स्वप्रजारक्षणे क्षमः ॥
बलमूलो भवेत्कोशः कोशमूलं बलं स्मृतम् ॥४३८॥

अर्थ–दंड, भूमिकी उपजका हिस्सा, महसूल, इन तीनोंकी आमदनीके विना तीस वर्षपर्यंत अपने कोशसे सेना आदिकी रक्षा श्रेष्ठ रीतिसे होजाय और अपनी समस्त प्रजाकी भी उक्त समय तक भली॰ प्रकार रक्षा करसकै वैसा कोश (खजाने) का संचय करै, कोशका मूल सेना और सेनाका मूल कोश कहा है (अर्थात् जहां खजाना वहां सेना और जहां सेना वहां खजाना होता है)॥ ४३७ ॥ ४३८ ॥

बलसंरक्षणात् कोशराष्ट्रवृद्धिरारिक्षयः ॥
जायते तत्त्रयं स्वर्गः प्रजासंरक्षणेन च ॥ ४३९ ॥

अर्थ–श्रेष्ठ शिक्षित सेना रखनेसे कोश और राज्यकी वृद्धि होकर शत्रुओंका नाश होता है और अपनी प्रजाकी नीति पूर्वक रक्षा करनेसे उक्त तीनोंकी और स्वर्गकी प्राप्ति होती है (अर्थात् खजानेकी और राज्यकी वृद्धि, शत्रुओंका नाश, स्वर्गकी प्राप्ति ये चारों पदार्थ केवल प्रजाकी श्रेष्ठ रीतिसे रक्षा करनेहीसे प्राप्त होते हैं) ॥४३९॥

त्रिंशदब्दप्रपूरं यत् कुटुंबस्योत्तमं धनम् ॥
पर्यातं षोडशाब्दानां मध्यमं तद्धनं स्मृतम् ॥४४० ॥
द्वादशाब्दप्रपूरं यद्धनं तन्नीचसंज्ञकम् ॥
संरक्षयेत् कृपणवत् काले दद्याद्विरक्तवत् ॥ ४४१ ॥

अर्थ–जिस धनसे किसी प्रकारकी आयके विना अपने कुटुंबकी भलेप्रकार पूर्ण रीतिसे तीस वर्षपर्यंत रक्षा हो जाय वह उत्तम धन कहा है और जिस संचय कियेहुए धनसे सोलह वर्ष पर्यंत अपने कुटुं॰ बकी श्रेष्ठ रीतिसे रक्षा होजाय वह मध्यम धन कहा है जिस धनसे बारह वर्ष पर्यंत अपने कुटुंब आदिका पालन पोषण हो जाय वह तुच्छ धन कहा है, बुद्धिमान् राजा कृपणके समान धनकी रक्षा करै और खर्च करनेका समय पाकर विरक्तके समान देदै, अर्थात् व्यर्थ जाती हुई छदाम की कौडीकोभी नहीं जानेदै और समय पडनेपर क्रोड रुपियोंको भी कंकरके समान जानै ॥ ४४० ॥ ४४१ ॥

कोशसंरक्षणे यत्नं कुर्याद्राजा समाहितः ॥
त्रिभिरंशैर्बलं धार्यं दानमर्द्धांशकेन च ॥ ४४२ ॥
अर्द्धांशेन प्रकृतयो ह्यर्द्धांशेनाधिकारिणः ॥
अर्द्धांशेनात्मभोगश्च कोशोंशेन स रक्ष्यते ॥ ४४३ ॥

अर्थ–राजा अपनी सावधानी पूर्वक कोश (खजाने) की रक्षा करै बुद्धिमान् राजाको उचित है कि प्रथम अपनी आमदनीको देखके आमदनीका छः विभाग करै, उन छः विभागोमेंसे तीन भागोंको सेना आदिके निमित्त खर्च करै और आधे भागमे दान, पारितोषिक (इनाम) आदि दे, आधे भागसे पुरोहितआदि दश प्रकृतियोंको नियत करै, और आधे भागसे यावन्मात्र अन्य अधिकारियोंको नियत करै आधे भागको अपना निज खर्च (स्त्रीपुत्र आदि) के निमित्त व्यय करै और एक भागमे सदा खजानेकी वृद्धि करै अर्थात् लक्षकी आमदनीवाला राजा लक्ष रुपियोंके छः विभाग करै तौ एक एक विभागके रु० १६६६६॥=॥।) सोलह हजार छः सौ छासठ रुपियेपुंणी ग्यारह आने हुये तौ उन छः विभागोंमेंसे तीन विभाग अर्थात् ५००००) । पचास हजार रुपिये पात्र आना रिसाले,पलटन, तोपखाना, रथखाना, आदि चतुरंगिणी सेनाके निमित्त खर्च करै और ८३३३ ।–।) आठ हजार तीनसौ तेतीस रुपिये सवापांच आना दान, तथा पारितोषिक, आदिमें खर्च करै और ८३३३ ।–।) आठहजार तीनसौ तेतीस रुपिये सवापांच आना पुरोहित आदि दश प्रकृतियोंकी वेतनआदिमें खर्च करै, और ८३३३।–।) आठ हजार तीनसौ तेतीस सवापाँच आना यावन्मात्र अन्य नोकरोंकी पालन पोषण करनेमें व्यय करै ८३३३।–।) आठ हजार तीनसौ तेतीस रुपिये सवपांच आना अपने तथा स्त्री, पुत्र, आदिके निमित्त प्रतिवर्ष खर्च करै, और शेष रहा रु० १६६६६॥=॥।) सोहल हजार

छसौ छासठ रुपिये पुंणिग्यारह आनेको खजानेकी वृद्धिके निमित्त प्रतिवर्ष खजानेमें रक्खै ॥ ४४२ ॥ ४४३ ॥

लक्षकी आमदनीमें उदाहरणचक्रम् ।	
५००००)।	सेनाआदिके खर्चमें
८३३३।-।)	दान देना तथा पारितोषिक आदिमें
८३३३।-।)	पुरोहितआदि दश प्रकृतिका वार्षिक वेतनमें
८३३३।-।)	यावन्मात्र अन्य नौकरोंका वार्षिक वेतनमें
८३३३।-।)	राजाके निज खर्च तथा स्त्री, पुत्र, आदिके वार्षिक व्ययमें
१६६६६॥=॥।	भंडारमें वृद्धिके निमित्त जमा प्रतिवर्ष
१०००००)	इस प्रकार सब लक्ष हुए

आयस्यैवं षड्विभागैर्व्ययं कुर्यात्तु वत्सरे ॥
सामंतादिषु धर्मार्थं न न्यूनस्य कदाचन ॥ ४४४ ॥

अर्थ—उक्तरीतिके अनुकूल आमदनीके छः विभाग करके वर्षभरमें खर्च करै, यह नियम लक्षकी आयवालेका है इसी प्रकारसे क्रोडों रुपियोंकी आमदनीवाले राजाओंको व्यय करना उचित है लक्षसे न्यूनवालोंका नहीं ॥ ४४४ ॥

न यथेष्टं व्ययायालं संचितं तु धनं भवेत् ॥
सदागमाद्विना कस्य कुबेरस्यापि नांजसा ॥ ४४५ ॥

अर्थ—निरंतर आय (आमदनी) के विना कुबेरका भी संचित धन इच्छानुसार व्यय (खर्च) करनेसे पूरा नहीं पड सकता तौ और किसका संचित धन यथेष्ट खर्च करनेमें रहसकता है अर्थात् आमदनीके विना यथेष्ट खर्च करनेसे कुबेरका भी खजाना रीता होजाय तौ मनुष्यके संचित धन नष्ट होजानेमें तौ संदेहही क्या है इसीसे राजाको उचित है कि, अपनी आमदनीके अनुकूल खर्च करै ॥ ४४५ ॥

अतिव्ययोनवेक्षा च तथार्ज्जनमधर्मतः ॥
मोक्षणं दूरसंस्थानां कोशव्यसनमुच्यते ॥ ४४६ ॥

अर्थ–आमदनीसे अधिक खर्च करना, तथा उक्तरीतिको त्यागके खर्च करना, खजानेकी आय, व्यय आदिको नहीं देखना, प्रजाको पीडा देके धन संचय करना दूरसंस्थित द्रव्योंको छोडदेना, ये चारोंही खजानेको नष्ट करनेके लिये व्यसन रूप कहे हैं ॥ ४४६ ॥

क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववांछया ॥
परीक्षियत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः ॥ ४४७ ॥

अर्थ–आय और व्ययको नहीं देखके अपनी इच्छापूर्वक निरंतर खर्च करनेवाला पुरुष यदि कुबेरके समान धनाढ्य हो तौ भी शीघ्रही दरिद्रताको प्राप्त हो जाता है इसीसे उचित है कि, अपनी आमदनीसे अधिक खर्च न करै ॥ ४४७ ॥

कोशक्षये ह्यमित्राणां वशं कौशल्य गच्छति ॥
उभयत्र प्रयुक्तस्य धर्मे चाधर्म एव वा ॥ ४४८ ॥

अर्थ–कौशलदेशके राजाके प्रति भीष्मजीका कथन है कि, हे राजन्! धर्मसंबंधी कार्योंमें अथवा अधर्मसंबंधी कार्योंमें तथा दोनों प्रकारके कार्योंमें आसक्त होके खजानेका नाश कर देनेसे राजा शत्रुओंके वशीभूत हो जाता है, इस कारण राजाको नीतिशास्त्रके अनुकूल व्यय करना चाहिये ॥ ४४८ ॥

उचितं तु व्ययं काले नरः कुर्यान्न चान्यथा ॥
आपत्संरक्षणक्षमं धनं यत्नेन रक्षयेत् ॥ ४४९ ॥

अर्थ–बुद्धिमान्को उचित है कि, गृहस्थसंबंधी तथा धर्म संबंधी कामोंके निमित्त समयको देखके अपनी आयके अनुसार उचित खर्च करै और अपनी आमदनीके सिवाय अधिक खर्च न करै कारण कि, विपत् पडनेपर धनके विना अन्य कोईभी रक्षा नहीं करता अतएव

विपत्तिसे बचानेमें समर्थ धनकी राजा सदा यत्नपूर्वक रक्षा करै अर्थात् विपत्तिसे समयमें धनही सहायक होता है ॥ ४४९ ॥

द्रव्याणां निचयः सदा मतिमता त्वापद्विनाशाय वै
कार्यो मा कुरु मा कुरु व्ययमहो नीतिर्मुहुर्भाषते ॥
व्यर्थं तद्व्यसनेषु कांततनयो वैरायते तद्विना सर्वा-
पत् प्रददाति मूर्ध्नि सततं पादं विनार्थव्ययात् ॥४५०॥

अर्थ–बुद्धिमानोंको उचित है कि, विपत्तिको दूर करनेके निमित्त धनोंका सदा संग्रह करै और नीतिभी बारंबार पुकारके यही कहती है कि, विपत्ति दूर करनेमें समर्थ धनको व्यसन (मद्यपानआदि) में व्यर्थ व्यय मत करो मत करो क्यों कि धन नहीं होनेसे प्रिय पुत्रभी पिताका वैरी हो जाता है और कार्य पडनेपर यदि खर्च करनेको द्रव्य न होवै तौ सब विपत्ति शिरपैं आपडती हैं इस कारण दुःख दूर करनेके निमित्तही धनका संग्रह करना कहाहै ॥ ४५० ॥

इति कोशप्रकरणम् ।

अथ व्यर्थकालात्ययनिषेधः ।

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ॥
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ ४५१ ॥

अर्थ–बुद्धिमानोंका समय काव्य (वाल्मीकि माघ आदि ग्रंथ तथा शास्त्र (मनु आदि) के सुनने सुनानेसे सार्थ व्यतीत होता है और मूर्ख पुरुषोंका समय व्यसन (मद्यपान आदि) अथवा निद्राके सेवन तथा कलहसंबंधी कर्मोंसे व्यर्थ व्यतीत होता है इसीसे बुद्धिमान्को उचित है कि व्यसनोंमें अमौल्य समयको व्यर्थ व्यतीत न करै ॥ ४५१ ॥

इतिहासं पुराणं च चरित्रं च महात्मनाम् ॥
श्रोतव्यं भूभुजा नित्यं तथाख्यानानि यानि च ॥४५२॥

अर्थ-इतिहास, पुराण और महत् पुरुषोंके चरित्र, तथा जो जो उत्तम आख्यान है इनको अनेक वार्त्ता जाननेके लिये राजा नित्यप्रति श्रवण करे ॥ ४९२ ॥

सुहृदां हितकामानां द्विजानां शास्त्रशालिनाम् ॥
चार्थशास्त्रप्रवीणानां संलापैः समयं नयेत् ॥ ४९३ ॥

अर्थ-राजाओंको उचित है कि अपने हितकी इच्छा करनेवाले सुहृद् और विविधशास्त्र विद्यामें तथा नीति शास्त्र और कलाकौशल्य आदि पदार्थ विद्यामें निपुण ऐसे पुरुषोंकी वार्ताओंसे समयको सार्थ करै अर्थात् ऐसे पुरुषोंकी सत् संगतिसे समय व्यतीत करै ॥ ४९३ ॥

यस्मिन् काले हि यत् कार्यं धर्मकमार्थसंयुतम् ॥
तत्तस्मिंश्चैव कर्त्तव्यं दर्शितं नयकोविदैः ॥ ४९४ ॥

अर्थ-राजाको उचित है कि, नीतिशास्त्रोंके पढे हुए विद्वानोंने धर्म अर्थकामसंबंधी जिस कार्यको जिस समयमें करनेको कहा हो उस कार्यको उसीही समयमें निःसंदेह करै अर्थात् कार्यके विभागसे समयको सार्थ व्यतीत करै अमौल्य समयको व्यर्थ न गमावै ॥ ४९४ ॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार अक्षयसिंहजीवर्मनिर्मिते अक्षयनीतिसुधाकरे भाषाटीकासमलङ्कृतः प्रथमस्तवकः समाप्तः ॥ १ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथाऽक्षय्यनीतिसुधाकरः ।

भाषाटीकासमेतः ।

द्वितीयस्तबकः २.

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥
यत् भद्रं तन्न आ सुव ॥ १ ॥

अथ व्यवहारार्थं सचिवादीनामावश्यकता ।

अर्थ—राज्यसंबंधि कार्य करनेके निमित्त सचिव आदिकी आवश्यकता होतीहै ॥

यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ॥
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥ १ ॥

अर्थ—जो अल्पसे अल्पभी कार्य हो तथापि वह सहायतारहित एक मनुष्यसे सिद्ध होना दुष्कर है तो अति महान् कार्योंसे संबंध रखनेवाला राज्यसंबंधि कार्य एक मनुष्यसे कैसे सिद्ध हो सकताहै ॥१॥

पुरुषे पुरुषे भिन्नं दृश्यते बुद्धिवैभवम् ॥
आप्तवाक्यैरनुभवैरागमैरनुमानतः ॥ २ ॥

अर्थ—आप्त पुरुषों (यथार्थ बोलनेवालों) के वाक्योंसे और नाना प्रकारके अनुभवसे और शास्त्रोंके विचारसे और अनुमानसे देखा जावै तौ मनुष्योंमें बुद्धिका प्रकाश भिन्न भिन्न प्रतीत होताहै ॥ २ ॥

प्रत्यक्षेण च सादृश्यैः साहसैश्च छलैर्बलैः ॥
वैचित्र्यं व्यवहाराणामौन्नत्यं गुरुलाघवैः ॥ ३ ॥
न हि तत्सकलं ज्ञातुं नरेणैकेन शक्यते ॥
अतः सहायान् वरयेद्राजा राज्यविवृद्धये ॥ ४ ॥

अर्थ-प्रत्यक्षतासे और सादृश्यता आदिसे साहस आदिसे विविधप्रकारके छलबलसे और गुरुता लघुता आदिसे व्यवहारोंकीभी विचित्रता तथा गहनता होती है तो अनेक प्रकारके व्यवहारोंकी उस संपूर्ण विचित्रता और गहनताको जाननेमें एक मनुष्य कदापि समर्थ नहीं हो सकता इसीसे राजा अपने राज्यकी वृद्धिके निमित्त नाना प्रकारके अधिकारियोंको अवश्य रक्खै ॥ ३ ॥ ४ ॥

कुलशीलगुणैर्वृद्धाञ्छूरान् भक्तान् प्रियंवदान् ॥
हितोपदेशकान् क्लेशसहान् धर्मरतान् सदा ॥ ५ ॥

अर्थ-कुल, शील और गुणसे वृद्ध हो (अर्थात् श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेके धर्मनिष्ठ अनिंदित कर्मोंके करनेवाले अच्छे विद्यावान् हो) शूरवीर, स्वामीके भक्त, सबसे सदा प्रिय बोलनेवाले, सदा हितकारी उपदेश देनेवाले, नाना प्रकारके क्लेशोंको सहन करनेवाले और सदा अपने धर्ममें दृढ विश्वास रखनेवाले ऐसे मनुष्योंको राजा अपना सहायक बनावे ॥ ५ ॥

विद्यावृद्धान् सदा यूयमुपासीध्वं नृपात्मजाः ॥
उपदेशामृतं तेषां पिबत शास्त्रसम्मतम् ॥ ६ ॥

अर्थ-ग्रंथकर्त्ता श्रीमान् राजकुमारका कथन है कि हे राजकुमारो ! आप लोगोंको अपनी सहायताके लिये सदा विद्यावान् और कुलीनोंकी सत्संग करनी चाहिये और शास्त्रोंके संमत उन्होंका उपदेशरूप अमृतको सदा पान करना चाहिये ॥ ६ ॥

अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च बहुश्रुतान् ॥
सुसंतुष्टांश्च कौंतेय महोत्साहांश्च कर्मसु ॥ ७ ॥

अर्थ-महाभारतमें भीष्मजीका कथन है कि हे राजन् युधिष्ठिर ! नीति तथा वेदवेदांगोंके पढे हुए, बहुत वार्ताके जाननेवाले, अच्छे शूरवीर, और अपने स्वामीके दिये हुए वेतनसे संतुष्ट रहनेवाले (अर्थात् घूंस आदिको नहीं लेनेवाले) व अर्थी प्रत्यर्थीके आक्षेपपू-

र्वक कहे हुए वाक्योंसे क्षोभित नहीं होनेवाले और राज्यसंबंधी कार्योंको वहुत उत्साहपूर्वक करनेवाले ऐसे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको प्रधान आदिके अधिकारपै नियत करै ॥ ७ ॥

तैः सार्द्धं चिंतयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ॥
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥ ८ ॥

अर्थ–उन मंत्रियोंके साथ एकांतस्थानमें संपूर्ण राज्यसंबंधी रहस्य तथा प्रशस्तकामोंको, संधिविग्रह आदि षड्गुणोंका और सेनाका पालन पोषण आदि तथा अपने राज्यके ग्राम देश आदिके रक्षा करनेके उपायों और धान्य तथा रत्न आदिके उत्पत्तिस्थानोंकी रक्षाके उपायोंको, अपने शरीरसंबंधी रक्षा तथा समग्र राष्ट्रकी रक्षाके उपायोंको और प्राप्तधनकी रक्षा करनेकी विधिका सदा चिंतवन करै॥८॥

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ॥
समस्तानां च व्यस्तानां विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ९॥

अर्थ–बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि अपने राज्यकी उन्नतिके निमित्त उक्त मंत्रियोंके साथ एकांतस्थानमें राज्य संबंधी कार्योंकी सिद्धिका चिंतवन करै और उन सभास्थ समस्त मंत्रियोंके अभिप्रायोंको पृथक् २ शोचकर अथवा उन मंत्रियोंके मध्ये एक एक मंत्रीके साथ भिन्न भिन्न संमति करके उन्होंके अभिप्रायोंको पृथक् पृथक् विचारके जिस कर्तव्यमें विशेष मंत्रियोंकी संमति हो और अपना अवश्य हित प्रतीत होता हो राजा उसीके अनुकूल कार्यको करै ॥ ९ ॥

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्राज्ञानवस्थितान् ॥
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ १० ॥

अर्थ–पवित्र, बुद्धिमान्, वंशपरंपरा आदिसे राजाके कार्योंको श्रेष्ठ रीतिसे करनेवाले, प्रजापीडनके विना धनसंग्रह करनेमें समर्थ, चोरी

करने व घूंस लेने व धन आदिके लोभसे अपने धर्मको खोदेने इत्यादि कुकृत्योंसे जो कभी कलंकित न हुए हो ऐसे अन्य अधिकारियोंकोभी राजा अपने अपने योग्य अधिकारोंपै नियत करै ॥ १० ॥

निर्वर्तेतास्य यावद्भिरिति कर्त्तव्यता नृभिः ॥
तावतोऽतंद्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ११ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि अपने राज्यका समग्र कार्य श्रेष्ठ रीतिसे चल सकै उतनेही आलस्यरहित और कार्य करनेमें चतुर और विचक्षण (अर्थात् नेत्र आदिके संकेतको जाननेवाले और अनेक प्रकारकी नवीन वार्त्ताको प्रगट करनेवाले) ऐसे ऐसे पुरुषोंको नियत करै अर्थात् जितने पुरुषोंसे अपना राज्यसंबंधी समग्र कार्य श्रेष्ठ रीतिसे चलसकै उतनेही उत्तम उत्तम पुरुषोंको रक्खै और आलसी व घूंस लेनेवाले पुरुषोंको तौ कदापि न रक्खे ॥ ११ ॥

तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान्दक्षान्कुलोद्गतान् ॥
शुचीनाकरकर्मांते भीरूनंतर्निवेशने ॥ १२ ॥

अर्थ—उन मंत्रियोंके मध्य शूर, वीर, चतुर, और अपने कुलकी मर्यादको कलंकसे बचानेवाले ऐसे कुलीन पुरुषोंको कोष (खजाना) आदिपै नियत करै और धन आदिके लोभसेभी किसी प्रकार प्राणांतपर्यंत अकृत्य कार्यको न करै ऐसे उत्तम पुरुषोंको सुवर्ण आदिकी खानोंपै और तहसील आदिके कामोंपै नियत करै और धर्मसे डरनेवाले व स्वभावसे कायर ऐसे, कुलीनोंको भोजन, शयन, तथा अंतःपुर (रनवास) संबंधी कार्योंपै नियत करै ॥ १२ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पैतृपैतामहाञ्छुचीन् ॥
दांतान्कर्मसुपुण्यांश्च पुण्यान्सर्वेषु योजयेत् ॥ १३ ॥

अर्थ—पीढियोंसे राजाकी सेवा करनेवाले, वंशपरंपरासे पवित्रता आदिमें विख्यात, स्वयं पवित्र कर्मोंके करनेवाले, अर्थात् राजद्रोह तथा घूंस आदि कलंकोंसे सदा रहित और बडे विचारशील

राज्यसंबंधी कार्योंके करनेमें बडे उत्साही और चतुर ऐसे मंत्रियोंको सर्व प्रकारके अधिकारोंमें नियत करै ॥ १३ ॥

व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः ॥
गुणयुक्तोपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥ १४ ॥

अर्थ–ऋणादान आदि अनेक प्रकारके व्यवहारसंबंधी कार्योंपै (अर्थात् न्याय विभागपै) और धर्मसंबंधी कार्योंपै धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्रके पढे हुए तथा वेदवेदांग आदिके बलसे भूत, भविष्यत्, वर्त्तमानके लाभालाभको जाननेवाले विचारशील श्रेष्ठ मंत्रियोंको नियत करै अर्थात् उक्त कार्योंकी सिद्धिके निमित्त श्रेष्ठ मंत्रियोंकी सभा (कौन्सील) नियत करके उसकी संमतिसे कार्य करै और प्रजाहितैषी बुद्धिमान् राजाको उचित है की गुणयुक्त हो तौभी एकही मंत्रीके आधारसे कार्य न करै अर्थात् एकही गुणवान्के भरोसे पर राज्यभारको छोडके निश्चिंत न सोवै क्योंकि भ्रम होजाना मनुष्य बुद्धिका धर्म है तौ राज्यसंबंधी, अगाध कार्योंमें एक पुरुषको भ्रम कैसे न होगा और भ्रम होनेसे कार्यकी अवश्य हानि होती है व राजा एकही मंत्रीको विश्वासपात्र बना दे तौ अन्यमंत्रियोंके तिरस्कार होनेसे राज्यसंबंधी कार्योंमे अनेक प्रकारकी हानि होती है इस लिये बुद्धिमान् राजा उक्त गुणोंसे संयुक्त सभासदोंकी संमतिके अनुकूल कार्य करै ॥ १४ ॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पंडितम् ॥
पंडितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निश्रेयसं महत् ॥ १५ ॥

अर्थ–राजा मूर्खोंको कदापि सभासद न बनावै कारण कि रामचंद्रजीने भरतजीके प्रति राजनीतिकी शिक्षामें कहा था कि हे भरत ! हजारों मूर्खोंके समूहको छोडके एक बुद्धिमान्को निकट रखनेकी इच्छा रखते हो वा नहीं क्योंकि अतिकठिन कार्य पडनेपर धन आदिके अभावमेंभी बुद्धिमान् अपने हितकारी महान् कार्यको सिद्ध करलेते हैं ॥ १५ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ॥
अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ १६ ॥

अर्थ—यदि राजा हजार मूर्खोंको सतकारपूर्वकभी अपने पास रक्खै अथवा दश हजारको रक्खै तथापि उन मूर्खोंके समुदायसे राज्य संबंधी गहन कार्योंमें राजाको कदापि सहायता नहीं मिलती ॥ १६ ॥

एरंडभिंडार्कनलैः प्रभूतैरपि संचितैः ॥
दारुकृत्यं यथा नास्ति तथैवाज्ञैः प्रयोजनम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जैसे बहुतसे संग्रह किये हुएभी एरंड, भिंडी, आक, नरशलों इन काष्ठोंसे कपाट (किवाड) तथा चौकी आदि कदापि सिद्ध नहीं होते वैसेही संग्रह किये हुए मूर्खोंके समुदायसेभी राज्यसंबंधी कार्य साम आदि कदापि सिद्ध नहीं होते अर्थात् आक आदिकी लकडियोंसे किवाड आदि नहीं बनसकते वैसेही मूर्खोंसेभी ऋणादान आदि तथा संधिविग्रह आदि सिद्ध नहीं होसकते इसीसे बुद्धिमानोंहीको रखने चाहिये ॥ १७ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः ॥
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ १८ ॥

अर्थ—हजारों मूर्खमंत्रियोंसे तौ एकही बुद्धिमान् मंत्री रखना श्रेष्ठ है, क्योंकि भूत भविष्यत् कालके लाभालाभको विचारके वर्तमानके अनुकूल कार्य करनेवाला, शूर, वीर, यावन्मात्र व्यवहारोंके कार्य करनेमें चतुर और विचक्षण ऐसा एकही मंत्री रक्खनेसे राजाको वा युवराजको अगाध लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है इसीसे राजा बुद्धिमानोंकोही मंत्री बनावै ॥ १८ ॥

प्राज्ञे नियोज्यमाने तु संति राज्ञस्त्रयो गुणाः ॥
यशः स्वर्गनिवासश्च विपुलश्च धनागमः ॥ १९ ॥

अर्थ–स्वधर्मनिष्ठ कुलीन बुद्धिमान्को अधिकारपर नियत करनेसे राजाको इस लोकमें उत्तम यश, अगाध लक्ष्मी और परलोकमें स्वर्ग इन तीन गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

मूर्खे नियोज्यमाने तु त्रयो दोषा महीपतेः ॥
अयशश्चार्थनाशश्च नरके गमनं तथा ॥ २० ॥

अर्थ–मूर्खको अधिकारपै नियत करनेसे राजाको इस लोकमें महान् अपयश और प्रजा आदिसे प्राप्त होनेवाले धनकी हानि, और परलोकमें नरक इन तीन दोषोंकी प्राप्ति होती है इसीसे बुद्धिमान् राजा मूर्खको कदापि अधिकार न दे ॥ २० ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशांपते ॥
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ २१ ॥

अर्थ–नारदऋषि राजा युधिष्ठिरको कहते हैं कि हे राजन् ! लोभी, चोर, शत्रु और समयके अनुकूल व्यवहारको नहीं जाननेवाले पुरुषोंको अपने राज्यसंबंधी कार्योंपर नियत तो न किये अर्थात् आपको उचित है कि उक्त पुरुषोंको राज्यके अधिकारोंपर कदापि नियत न करै ॥ २१ ॥

त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम् ॥
कार्ये महति युंजानो हीयते नृपतिः श्रिया ॥ २२ ॥

अर्थ–धन व कुल आदिके घमंडसे राजाके कार्योंमें चित्त नहीं देनेवाले, मद्यपानमें उन्मत्त रहनेवाले, चोपड आदि खेल खेलनमें आसक्ति रखनेवाले, परस्त्रीगमन करनेवाले तथा रातदिन निज स्त्रीके वशीभूत रहनेवाले, शिकार खेलनमें प्रीति रखनेवाले पुरुषोंको यदि राजा प्रधान आदिके बडे कार्योंपै नियत कर दै तौ वह राजा उत्तम राज्यलक्ष्मीसे अवश्य हीन हो जाता है इसीसे बुद्धिमान् राजाको उचित है कि उक्त दोषोंके सेवन करनेवाले पुरुषोंको यावन्मात्र राज्यसंबंधी कार्योंमें नियत न करै ॥ २२ ॥

राज्यं प्रजा बलं कोशः सुनृपत्वं न वर्द्धितम् ॥
यन्मंत्रतोरिनाशस्तैर्मंत्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥ २३ ॥

अर्थ-जिन मंत्रियोंकी सम्मति (सलाह) पूर्वक कार्य करनेसेभी राज्य, प्रजा, सेना, कोश और राजाकी सुकीर्ति इन पांच बातोंकी वृद्धि और शत्रुओंका नाश नहीं हुआ तौ उन मंत्रियोंके रखनेसे क्या प्रयोजन है अर्थात् ऐसे मंत्रियोंके रखनेमें केवल धन आदिकी हानिके सिवाय और कुछभी लाभ नहीं है ॥ २३ ॥

स्थान एव नियुज्यंते भृत्याश्चाभरणानि च ॥
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं शिरसि कृतम् ॥ २४ ॥

अर्थ-भृत्य और आभरण ये दोनोंही अपने अपने योग्य स्थानों-पर ही नियत किये जाते हैं जैसे चूडामणि (शिरफूल) पैरोंमें नहीं पहना जाता और नूपुर (रमझोल-पैरोंका जेवर) शिरपर कदापि धारण नहीं किया जाता अर्थात् भृत्य और भूषण अपने २ योग्य स्थानोंपर ही शोभायमान होते हैं ॥ २४ ॥

यतो मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ॥
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्या वै नृपनंदनाः ॥ २५ ॥

अर्थ-ग्रंथकर्त्ता राजकुमारका कथन है कि हे राजकुमारों ! इसीसे बडे बडे अधिकारोंपै अच्छे बुद्धिमान् कुलीनोंको और मध्यम श्रेणीके अधिकारों पै मध्यम पुरुषोंको जघन्य (छोटे) अधिकारोंपै कनिष्ठ (छोटे) पुरुषोंको नियत करने चाहिये अर्थात् जैसा योग्य पुरुष हो वैसाही योग्य अधिकार देवै ॥ २५ ॥

अधिकारे क्षमं दृष्ट्वा ह्यधिकारे नियोजयेत् ॥
प्राप्याधिक्यपदं योग्यात्स्वस्य मुह्यति को न वै॥२६॥

अर्थ-राजाको उचित है कि, अधिकारके योग्य पुरुषको देखके अधिकारपै नियत करै क्योंकि अपनी योग्यतासे अधिक अधिकारको

प्राप्त होके कौन पुरुष मोहको प्राप्त नहीं होता अर्थात् अपनी योग्यतासे अधिक अधिकार मिलजानेके कारण पुरुष घमंडी होजाता है और घमंड होनेसे पूरा आलसी हो जानेके कारण कार्यमें हानि पहुँचती है इसीसे यथायोग्य अधिकारपै नियत करै ॥ २६ ॥

एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा ॥
नियुंजीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै ॥ २७ ॥

अर्थ—एक एक अधिकार पै सदा तीन तीन पुरुषोंको नियत करै और उनमें एक अतिश्रेष्ठ बुद्धिमान्को मुख्य बनावै अर्थात् एक हाकिम और उसके पास दो कार्यद्रष्टा बनावै ॥ २७ ॥

द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये हायनैस्तान्निवर्त्तनम् ॥
त्रिभिर्वा पंचभिर्वापि सप्तभिर्दशभिश्च वा ॥ २८ ॥

अर्थ—एकको मुख्य (आज्ञाका देनेवाला) बनाके उसके पास दो मनुष्य कार्योंको देखनेवाले नियत करै और तीन, पाँच, सात, व दशवर्षोंसे उक्त अधिकारियोंको अपने अपने अधिकारोंसे बदल देवै अर्थात् दशवर्षसे ज्यादह किसीकोभी एकही अधिकार पै स्थित न रक्खै ॥ २८ ॥

दृष्ट्वा तत्कार्यकौशल्ये तथा तं परिवर्त्तयेत् ॥
नाधिकारं चिरं दद्याद्यस्मै कस्मै सदा नृपः ॥ २९ ॥

अर्थ—उन अधिकारियोंकी कार्य और कुशलता (कार्यनिपुणता) को देखकर उनके योग्य अधिकारोंपै बदली करै अर्थात् कार्य करनेमें उत्साही और चतुर होवै तौ अधिक अधिकारपै नियत करै और विपरीत होवै तौ हीन अधिकारपै नियत करै और किसीके निमित्तभी राजा बहुत काल पर्यंत एकही अधिकार न दै ॥ २९ ॥

कुलीनायापि दक्षाय नीतिशास्त्रविदेपि च ॥
अधिकारमदं पीत्वा को न मुह्यात्पुनश्चिरम् ॥ ३० ॥

अर्थ-श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ हो अच्छा विद्वान् और नीतिशास्त्रोंका पढा हुआ हो तथापि चिरकालपर्यंत एकही अधिकारपै नियत न करै कारण अधिकाररूप मद्यको पीकर कौन मनुष्य मोहको प्राप्त नहीं होता जिनसेंभी चिरकालपर्यंत एकही अधिकारपै नियत रहनेसे फिर कैसे मोहको प्राप्त नहीं होगा। इससे राजा अधिकारियोंको अपने अपने अधिकारोंसे सदा बदलता रहै ॥ ३० ॥

अतः कार्यक्षमं दृष्ट्वा कार्येऽन्ये तं नियोजयेत् ॥
तत्कार्यकुशलं चान्यं तत्पदानुगतं खलु ॥ ३१ ॥

अर्थ-इसीसे राजाको उचित है कि कार्य करनेमें पुरुषकी योग्यता देखके उसको उसके योग्य अन्य अधिकारपर नियत करै और उसके कार्यपर बुद्धिमान् कार्यकुशल अन्य पुरुषको तथा उसके अनुयायीको नियत करै अर्थात् उसको बदलके उसके कार्यपर अन्य बुद्धिमान् पुरुषको तथा उसके पास रहनेवाले कार्यद्रष्टाओंमें जो बुद्धिमान् और कार्य करनेके योग्य हो उसको नियत करदेवै ॥ ३१ ॥

यथायथा श्रेष्ठपदे ह्यधिकारी यदा भवेत् ॥
अनुक्रमेण संयोज्यो ह्यंते तं प्रकृतिं नयेत् ॥ ३२ ॥

अर्थ-जैसे जैसे श्रेष्ठ अधिकारपै अधिकारी होता जाय वैसे वैसे अनुक्रमसे योजना देके अंतमें उसको प्रधान आदि उत्तम अधिकारपै नियत करै अर्थात् जैसा जैसा उत्तम कार्य करता जाय वैसा वैसा उत्तमोत्तम अधिकार देदेके प्रधानपर्यंतके अधिकारपर क्रमसे नियत करै कारण कि प्रथमही बेपरीक्षा किसीको उत्तम अधिकार न दै ॥ ३२ ॥

इति व्यवहारार्थं सचिवादीनामावश्यकता समाप्ता ।

अथ पुरोहितादिदशलक्षणानि ।

समासतः पुरोधादिलक्षणं यत्तदुच्यते ॥
पुरोधाश्च प्रतिनिधिः प्रधानः सचिवस्तथा ॥ ३३ ॥

मंत्री च प्राड्विवाकश्च पंडितश्च सुमंत्रकः ॥
अमात्यो दूत इत्येता राज्ञः प्रकृतयो दश ॥ ३४ ॥

अर्थ—शास्त्रोंमें पुरोहित आदि दश राजप्रकृतिके जो लक्षण कहे हैं वह संक्षेपसे यहां कहते हैं पुरोहित १ प्रतिनिधि २ प्रधान (दिवान) ३ सचिव (सेनाका अधिपति) ४ मंत्री ((सलाहकार) ५ प्राड्विवाक (न्यायविभागका अधिकारी) ६ पंडित (धर्माधर्मबतलानेवाला) ७ सुमंत्रक (हिसाबीकार्योंका अधिपति) ८ अमात्य (हाकिममाल) ९ दूत (वकील) १० ये दश राजाकी प्रकृति कही है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

दशमांशाधिकाः पूर्वं दूतांताः क्रमशः स्मृताः ॥
अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित् स्मृतः सदा ॥ ३५ ॥

अर्थ—उपरोक्त पुरोहित आदि दूतपर्यंत इन दश प्रकृतियोंमें पूर्वपूर्व प्रकृति अपनी उत्तर प्रकृतिसे दशमांश मान तथा वेतन (तनखा अधिक पानेवाले क्रमसे कहे हैं यहां उदाहरणके निमित्त वेतन दिखलाते हैं जैसे पुरोहितको मासिक रु० १००० (एक सहस्र मिलते हैं तो प्रतिनिधिको ९०० नौ सौ मिलने चाहिये और दिवानको ८१०) और सचिवको ७२९) और मंत्रीको ६५७) और प्राड्विवाकको ५९१) और पंडितको ५३२) और सुमंत्रको ४७९ (अमात्यको ४३१) और दूतको ३८८) इस क्रमसे मिलने चाहिये यह उदाहरण आने आदिको छोडके केवल सामान्यरीतिसे दिखलाया है इस रीतिसे वेतन आदि देना कोई आचार्यका मत है और किन्हीं आचार्यने तौ राजाको सदा आठही प्रकृतिसे युक्त कहा है ॥ ३५ ॥

सुमंत्रः पंडितो मंत्री प्रधानः सचिवस्तथा ॥
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ॥ ३६ ॥
एता भृतिसमास्त्वष्टौ राज्ञः प्रकृतयः स्मृताः ॥

अर्थ-सुमंत्र १ पंडित २ मंत्री ३ प्रधान ४ सचिव ५ अमात्य ६ प्राड्विवाक ७ प्रतिनिधि ८ ये सुमंत्र आदि राजाकी आठही प्रकृति समान मासिक पानेवाली कही है अर्थात् कोई प्राचार्योंके मतमें राजाकी आठही प्रकृति कही है और इन प्रकृतियोंका आदरसत्कार वेतनभी बराबरही कहा है ॥ ३६ ॥

पुरोधाः प्रथमः श्रेष्ठः सर्वेभ्यो राज्यराष्ट्रभृत ॥
तदनु स्यात् प्रतिनिधिः प्रधानस्तदनंतरम् ॥ ३७ ॥
सचिवस्तु ततः प्रोक्तो मंत्री तदनु चोच्यते ॥
प्राड्विवाकस्ततः प्रोक्तः पंडितस्तदनंतरम् ॥ ३८ ॥
सुमंत्रस्तु ततः ख्यातो ह्यमात्यस्तु ततः परम् ॥
दूतस्ततः क्रमादेते पूर्वश्रेष्ठा यथागुणाः ॥ ३९ ॥

अर्थ-इन उपरोक्त दशप्रकृतियोंमें अपनी वक्ष्यमाण दैवी शक्तिके प्रभावसे सर्व राज्यांगके पालक होनेके कारण प्रथम पुरोहितही सर्व प्रकृतियोंसे श्रेष्ठ होताहै और उसके पश्चात् प्रतिनिधि और तदनंतर प्रधान समझा जाता है प्रधानके अनंतर सचिव और तदनंतर मंत्री कहा है मंत्रीके अनंतर प्राड्विवाक और तदनंतर पंडित कहा है पंडितके अनंतर सुमंत्र और तदनंतर अमात्य और तिससे परे दूत है इस प्रकार ये दशप्रकृति पुरोहितको आदि लेके दूतपर्यंत क्रमसे पूर्व पूर्व प्रकृति अपनी उत्तर प्रकृतिसे श्रेष्ठ मानी गई है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

अथ पुरोहितः ।

मंत्रानुष्ठानसंपन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ॥
जितेंद्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ॥ ४० ॥
षडंगवित्सांगधनुर्वेदविद्यार्थधर्मवित् ॥
यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिपरो भवेत् ॥ ४१ ॥

नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः ॥
सैवाचार्यः पुरोधा यः शापानुग्रहयोः क्षमः ॥ ४२ ॥

अर्थ—उपरोक्त दश प्रकृतियोंके क्रमसे कार्य दिखलाते हैं । अथर्ववेदप्रणीतमंत्रविद्या तथा आसन, ध्यान आदिसे देवताओंको प्रसन्न कर लेनेमें कुशल और चारों ही वेदोंके धर्मोंको जाननेवाला, कर्मकांड करने करानेमें तत्पर, सब इंद्रियोंको जीतनेवाला, क्रोधसे रहित, लोभ और मोहसे वर्जित और वेदके व्याकरण आदि छः अंगोंको जाननेवाला, सांगोपांग धनुर्वेदका ज्ञाता और नीतिशास्त्र तथा धर्मशास्त्रको यथार्थ जाननेवाला और जिसके कोपके भयसे राजा भी धर्म और नीतिमें तत्पर होजाय अर्थात् जिसके भयसे राजा कदापि धर्म और नीतिके मार्गको न त्यागै और नीतिशास्त्रमें, शस्त्रअस्त्रके चलानेमें, व्यूहरचना (कवायद) करने कराने आदिमें बहुतही कुशल हो वह पुरोहित कहलाता है, अर्थात् उपरोक्त कर्मोंके जाननेवालाही पुरोहित होता है और जो पुरोहित शाप देनेमें अर्थात् शाप देकर उसका तत्काल फल दिखलानेमें तथा कृपा करनेमें समर्थ होता है वही आचार्यभी कहलाता है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

वेदवेदांगतत्त्वज्ञो जपहोमपरायणः ॥
आशीर्वादपरो नित्यमेष राजपुरोहितः ॥ ४३ ॥

अर्थ—जो वेद तथा वेदोंके अंगोंके तत्त्वको यथार्थ जाननेवाला और जप, होम आदिके करने करानेमें परायण, और राजाका मनोरथ सिद्ध करनेमें नित्य तत्पर रहनेवालाही राजाका पुरोहित कहलाता है ॥ ४३ ॥

अथ प्रतिनिधिः ।

कार्याकार्यप्रविज्ञाता स्मृतः प्रतिनिधिस्तु सः ॥
कुलवान्नीतिसंपन्नः सर्वधर्मविदश्च यः ॥ ४४ ॥

अर्थ–जो कुलीन, नीतिपरायण, देश तथा कुल आदिके सर्व प्रकारके धर्मोंको जाननेवाला, राज्यसंबंधी कार्योंमें कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके विभागको जाननेवाला हो वह राजाका प्रतिनिधि कहलाता है ॥ ४४ ॥

अहितं चापि यत्कार्यं सद्यः कर्तुं यदौचितम् ॥
अकर्तुं यद्धितं चापि राज्ञः प्रतिनिधिः स्मृतः ॥ ४५ ॥

अर्थ–जो कार्य राजाका अहितकारी हो यदि वह शीघ्रही करने योग्य हो या अहितकारी कार्य करनेमें लाभालाभके हेतुको और जो कार्य हितकारीभी हो परंतु तत्काल करने योग्य नहीं हो अर्थात् हितकारी होनेपरभी शीघ्र करनेसे विपाकमें हानिकारक हो उन सबको यथार्थ जानता हो वह ही राजाका प्रतिनिधि कहलाता है अर्थात् उपरोक्त लक्षणोंसे युक्त मनुष्यही प्रतिनिधि हो सकता है ॥ ४५ ॥

अथ प्रधानः ।

सर्वदर्शी प्रधानः स्याद्देशकालार्थधर्मवित् ॥
कुलीनः सत्यसंपन्नो राज्यकार्यविदश्च यः ॥ ४६ ॥

अर्थ–जो संपूर्ण कार्योंका द्रष्टा, देश, समय तथा धनोपार्जनकी विधि और धर्मशास्त्रका जाननेवाला, कुलीन, सत्यवादी, या सत्यका पक्ष करनेवाला, राज्यसंबंधी कार्य करनेमें कुशल होता है वहही प्रधान (दीवान) कहलाता है ॥ ४६ ॥

बोधयेत्कारयेत्कुर्यान्न कुर्यान्न प्रबोधयेत् ॥
सत्यं वा यदि वासत्यं कार्यजातं च यत्किल ॥ ४७ ॥
सर्वेषां राजकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिंतयेत् ॥

अर्थ–राज्यसंबंधी कार्योंके विषयमें जो सत्य या असत्य कार्य उत्पन्न हुआ हो उसकी निश्चयके निमित्त प्रधान सब अधिकारियोंको बोधन करै अर्थात् अपने राज्यमें तहकीकात करने योग्य कार्यकी सच्ची झूठीभी खबर मिल जावै तौ उसकी तत्काल खोजकर निश्चय

करै और वह कार्य सत्य हो तो आप स्वयं करै या अन्य अधिकारियोंसे करावे यदि असत्य हो तो न आप करै और न करनेकी आज्ञा दे संपूर्ण राजसंबंधी कार्योंका प्रधान इस रीतिसे चिंतवन करै ॥ ४७ ॥

अथ सचिवः (फौजी अफसर) ।

सेनावित् सचिवः प्रोक्तः सेनाकार्यविदश्च यः ॥
गजानां च तथाश्वानां रथानां पदगामिनाम् ॥ ४८ ॥

अर्थ–जो सेनाका कार्य (कवायद) आदि जानता हो और सेनाकी जहां तहां स्थिति तथा शिक्षित अशिक्षित आदिसे सेनाका विभाग जानता हो उसको सचिव (सेनापति) कहते हैं और सेनाके अंग जो हाथी, घोडे, रथ, पैदल इनकी परीक्षाभी सचिवही करै ॥ ४८ ॥

सद्दृढानां तथोष्ट्राणां वृषाणां सच एव हि ॥
वाद्यभाषासु संकेतव्यूहाभ्यसनशालिनाम् ॥ ४९ ॥

अर्थ–अच्छे दृढ उष्ट्र (ऊंट) और बहल आदिकीभी परीक्षा करै और बाजे (बिगुल आदि) तथा भाषा (जबान) तथा ध्वजा आदिके संकेतोंसे व्यूहाभ्यास (कवायद) करनेमें तत्पर सैनिकोंके आचरणको देखै ॥ ४९ ॥

प्राक्प्रत्यग्गामिनां राज्यचिह्नशस्त्रास्त्रधारिणाम् ॥
परिचारगणानां हि मध्यमोत्तमकर्मणाम् ॥ ५० ॥

अर्थ–पूर्वस्थानको छोडके उत्तरस्थानको जानेवाली या पूर्वदेशसे पश्चिमदेशको जानेवाली सेना (फौजों) के कृत्याकृत्यकीभी परीक्षा करै अर्थात् बदली होके अन्यत्र जानेवाली सेनाके आचरणको देखै क्योंकि सेनाके सैनिक दुराचारोंसे प्रजाको बाधित न करसके और राज्यचिह्न जो छडी, चपरास आदि तथा अस्त्र शस्त्र आदिके धारण करनेवाले नौकरोंके तथा अन्यभी उत्तम या मध्यम नौकरोंके आचरणकी भी परीक्षा करै ॥ ५० ॥

अस्त्राणामस्त्रपातिनां सद्यस्त्वंतुरगीगणः ॥
कार्यक्षमश्च प्राचीनः सद्यस्कः कति विद्यते ॥ ५१ ॥
कार्यासमर्थः कत्यस्ति शस्त्रगोलाग्निचूर्णयुक् ॥
संग्रामिकश्च कत्यस्ति संभारस्तान् विचिंत्य च॥५२॥
सचिवश्चापि तत्कार्यं राज्ञः सर्वं निवेदयेत् ॥

अर्थ-नूतन अस्त्र आदि कितने हैं और शस्त्रास्त्र चलानेमें कुशल योद्धा कितने हैं, कार्य करनेमें समर्थ स्वार कितने हैं, प्राचीन तथा नवीन स्वार कितने हैं, व्यूह आदिकी पूर्ण शिक्षामें कुशल न होनेसे सैनिक कार्य करनेमें असमर्थ सेना (फौज) कितनी है और शस्त्र, गोले आदि तथा अग्निचूर्ण (सोर) आदिसे संयुक्त संग्रामकी सामग्री कितनी है, उनका भली प्रकार विचार करके सचिव उक्त सब कार्यका राजाके प्रति निवेदन करै ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

अथ मंत्री ।

मंत्री तु नीतिकुशलो ह्यर्थशास्त्रविदेव यः ॥
साम दामश्च भेदश्च दंडः केषु कदा कथम् ॥ ५३ ॥

अर्थ-जो न्यायपरायण, नीतिमान् और धन उपार्जन करनेकी विद्याका जाननेवाला हो वह मंत्री (सलाहकार प्रायवेट्सेक्रेटरी) कहलाता है और साम, दाम, भेद, दंड ये किन किनसे किस किस समयमें किस प्रकारसे करने चाहिये इन विचारोंको मंत्री सदा शोचै ॥ ५३ ॥

कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहुमध्यं तथाल्पकम् ॥
एतत्संचिंत्य निश्चित्य मंत्री सर्वं निवेदयेत् ॥ ५४ ॥

अर्थ-साम, दाम आदि इस समयमें करने चाहिये वा नहीं और सामादि उपायोंके करनेसे उत्तम, मध्यम तथा अल्प इनमेंसे क्या फल मिलेगा और भविष्यत्में क्या हानि लाभ होवेगा इन सब वार्त्ताको निश्चयात्मक विचारके मंत्री राजाको निवेदन किया करै ॥ ५४ ॥

अथ प्राड्विवाकः ।

लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥
नीतिमान्धर्मकुशलः सत्यवाग्विजितेंद्रियः ॥ ९५ ॥

अर्थ—जो लौकिक तथा शास्त्रमर्यादाके जाननेवाला और न्याय-कारी, धर्ममें तत्पर, सत्यवादी और जितेंद्री, इन गुणोंसे सदा युक्त होवे, उसको प्राड्विवाक (फौजदारी और दीवानीका अधिपति) बनाना चाहिये अर्थात् जो इस लोक और परलोकसे डरता हो, न्यायकारी, धर्मात्मा, सत्यवादी और अनेक प्रकारके घूंस आदिके लोभसे भी जिसका मन स्वधर्मसे चलायमान नहीं हो उसको न्याया-धीश बनावे ॥ ९५ ॥

वादिनौ पृच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यतः ॥
विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मौ विवक्ति वा ॥ ९६ ॥
विवादानुगतं पृष्ट्वा पूर्ववाक्यं प्रयत्नतः ॥
विचारयति येनासौ प्राड्विवाकस्ततः स्मृतः ॥९७॥

अर्थ—वादी, प्रतिवादी (मुदई मुद्दायले) से विवादका कारण पूछनेसे प्राड् और पूछके सत्यासत्यको विचार करनेसे विवाक इन दोनों अर्थोंके एकत्र होनेसे प्राड्विवाक कहते हैं, वा अर्थी प्रत्यर्थी आदिके कार्योंका सभासदोंके साथ विचार करनेसे, वा अर्थी, प्रत्यर्थी, आदिके कार्योंमे धर्म, अधर्मका विचार करनेसे प्राड्विवाक कहते हैं वा अर्थी, प्रत्यर्थीके विवादके कारणको पूछके फिर उनके इज-हार आदिको बहुत यत्नपूर्वक विचारै इसीसे यह प्राड्विवाक कह-लाता है ॥ ९६ ॥ ९७ ॥

साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्छलभूतैश्च मानुषान् ॥
स्वानुत्पादितसंप्राप्तान् व्यवहारान्विचिंत्य च ॥ ९८ ॥

अर्थ-अपने राजपुरुषोंने अन्यायसे उत्पन्न नहीं किये ऐसे भली प्रकार प्राप्त हुए मनुष्योंने संबंध रखनेवाले जो यावन्मात्र व्यवहार हैं उनको साक्षियोंसे और लेखोंसे और भोग आदिसे और छल बल आदिसे, सत्यासत्यकी निर्णयके निमित्त यत्नपूर्वक विचारै अर्थात् जो अर्थी, वा प्रत्यर्थी, अपने कार्यके निमित्त स्वयं प्रार्थना करै उनके कार्यकी साक्षी आदिसे भली प्रकार निश्चय करै ॥ ५८ ॥

दिव्यसंसाधनान्वापि केषु किं साधनं परम् ॥
युक्तिप्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लौकशास्त्रतः ॥ ५९ ॥
बहुसंमतसंसिद्धान्विनिश्चित्य सभास्थितः ॥
स सभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं संबोधयेत्सदा ॥ ६० ॥

अर्थ-दिव्यसाधन (शपथ आदि) से सिद्ध होनेवाले व्यवहारोंकोभी सभासदोंके साथ विचारै और किन किन व्यवहारोंमें क्या क्या साधन श्रेष्ठ है और युक्ति-प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान इनसे और लौकिक तथा, शास्त्ररीतिसेभी व्यवहारोंको विचारै बहुत सभासदोंकी सम्मतिसे सिद्ध हुए व्यवहारोंको निश्चय करके प्राड्विवाक सभासदोंसहित सभामें स्थित होके राजाको सदा बोधन करै अर्थात् युक्ति, प्रत्यक्ष आदिसे जो कार्य बहुत सभासदोंकी सम्मतिसे निर्णय किया गया हो उस कार्यको सभामें स्थित होके प्राड्विवाक (फोजदारी दिवानीका हाकिम) राजाके प्रति निवेदन करै ॥ ५९ ॥ ६० ॥

अथ पंडितः ।

पक्षं संत्यज्य यत्नेन बालस्यापि सुभाषितम् ॥
गृह्णाति धर्मतत्त्वं यो व्यवस्याति स पंडितः ॥ ६१ ॥

अर्थ-जो अपक्षपाति होके बालकपर्यंतकेभी श्रेष्ठवाक्यको यत्नपूर्वक अंगीकार करै अर्थात् साधारण पुरुषके कहे हुएभी सत्यवाक्यका कदापि खंडन न करै और धर्मके तत्त्वका सदा विचार करै वह पंडित कहलाने योग्य है ॥ ६१ ॥

राज्ञोपि दुर्गुणान्वाक्ति प्रत्यक्षमविशंकितः ॥
किं पुनः पक्षसंस्थानां सभ्यादीनां विशेषतः ॥ ६२ ॥

अर्थ–वह पंडित ऐसा होना चाहिये कि, राजाको अपकीर्त्तिसे बचानेके निमित्त राजाके अवगुणोंकोभी निःसंदेह कहदेवे तौ फिर पक्षपात करनेवाले सभासदों तथा अन्य अधिकारियोंकी तौ बातही क्या है अर्थात् राजाके अवगुणोंकोभी निःसंदेह होके कहदेवे तौ अन्यके अवगुणोंको प्रगट कहनेमें तौ संदेहभी क्या है ॥ ६२ ॥

वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः ॥
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुध्यंते च केऽधुना ॥ ६३ ॥

अर्थ–लोकप्रचलित धर्मोमें वर्त्तमान और प्राचीन धर्म कौनसे हैं (अर्थात् लौकिकमें प्राचीन धर्म कौनसा है और वर्त्तमान धर्म कौनसा है) धर्मशास्त्रोंमें कौनसे धर्मोंको श्रेष्ठ कहाहै और अब शास्त्रोक्त धर्मोंसे कौनसे धर्म विरुद्ध देखे जाते हैं वा किनका परस्पर विरोध है ॥ ६३ ॥

लोकशास्त्रविरुद्धाः के पंडितस्तान्विचिंत्य च ॥
नृपं संबोधयेत्तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥ ६४ ॥

अर्थ–लोक तथा शास्त्रसे कौनसे धर्म विरोधको प्राप्त हो रहे हैं पंडित इन बातोंको विचारविचारके इस लोक और परलोकमें सुख देनेवाले धर्मोंकी राजाको शिक्षा दे अर्थात् पंडितको उचित है कि, सदा धर्मका उपदेश करके राजाको न्यायमार्ग बताता रहै ॥ ६४ ॥

अथ सुमंत्रः (हिसाबी दफतरका अधिपति) ।

आयव्ययप्रतिज्ञाता सुमंत्रः स च कीर्त्तितः ॥
इयच्च संचितं द्रव्यं वत्सरेस्मिन्तृणादिकम् ॥ ६५ ॥
व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजंगमम् ॥
इयदस्तीति वै राज्ञे सुमंत्रो विनिवेदयेत् ॥ ६६ ॥

अर्थ-वार्षिक आमदनी और खर्चका जाननेवाला सुमंत्र (हिसाबी कार्यका अधिपति दफतरी) कहलाता है वह वर्ष भरके हिसाबको समझावै कि, इस वर्षमें इतना द्रव्य और तृण आदि संचित हुआ अर्थात् द्रव्यको आदि लेकर तृणपर्यंतकी आयको पृथक् २ निवेदन करै और इस वर्षमें द्रव्यको आदि लेके तृणपर्यंत इतना व्यय (खर्च) हुआ और द्रव्य आदि यावन्मात्र जड पदार्थ तथा जंगम (पशु आदि) इतना शेष रहा इस प्रकार सर्व पदार्थकी निश्चय करके राजाको निवेदन किया करै ॥ ६५ ॥ ६६ ॥

अथ अमात्यः ।

देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते ॥
पुराणि च कतिग्रामा अरण्यानि च संति हि ॥ ६७ ॥

अर्थ-भूमिकी उपजके देशोंको तथा कृषि आदिके विभाग लेनेके समयको जाननेवालेहीको अमात्य (तहसीलका अधिपति) कहते हैं वह अमात्य राजाको राष्ट्रभरमें शहर कितने, ग्राम कितने, वन कितने इन सबकी संख्या आदि विषयको जानके निवेदन करै ॥ ६७ ॥

कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्ततः कति ॥
भागशेषास्थितं तस्मिन्कृत्यकृष्टा च भूमिका ॥ ६८ ॥
भागद्रव्यं वत्सरेस्मिञ्छुल्कं दंडादिजं कति ॥
अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसंभवम् ॥ ६९ ॥
कति चाकरसंजातं निधिप्राप्तं कतीति च ॥
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम् ॥ ७० ॥
संचितं तु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत् ॥

अर्थ-किसने कितनी भूमि जोती है और उस जोती हुई भूमिसे कितना भाग प्राप्त हुआ और कितना भाग किसानोंमें शेष (बाकी) रहा और इस वर्षमें कितनी भूमि बेजोती रही अर्थात् सदासे कितनी

भूमि कम जोती गई वा अधिक कितनी जोती गई इस वर्षमें कृषी आदिके विभाग (आय) का द्रव्य कितना हुआ और महसूल तथा दंड आदिका द्रव्य कितना हुआ, विना जोती हुई भूमिसे उत्पन्न तृण आदिका विभाग कितना हुआ और वनका विभाग कितना हुआ, और सुवर्ण आदिकी खानोंसे कितना द्रव्य उत्पन्न हुआ, भूमि आदिमें गडा हुआ धन कितना प्राप्त हुआ और अनाथी (नावारसी) द्रव्य कितना प्राप्त हुआ और चौरोंका हरा हुआ नष्ट धन कितना प्राप्त हुआ, इन समग्र संचयको मिलाके विचारपूर्वक निश्चय करके अमात्य राजाको निवेदन करै ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥

अथ दूतः (वकील) ।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ॥
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥ ७१ ॥

अर्थ-दृष्ट तथा अदृष्ट अर्थशास्त्रके जाननेवाला, दूसरेके मनका अभिप्रायको सूचित करनेवाला, मुख नेत्र आदिके प्रसन्न तथा अप्रसन्नतासे प्रीति तथा क्रोध आदिका जाननेवाला और करताडन आदिसे कोपादिके तत्त्वको जाननेवाला, किसीको द्रव्य देना कहके बीचमें रख लेना तथा स्त्री आदि दुर्व्यसनोंसे रहित, शुद्धांतःकरणवाला, कार्य करनेमें चतुर और श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ ऐसा कुलीन मनुष्यको दूत (वकील) बनावै ॥ ७१ ॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ॥
वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥७२॥

अर्थ-तन, मन, धनसे राजकीय सेवामें प्रीति रखनेवाला, पवित्र कर्मोंका सेवन करनेवाला, चतुर, कही सुनी बातको कालांतरमेंभी याद रखनेवाला, देशकालका जाननेवाला, सुंदरकांतियुक्त, दीर्घ शरीरवाला प्रिय तथा अप्रिय संदेशको कहदेनेवाला और प्रशस्त बोलनेवाला अर्थात् संस्कृत आदि सब भाषा बोलनेमें समर्थ ऐसा मनुष्य राजाका दूतकार्य (वकीलात) के योग्य होता है ॥७२॥

दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ॥
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा ॥ ७३ ॥

अर्थ-वकील भिन्नोंको मिला देना है और मिले हुओंको पृथक् कर देता है दूत वह कर्म करता है जिससे मिले हुए भेदको प्राप्त हो जावैं अथवा कदापि भेदको प्राप्त न होवें अर्थात् संधिविग्रह आदि करानेमें दूतही समर्थ होताहै ॥ ७३ ॥

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेङ्गितचेष्टितः ॥
आकारमिंगितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥७४॥

अर्थ-वह वकील अपने स्वामीके कृत्य (अर्थात् अपने शत्रुके पास रहनेवाले, अलब्ध वेतनलोभीको, व्यर्थ अपमान किये हुए मानीको, अकारण कोपित किये हुए क्रोधीको, और कारणके विना डराये हुए डरपोकको, भेदन करनेकोही राजाका कृत्य कहते हैं उन विषयोंमें, मुख, नेत्र आदिकी प्रसन्नता अप्रसन्नतासे हर्ष क्रोधको, तथा वार्त्ता आदिसे अभिप्रायको और चेष्टाको जानै और क्षोभित तथा लुब्ध सामंत आदि भृत्योंके विषयमें गूढ चार, आकार, चेष्टासे, कर्त्तव्यकार्य करनेकी इच्छाको जानै ॥ ७४ ॥

समासाल्लक्षणं कृत्यं प्रधानदशकस्य च ॥
न कुर्यात्स्वाधिकबलान्कदापि ह्यधिकारिणः ॥ ७५ ॥

अर्थ-पुरोहितादि प्रधान दश प्रकृतियोंका संक्षेपसे लक्षण और कार्य कहा । बुद्धिमान् राजाको उचित है कि, अपनेसे अधिक बलवानों (स्वतंत्र इच्छा रखनेवालों) को कदापि मुख्य अधिकारी न करै ॥७५॥

परस्परं समबलाः कार्याः प्रकृतयो दश ॥
स्वायत्ताः कुशलाः कार्यैं प्रजारंजनतत्पराः ॥७६॥

अर्थ-राजाको उचित है कि, प्रधान दश प्रकृतियोंको परस्परमें समान बलयुक्त करै अर्थात् दश प्रकृतियोंका समान नजीर रक्खे और

उन प्रकृतियोंके कार्योंको अपने आधीन रक्खै और कार्य करनेमें कुशल और प्रजाको प्रसन्न रक्खनेमें तत्पर करै अर्थात् आलशी, लोभी, क्रोधीको अधिकारी न करै ॥ ७६ ॥

विना प्रकृतिसन्मंत्राद्राज्यनाशो भवेन्मम ॥
निरोधनं भवेदेवं राज्ञस्ते स्युः सुमंत्रिणः ॥ ७७ ॥

अर्थ–यदि प्रकृतिकी संमतिके विना राज्यसंबंधी कार्य करूंगा तौ मेरे राज्यको अवश्य हानि पहुँचेगी इस प्रकार राजाके चित्तमें जिन अधिकारियोंका निरोध होवै वे पुरुषही राजाके मंत्री होने योग्य है॥७७॥

न बिभेति नृपो येभ्यस्तैः किं स्याद्राज्यवर्धनम् ॥
यथालंकारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथैव ते ॥ ७८ ॥

अर्थ–जिन अधिकारियोंकी संमतिके विना कार्य करनेसे राजाके मनमें भय उत्पन्न नहीं होवे तौ उन अधिकारियोंके रखनेसे क्या राज्य बढसकता है (कदापि नहीं) जैसे शोभाके लिये स्त्रियोंको अच्छे अच्छे आभूषण आदि पहराये जाते हैं वैसे वे अधिकारीभी केवल राज्यलक्ष्मीकी शोभाके निमित्तही अलंकृत किये हुए हैं ॥७८॥

राज्यं प्रजा बलं कोशः सुनृपत्वं न वर्द्धितम् ॥
यन्मंत्रतोरिनाशस्तैर्मंत्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥ ७९ ॥

अर्थ–जिन मंत्रियोंकी संमतिसे राज्य, प्रजा, सेना, कोश, राजाकी सुकीर्ति नहीं बढी और शत्रुओंका नाश नहीं हुआ तौ उन मंत्रियोंके रक्खनेसे क्या प्रयोजन है ॥ ७९ ॥

दश प्रोक्ता पुरोधाद्या ब्राह्मणाः सर्व एव ते ॥
अभावे क्षत्रिया योज्यास्तदभावे तथोरुजाः ॥ ८० ॥
नैव शूद्रास्तु संयोज्या गुणवंतोपि पार्थिवैः ॥
भागग्राही क्षत्रियस्तु साहसाधिपतिश्च सः ॥ ८१ ॥

अर्थ-जो पुरोहित आदि दशप्रधान प्रकृति कही है वे सर्व ब्राह्मणही नियत किये जाते हैं योग्य ब्राह्मणोंके अभावमें योग्य क्षत्रियोंको और योग्य क्षत्रियोंके अभावमें योग्य वैश्योंको नियत करै। राजाओंका उचित है कि, शूद्र गुणवान् हो तौभी प्रधान दश प्रकृतियोंके अधिकारपै कदापि नियत न करै, भूमि आदिके भाग लेनेके निमित्त क्षत्रीको नियत करै और साहस (दिवानी तथा फोजदारी) के अधिकारपर भी क्षत्रीहीको नियत करै ॥ ८० ॥ ८१ ॥

ग्रामपो ब्राह्मणो योज्यः कायस्थो लेखकस्तथा ॥
शुल्कग्राही तु वैश्यो हि प्रतिहारस्तु पादजः ॥ ८२ ॥

अर्थ-ग्रामके अधिकारपर ब्राह्मणको नियत करै, कायस्थको लेखक बनावै, वैश्यको शुल्क (महसूल) लेनेका अधिकारी बनावै और शूद्रको प्रतिहारी बनावै ॥ ८२ ॥

सेनाधिपः क्षत्रियः स्याद्ब्राह्मणस्तदभावतः ॥
न वैश्यो न च वै शूद्रः कातरश्च कदाचन ॥ ८३ ॥

अर्थ-सेनाका अधिपति क्षत्रीहीको बनावै, और योग्य क्षत्रीके अभावमें ब्राह्मणको सेनाध्यक्ष बनावै, सेनापतिके योग्य क्षत्री तथा ब्राह्मणके अभावमेंभी वैश्यको तथा शूद्रको सेनापति न बनावै और कायर क्षत्री तथा ब्राह्मणकोभी कदापि सेनापति न बनावै अर्थात् शूरवीरहीको सदा सेनापति बनावै ॥ ८३ ॥

इति दशप्रकृतयः।

अथ सभासदाः (सभाके मैम्बर)

धर्मशास्त्रार्थकुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ॥
समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदाः ॥ ८४ ॥

अर्थ-धर्मशास्त्र तथा नीतिशास्त्रमें प्रवीण, श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुए, सत्य बोलनेवाले और न्यायके समयमें शत्रु तथा मित्रमें समान वर्त्तनेवाले, ऐसे श्रेष्ठमनुष्यही राजाके सभासद होने योग्य हैं ॥ ८४ ॥

शूरान्भक्तानसंहार्यान्कुले जातानरोगिणः ॥
शिष्टाञ्छिष्टाभिसंबंधान्मानिनो नवमानिनः ॥८५ ॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ॥
धर्मे च निरतान्साधूनचलानचला इव ॥ ८६ ॥

अर्थ—शूरवीर हो, राजामें अत्यंत प्रीति रखनेवाले, धन आदिके लोभसे कदापि भेदको प्राप्त न होनेवाले, श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुए हो, रोगिष्ठ न हो, बडेपवित्र होवै, श्रेष्ठमनुष्योंसे संबंध (व्यवहार) रखनेवाले. धन आदिसेभी मानको उत्तम समझनेवाले, किसीकाभी व्यर्थ अपमान नहीं करनेवाले, षडंगवेद आदि विद्याके जाननेवाले, लौकिक व्यवहार (देशाचार, कुलाचार आदि) के जाननेवाले, स्वर्गलोक आदिकी प्राप्तिमें अभिलाषा रखनेवाले, अपने धर्ममें सदा तत्पर रहनेवाले, वेद विहित कर्मोंके करनेवाले, या परोपकार आदि गुणोंको सेवन करनेवाले, अनेकप्रकारके लोभ तथा भयके, देनेसेभी पर्वतकी समान चलायमान न होनेवाले ऐसे मनुष्योंको राजा सभासद बनावै ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

कुमार्गगं नृपमपि बुद्ध्योद्धर्तुं क्षमाञ्छुचीन् ॥
निर्मत्सरान्कामक्रोधलोभहीनान्निरालसान् ॥ ८७ ॥

अर्थ—कुमार्गमें चलते हुए राजाको अपनी बुद्धिके बलसे कुमार्गसे छुडानेमें समर्थ हो, पवित्रकर्मोंके करनेवाले हो, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ मोहसे वर्जित हो और आलसी नहीं हो, ऐसे बुद्धिमान् मनुष्योंको राजा सभासद बनावै ॥ ८७ ॥

ह्रीनिषेवास्तथा दांताः सत्यार्जवसमन्विताः ॥
शक्ताः कथयितुं सम्यक् नृपतेः स्युः सभासदाः ॥८८॥

अर्थ—लोकलज्जासे युक्त, मन आदि इंद्रियोंके रोकनेमें समर्थ,

सत्य तथा नम्रता आदि गुणोंसे संपन्न, राजाको अच्छी बुरी बात कहनेमें समर्थ ऐसे पुरुषही राजाके सभासद हो सक्ते हैं ॥ ८८ ॥

साहायान्सततं कुर्याद्राजा भूतिपरिष्कृतः ॥
तैश्च तुल्यो भवेद्भोगी छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ ८९ ॥
प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत्समाः ॥
एवं कुर्वन्नरेंद्रोपि न खेदमिह विन्दति ॥ ९० ॥

अर्थ—राज्यविभूतिसे अलंकृत होनेकी इच्छा करनेवाला राजा अच्छे बुद्धिमानोंको अपना सहायक बनावै और छत्रचामर, आदि तथ आज्ञा (हुकम) मात्रकी आधिक्यता अपने आधीन रखकै उनके साथ विविधभोगोंको भोगै उन साहायकोंके निमित्त (प्रत्यक्ष) सन्मुख तथा परोक्ष (पीठपीछे) भी राजाकी वृत्ति समानही होनी चाहिये इस प्रकार जो राजा राज्यशासन करता है वह इस लोकमें दुःखका भागी नहीं होना ॥ ८९ ॥ ९० ॥

इति सभासदाः ।

अथ प्रतिनिधिसमयः ।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दांतं कुलोद्गतम् ॥
स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—यदि दैवसंयोगसे राजा अष्टादश व्यवहारसंबंधी प्रजाके कार्योंको न देखसकै तौ उस समयमें न्यायका अधिकारपर धर्मका जाननेवाला, बुद्धिमान्, जितेंद्री, अपने कुलमें उत्पन्न, या—श्रेष्ठ कुलोत्पन्न, और प्रतिष्ठित ऐसा पुरुषको प्रतिनिधि बनावै अर्थात् शरीरमें तीव्ररोगादि हो जानेपर तथा कहीं देश विदेश जानेपर राजा अच्छे प्रतिष्ठित पुरुषको अपना प्रतिनिधि बनावै ॥ ९१ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम् ॥
तदा नियुंज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९२ ॥

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ॥
सभामेव प्रविश्याग्र्यामासीनः स्थित एव वा ॥९३॥

अर्थ-यदि कार्यांतरकी प्रबलतासे, या, रोग आदिके आक्रमणसे राजा स्वयं अपने राज्यसंबंधी कार्योंको न देखसके तौ उस समयमें कार्योंको देखनेके निमित्त विद्वान् ब्राह्मण (शास्त्रोक्त और सामायिक व्यवहारका ज्ञाता) को नियत करै वह विद्वान् कार्यके जाननेवाले तीन सभासदोंके साथ न्यायालयमें प्रविष्ट होकर न्यायासनपर बैठके अथवा न्यायासनके पास स्थित होके राजाके देखने योग्य व्यवहारोंको सावधानीसे देखै ॥ ९२ ॥ ९३ ॥

यस्मिन्देशे निषीदंति विप्रा वेदविदस्त्रयः ॥
राज्ञश्चाधिकृतो विद्वान्ब्रह्मणस्तां सभां विदुः ॥९४॥

अर्थ-जिस सभास्थानमें वेदवेदांगोंके पढे हुये तीन ब्राह्मणों (मंत्री) प्राड्विवाक, पंडित, के साथ राजाका प्रतिनिधि विद्वान् न्यायके निमित्त बैठताहै उस सभाको विद्वान् जन ब्रह्माकी सभाके समान कहते हैं अर्थात् वह सभाही न्यायसभा है ॥ ९४ ॥

यदि विप्रो न विद्वान्स्यात्क्षत्रियं तन्नियोजयेत् ॥
वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञं शूद्रं यत्नेन वर्जयेत् ॥ ९५ ॥

अर्थ-यदि प्रतिनिधिके निमित्त सर्व व्यवहारका जाननेवाला विद्वान् ब्राह्मण न मिले तौ बुद्धिमान् क्षत्रियको प्रतिनिधि बनावै और प्रतिनिधिके योग्य क्षत्रीभी न मिलै तौ धर्मशास्त्रके जाननेवाले वैश्यको प्रतिनिधि बनाले परंतु शूद्रको कदापि प्रतिनिधि न बनावै ॥ ९५ ॥

एवं प्रवासगमने कार्यांतर उपस्थिते ॥
राजाज्ञया वृतः सभ्यैः कुर्यात्कार्याणि कार्यिणाम् ९६॥

अर्थ-राजाके विदेश गमन करनेमें तथा आवश्यक कार्य उपस्थित होनेके कारण अनवकाश होनेमें राजाकी आज्ञासे प्रतिनिधि सभासदोंके साथ अर्थी प्रत्यर्थी आदिके कार्योंको करै ॥ ९६ ॥

एवं सर्वंविधायेदमिति कर्त्तव्यतात्मनः ॥
युक्तश्चैव प्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥ ९७ ॥

अर्थ-इस प्रकार, प्रकृति आदि वर्गको अपने अपने अधिकारपर नियत करके राजा अपनी कर्तव्यतासे युक्तहोकर प्रजाकी बहुत सावधानीपूर्वक रक्षा करै ॥ ९७ ॥

इति प्रतिनिधि समयः ।

अथ चारः (हलकारा वा गुप्तपुलिस) ।

दक्षः क्षमी प्रगल्भश्च शीघ्रगो व्यसनी तथा ॥
स्वरूपगोपने दक्षश्चारः स्यात्परमर्मवित् ॥ ९८ ॥

अर्थ-बोलने चालने आदि व्यवहारोंमें चतुर, सहनशील, निडर शीघ्र चलनेवाला, मद्यपान आदि दुर्व्यसनोंसे वर्जित अपने स्वरूपके, छिपाने (भेष बदलने) में चतुर, दूसरोंके छिद्रोंको जाननेवाला ऐसा पुरुष चार होनेके योग्य है ॥ ९८ ॥

भवेत्स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यविचारणे ॥
चारचक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यंध एव सः ॥ ९९ ॥

अर्थ-अपने और परराज्यके कर्त्तव्य अकर्त्तव्य कार्योंके विचारमें गूढ चारही राजाका नेत्र होता है जिस राजाके पास स्वराज्य तथा परराज्यसंबंधी सम्पूर्ण कार्योंकी सूचना देनेवाला गूढचारी नहीं है वह राजा राज्यशासन करनेमें अंधा है ॥ ९९ ॥

चारान्[1]विचारयेत्तीर्थे स्वात्मनश्च परस्य च ॥
पाखंडादीनविज्ञातानन्योन्यमितरेष्वपि ॥ १०० ॥

---

१ परराज्य आदिका वृत्तांत जाननेके निमित्त जो सन्यासी आदि पाखंड भेष बनाके गुप्त विचरै वह चार, प्रणिधी, गूढचार कहाता है और राज्यचिह्न (छडी चपरास आदि) को लेके राज्यसंबंधी कार्योंके निमित्त परराज्य आदिमें प्रगट आवे जावे वह दूत (हलकारा चपरासी) आदि कहाते

अर्थ-परराज्यके युवराज तथा मंत्री आदि अठारह अधिकारियोंके अधिकारोंमें और युवराज, पुरोहित, मंत्री इन तीनोंको छोडके अपने पन्द्रह अधिकारियोंके अधिकारोंमें और अन्यत्रभी अच्छे बुरे समाचारोंको जाननेके निमित्त स्वामी, संन्यासी आदि पाखंडरूपोंको धारण करनेवाले और चारोंके द्वारा परस्परमेंभी न पहँचान सके तथा गूढचारोंसेभी अलक्षित ऐसे दूतोंको भेजै ॥ १०० ॥

यस्य चाराश्च मंत्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः ॥
न ज्ञायंते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥ १०१ ॥

अर्थ-जिस राजाके सर्वत्र विचरते हुए कृतकार्य गूढ चारोंको और कार्यकी सिद्धिके पर्यंत सम्मातिको, नित्य प्राति किये हुए कार्योंको शत्रु नहीं जानसकै वह राजा राज्य करनेके योग्य होताहै ॥ १०१ ॥

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडांधबधिराकृतीन् ॥
पुंसा परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् १०२।

अर्थ-मूर्ख, उन्मादी, अंधे, बहरे, पुरुषोंकी समान रूपोंको धारण करनेवाले, और किसीभी मनुष्यके परीक्षा करनेमें न आ सकै, अच्छे बुद्धिमान् हो, क्षुधा, प्यास, श्रमके, सहनेमें समर्थ ऐसे पुरुषोंको राजा अपने गूढचारी बनावे ॥ १०२ ॥

प्रकृतीनां च शत्रूणां सैनिकानां मतं च यत् ॥
सभ्यानां बांधवानां च स्त्रीणामंतःपुरे च यत्॥ १०३॥
शृणुयाद्गूढचारेभ्यो निशि चात्ययिके सदा ॥
सावधानमनाः सिद्धशस्त्रास्त्रः संलिखेच्च तत् ॥ १०४॥

—हैं वे भी तीन प्रकारके होते हैं १ निसृष्टार्थाः (देशकालके अनुकूल राज्य कार्यको स्वयं कहनेमें समर्थ हो २ सदिष्टार्थाः (केवल कहाहुआ सदेशको दूसरेके प्राति जा कहदेना) ३ शासनहराः (राजा या प्राड्विवाक आदिके लेखको लेजानेवाले) इस प्रकार चार और दूतोंके भेद कहे हैं ॥

अर्थ-प्रधान दश प्रकृति, शत्रु, सैनिक, श्रेष्ठ पुरुष, या सभासद, बांधव और अंतःपुरमें रहनेवाली स्त्रियों, इन सबके जो जो शुद्धाशुद्ध आचरण हैं वह नित्य पिछली रात्रिमें विचरनेवाले गूढ चारोंसे श्रवण करै, और सिद्धशस्त्र तथा अस्त्रको धारण करके बहुत सावधानीसे उनके कहे हुए वृत्तांतको लिखै ॥ १०३ ॥ १०४ ॥

असत्यवादिनं गूढचारं नैव च शास्ति यः ॥
स नृपो म्लेच्छ इत्युक्तः प्रजाप्राणधनापहः ॥ १०५ ॥

अर्थ-जो राजा झूठ बोलनेवाले गूढचारीको शिक्षा (दंड) नहीं देता, वह राजा म्लेछ (वर्णसंकर) ताके दोषका भागी होता है या उस राजाको म्लेच्छ कहना चाहिये और प्रजाके प्राण, धन आदिका हरनेवाला है ॥ १०५ ॥

वर्णी तपस्विसंन्यासिनीचासिद्धस्वरूपिणम् ॥
प्रत्यक्षेण छलेनैव गूढचारं विशोधयेत् ॥ १०६ ॥

अर्थ-ब्रह्मचारी, तपस्वी, संन्यासी, नीच, तथा सिद्धोंके स्वरूपको धारण करके विचरते हुए गूढचारके कार्य अकार्यको प्रत्यक्षतासे तथा छलसे जानै ॥ १०६ ॥

विना तच्छोधनात्तत्त्वं न जानाति न चाप्यते ॥
अशोधकनृपान्नैव बिभ्यत्यनृतवादने ॥ १०७ ॥

अर्थ-गूढचारियोंके सत्य असत्य भाषण आदिकी परीक्षा करनेके विना राजा कार्यकी यथार्थताको न जान सकता और सत्यवार्त्ताकी खबरभी नहीं मिलसकती जो राजा गूढचारियोंकी परीक्षा नहीं करता उस राजाके सन्मुख झूठ बोलनेमें गूढचारी कभी नहीं डरते ॥ १०७ ॥

चत्वरेषु च तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च ॥
यथार्थवर्णं प्राणिधिं कुर्यात्सर्वस्य पार्थिवः ॥ १०८ ॥

अर्थ-विविध मार्गोंमें, तीर्थस्थानोंमें तथा विविध समाजोंमें तथा

यज्ञस्थानोंमें, सर्वकी वार्त्ताको जाननेके निमित्त इन उक्त स्थानोंके अनुकूल रूपको धारण करनेवाले गूढचारियोंको नियत करै ॥ १०८ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ॥
साधून्संमानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् ॥ १०९ ॥

अर्थ—अपने राज्यमें अधिकारोंपर नियत किये हुए अधिकारियोंकी अच्छी बुरी चेष्टा (आचरण) को गूढ चारोंके द्वारा जानके उनमें राजा प्रजाके हितकारी श्रेष्ठ कार्योंके करनेवाले अधिकारियोंका तौ राजा सत्कार करै और राज्यकार्यमें हानिकारक तथा प्रजाद्रोहीको अधिकारसे दूर करै अर्थात् घूँस आदि लेनेवालेको अधिकारसे दूर करदै ॥ १०९ ॥

इति चाराः ।

अथान्याधिकारिणः ।

ये चान्ये कर्मसचिवास्तान्सर्वान्विनियोजयेत् ॥
गजाश्वरथपादातपशूष्ट्रमृगपक्षिणाम् ॥ ११० ॥

अर्थ—जो उक्त अधिकारोंके करनेवाले अधिकारी हैं उनसे अन्यभी (मुसाहिब) कार्य करनेवाले सचिव हैं उन सबको अपने अपने अधिकारपर नियत करै और गज, अश्व, रथ, पदाति, पशु, उष्ट्र, मृग पक्षी इनके भी पृथक् पृथक् अधिकारी नियत करै ॥ ११० ॥

सुवर्णरत्नरजतवस्त्राणामाधिपान्पृथक् ॥
वितानाद्यधिपं धान्याधिपं पाकाधिपं तथा ॥ १११ ॥

अर्थ—सुवर्ण, रत्न, चांदी, वस्त्र, वितान (डेरे) आदि, धान्यका भंडार पाकशाला इन सबके पृथक् पृथक् अधिकारी बनावै अर्थात् इन अधिकारोंपर पृथक् २ अधिकारी नियत करै ॥ १११ ॥

आरामाधिपतिं चैव सौधगेहाधिपं तथा ॥
संभारपं देवतुष्टिपतिं दानपतिं सदा ॥ ११२ ॥

अर्थ–बगीचे भवन (किला) संभार (तोपखाने आदि) देवस्थानोंके और दान आदिके, सदा पृथक् पृथक् अधिकारी नियत करै ॥ ११२ ॥

बहुसाध्यानि कार्याणि तेषामप्यधिपांस्तथा ॥
तत्तत्कार्येषु कुशलाञ्ज्ञात्वा तांस्तु नियोजयेत् ११३॥

अर्थ–जो बहुतसे मनुष्योंसे सिद्ध होने योग्य कार्य हैं उनके पृथक् पृथक् अधिकारी नियत करै, और जिस जिस कार्यको करनेमें जो जो मनुष्य कुशल हों उनको उसीही कार्यमें परीक्षापूर्वक नियत करै ॥११३॥

किं करोत्येव पांडित्यमस्थाने विनियोजितम् ॥
अंधकारप्रतिच्छन्ने घटे दीप इवाहितः ॥ ११४ ॥

अर्थ–अयोग्य स्थानपै नियत करनेसे बुद्धिमान्भी कुछ नहीं कर सकता, जैसे प्रकाश करनेवाले दीपको घटमें रखके अंधकारयुक्त स्थानमें रखनेसेभी अंधकार दूर नहीं होसकता ॥ ११४ ॥

त्रिविधाः पुरुषा नित्यं त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥
यथायोग्यं नियोक्तव्या विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥११५॥

अर्थ–इसीसे बुद्धिमान्को उचित है कि उत्तम, मध्यम, हीन इन तीन प्रकारके मनुष्योंको उत्तम, मध्यम और हीन इन तीन प्रकारके कार्योंपै सदा यथायोग्यही नियत करै, विपरीततासे कदापि नियत न करै ॥ ११५ ॥

कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबद्ध्यते ॥ न स विरौति न चाति सुशोभते भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ११६ ॥

अर्थ–सुवर्णके आभूषणमें जडने योग्य उत्तम मणिको यदि कथीरके आभूषणमें जडदे तौ वह मणि कदापि अस्वीकार नहीं करती और कथीरमें जडनेसे वह मणि तथा कथीरभी सुंदर शोभाको प्राप्त

नहीं होता, किंतु सुवर्णमें जडने योग्य मणिको कथीरमें जडनेसे जडनेवालेकीही निंदा होती है ॥ ११६ ॥

इति अन्याधिकारिणः।

अथ लेखकः।

सकृदुक्तगृहीतार्थो लघुहस्तो जितेंद्रियः ॥
शब्दशास्त्रपरिज्ञाता राज्ञो लेखक इष्यते ॥ ११७ ॥

अर्थ—एकबारके कहनेसेही अर्थको ग्रहण करनेवाला, बहुत शीघ्रतासे लिखनेवाला, जितेंद्रिय, व्याकरणशास्त्रका जाननेवाला, ऐसा मनुष्यही राजाका लेखक होना चाहिये ॥ ११७ ॥

गणनाकुशलो यस्तु देशभाषाप्रभेदवित् ॥
असंदिग्धमगूढार्थं विलिखेत्स च लेखकः ॥ ११८ ॥

अर्थ—जो गणना करनेमें कुशल, देशदेशकी भाषाका जाननेवाला, स्पष्ट अक्षर लिखनेवाला, संदिग्ध और गूढ पदोंका न लिखनेवाला, अर्थात् असंदिग्ध और स्पष्टार्थ शब्दोंका लिखनेवाला हो वह राजाका लेखक हो सकता है ॥ ११८ ॥

शब्दाभिधानतत्त्वज्ञौ गणनाकुशलौ शुची ॥
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राज्ञा गणकलेखकौ ॥ ११९ ॥

अर्थ—शब्दार्थके तत्त्वको जाननेवाले, गणना करनेमें कुशल पवित्र कर्मोंके सेवन करनेवाले, नाना प्रकारकी लिपिको जाननेवाले अर्थात् सब देशोंके अक्षरोंको लिख पढ सकतेहों ऐसे मनुष्योंको राजा गणक (हिसाबी काम करनेवाला) और लेखक (लिखदार) बनावै ॥ ११९ ॥

इति लेखकः।

अथ कोशाध्यक्षः ।

दांतश्च सधनो यस्तु व्यवहारविशारदः ॥
धनप्राणोऽतिकृपणः कोशाध्यक्षः स एव हि ॥ १२० ॥

अर्थ-जितेंद्रिय (शुद्ध हृदय और दानतदार परधनको लोष्ठके समान समझनेवाला), अच्छा धनी, लेनदेनके व्यवहारमें चतुर, राजाके धनको प्राणके समान समझनेवाला, अत्यंत कृपण, उक्त गुणोंसे संयुक्त मनुष्यको कोशाध्यक्ष बनावे ॥ १२० ॥

मानाकृतिप्रभावर्णजातिसाम्याच्च मूल्यवित् ॥
रत्नानां स्वर्णरजतमुद्राणामधिपस्तु सः ॥ १२१ ॥

अर्थ-जो तोल, आकार, कांति, वर्ण, जाति और साम्यतासे रत्न आदिके मूल्यको जाननेवाला हो वह मनुष्यही रत्न, सुवर्ण, चांदी और मुद्राका अध्यक्ष (खजांची) होना चाहिये ॥ १२१ ॥

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् काकिणीं यः प्रवर्द्धयेत् ॥
कोशः कोशवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः १२२

अर्थ-जो धन बढानेवाला अमात्य है वह ही सब अमात्योंमें श्रेष्ठ समझा जाताहै इसीसे कोशाध्यक्षको उचित है कि, खजानेकोही अपना प्राण समझै कारण कि, भूपतिके प्राण प्राण नहीं है कोशही भूपतिका प्राण है अर्थात् कोशहीन राजा निर्जीव है ॥ १२२ ॥

इति कोशाध्यक्षः ।

अथ परिचारकाः ।

अनन्याः स्वामिभक्ताश्च धर्मनिष्ठा दृढांगकाः ॥
अबाला मध्यवयसः सेवासु कुशलाः सदा ॥ १२३ ॥

अर्थ-अपने अन्नके देनेवाले स्वामीकोही स्वामी समझनेवाले तथा स्वामीमें अत्यंत प्रेम रखनेवाले, धर्ममें दृढ विश्वास रखनेवाले, राज-

रोग आदिसे रहित, दृढ शरीरवाले, मध्यम अवस्थावाले (अर्थात् बाल तथा वृद्ध न हों) स्वामीकी सेवा (नोकरी) करनेमें सदा तत्पर रहनेवाले, परिचारक (हजूरी) होने चाहिये ॥ १२३ ॥

सर्वं यद्यत्कार्यजातं नीचं वा कर्तुमुद्यताः ॥
निदेशकारिणो राज्ञा कर्तव्याः परिचारकाः ॥१२४॥

अर्थ-जो संपूर्ण प्रकारके हीन तथा मध्यम श्रेणीके कार्योंके करनेमें सदा उद्यत (तैयार) हों (अर्थात् मल, मूत्र आदिके अपहारमें भी इनकार नहीं हो) राजाको ऐसे आज्ञाकारी परिचारकही अपने पास रखने चाहिये ॥ १२४ ॥

यो नाहूतः समभ्येति द्वारे तिष्ठति सर्वदा ॥
पृष्टः सत्यं मितं ब्रूते स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१२५॥

अर्थ-जो विना बुलाया हुआ अपनी नोकरीके समयमें निरंतर उपस्थित रहै सदा अपने स्वामीके द्वार (ड्योढी) पर हाजर रहै पूछनेपर सत्य और प्रामाणिक बोलै, ऐसा मनुष्यही राजाओंके भृत्य होने योग्य है ॥ १२५ ॥

ताडितोपि दुरुक्तोपि दंडितोपि महीभुजा ॥
न चिंतयति यः पापं स भृत्योऽर्हो महीभुजाम् ॥१२६॥

अर्थ-राजाके ताडन करने, कुवचन कहने, और दंड देनेसेभी जो स्वामीका अनिष्टचिंतन नहीं करता वह मनुष्यही राजाओंके भृत्य होने योग्य होता है ॥ १२६ ॥

न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ॥
तेषां च व्यवहारोऽयं परस्परनिबंधनम् ॥ १२७ ॥

अर्थ-भृत्योंके विना राजा नहीं; और राजाके विना भृत्य नहीं, उन दोनोंके मध्य यह स्वामी सेवकका व्यवहारही परस्पर निबंधन है ॥ १२७ ॥

अरैः संधार्यते नाभिर्नाभौ चाराः प्रतिष्ठिताः ॥
स्वामिसेवकयोरेवं वृत्तिचक्रं प्रवर्तते ॥ १२८ ॥

अर्थ—जैसे रथके पैयोंकी नाभी (नाही) आरोंके आधार रहती है और आरे नाहीके आधारस्थित रहते हैं, इसी प्रकार स्वामी सेवककाभी सेव्यसेवकरूप चक्र प्रवर्त होता है ॥ १२८ ॥

स्वाम्यादिष्टस्तु यो भृत्यः समं विषममेव च ॥
मन्यते न स संधार्यो भूभुजा भूतिमिच्छता ॥ १२९॥

अर्थ—जो भृत्य अपने स्वामीकी आज्ञामें सम, तथा विषमको नहीं मानता (अर्थात् प्राण रहने तथा जानेका विचार नहीं करता) राज्यलक्ष्मीकी इच्छा करनेवाले राजाको उचित है कि, ऐसे भृत्यको आदरसत्कारसे सदा पास रक्खै ॥ १२९ ॥

स्वाम्यादेशात्तु भृत्यस्य न भीः संजायते क्वचित् ॥
प्रविशेन्मुखमाहेयं दुस्तरं वा महार्णवम् ॥ १३० ॥

अर्थ—अपने स्वामीके आदेश (हुक्म) से श्रेष्ठ भृत्यको कहीं भी भय उत्पन्न नहीं होता, सर्पके मुखके समान भयानक संग्राममेंभी प्रवेश होजाताहै और दुस्तर समुद्रको भी तरके पारंगत होनेको उद्यत होता है ॥ १३० ॥

नित्यं संसेवनरतो भृत्यो राज्ञः प्रियो भवेत् ॥
स्वस्वाधिकारकार्यं यद्राक्कुर्यात्सुमनायतः ॥ १३१॥

अर्थ—जो भृत्य नित्यप्रति तनमनसे प्रीतिपूर्वक राजाकी सेवा करता है, वह भृत्यही राजाको प्रिय होताहै और जो अपने अपने अधिकारसंबंधी कार्योंको निष्कपट होके प्रसन्नताके साथ शीघ्रतासे करता है, वह भृत्यभी राजाको अवश्य प्रिय होता है ॥ १३१ ॥

सालसं मुखरं क्रूरं स्तब्धं व्यसनिनं शठम् ॥
असंतुष्टमभक्तं च त्यजेद्भृत्यं नराधिपः ॥ १३२ ॥

अर्थ-आलसी, व्यर्थ बकवाद करनेवाले, क्रोधी, ढीठ, मद्यपान आदि दुर्व्यसनोंको सेवन करनेवाले, मूर्ख, पूर्णभृति तथा पारितोषिक आदिके देनेसेभी असंतुष्ट रहनेवाले और अपने स्वामीमें प्रीति न रखनेवाले, ऐसे भृत्योंको राजा कदापि अपने पास न रक्खै ॥ १३२ ॥

भृत्याद्यैर्यन्न कर्त्तव्याः परिहासाश्च क्रीडनम् ॥
अपमानास्पदे ते तु राज्ञो नित्यं भयावहाः ॥१३३॥

अर्थ-बुद्धिमान्को उचित है कि, भृत्य आदिसे कदापि हँसी ठट्ठा न करै और खेल कूदभी न करै, जिसमेंभी अपमानवालेके साथ तौ हँसी ठट्ठे तथा खेल कूद करना राजाको नित्य भयके देनेवाले हैं ॥१३३॥

परिहासाश्च भृत्याद्यैर्नात्यर्थं नृपनंदनाः ॥
कर्त्तव्याश्चैव युष्माभिर्दोषमत्र हि मे शृणु ॥ १३४ ॥

अर्थ-ग्रंथकर्त्ता श्रीमान् राजकुमारका कथन है कि हे राजकुमारो! आपको उचित है कि भृत्य आदिकोंसे अत्यंत हँसी मस्करी आदि नहीं करनी चाहिये, कारण भृत्य आदिकोंके साथ अत्यंत हँसी आदि करनेमें जो दोष उत्पन्न होते हैं वह मुझसे श्रवण करो ॥१३४॥

अवमन्यंति भर्त्तारं संघर्षादुपजीविनः ॥
स्वे स्थाने न च तिष्ठंति लंघयंति च तद्वचः ॥१३५॥

अर्थ-अत्यंत हँसी, मस्करी, खेल, कूद करनेसे परिचारक लोग अपने स्वामीका अपमान करदेते हैं और अपने अधिकारकी मर्यादापर स्थित नहीं रहते और अपने स्वामीके कहे हुए वाक्योंको उल्लंघन कर देते हैं ॥ १३५ ॥

क्रुद्धे चास्मिन् हसंत्येव न च हृष्यंति पूजिताः ॥
संहर्षशीलाश्च तदा भवंत्यन्योन्यकारणात् ॥ १३६॥

अर्थ-अपने स्वामीके क्रोध करनेपर भी हँसने लगते हैं और आदरसत्कार करनेसेभी हर्षित नहीं होते, (अर्थात् पारितोषिक आदि

देनेसे भी प्रसन्न नहीं होते) और परस्पर में एक संमति होनेके कारण परस्परकी कार्यसिद्धिके निमित्त राजाको हर्षित करनेमें तत्पर हो जाते हैं (अर्थात् परस्परके काम निकालनेके निमित्त राजाको प्रसन्न करनेमें बहुत हर्षित हो जाते हैं) ॥ १३६ ॥

विस्रंसयंति मंत्रं च विवृण्वंति च दुष्कृतम् ॥
लीलया चैव कुर्वंति सावज्ञास्तस्य शासनम् ॥१३७॥

अर्थ-राजाकी गुप्त समतिकोभी प्रगट कर देते हैं, राजाके किये हुए दुष्ट कर्मोंको प्रगट करने लगते हैं, और उस राजाकी आज्ञा (हुक्म) को तुच्छ समझते हुए अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं १३७॥

अलंकारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने ॥
हीयमाणे नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वतः ॥१३८॥

अर्थ-भीष्मजी युधिष्ठिरके प्रति कहते हैं कि हे राजशार्दूल ! भृत्योंसे परिहास करनेवाले राजाके भृत्य अपने स्वामीके निमित्त अलंकार, भोज्यपदार्थ, स्नान, अनुलेपन, अन्यभी लाने योग्य पदार्थके लानेमें, उस राजाके सुनते हुएभी स्वस्थ बैठे रहते हैं (अर्थात् कहनेपर भी नहीं लाते) ॥ १३८ ॥

तत्स्त्रियं सज्जयंति च राज्ञि क्रुद्धे हसंति च ॥
व्याहरंति च निर्लज्जा हेलयंति नृपं क्षणात् ॥ १३९ ॥

अर्थ-दिनरात्रि हर्म्य आदिमें हँसी, ठट्ठा, तथा क्रीडा आदिके निमित्त राजाके संग रहनेसे उस राजाकी स्त्रीमें भी आसक्त हो जाते हैं राजाके क्रोध करनेपर भी हँसते हैं और राजाके सामने भी निर्लज्ज होके अवाच्य बोलते हैं और क्षणभरमें राजाको ठग लेते हैं ॥ १३९ ॥

तेन क्रीडितुमिच्छंति ससूत्रेणेव पक्षिणा ॥
अस्मत्प्रदेयो राजेति लोकांश्चैव वदंत्युत ॥१४०॥

अर्थ-जैसे वानरके गलेमें रस्सी डालके अपनी इच्छाके अनुसार कुदाते, खेलाते हैं, वैसेही उस राजासे भी खेलने कूदनेकी इच्छा कर

बैठते हैं और इसीसे लोगोंको भी कहने लगते हैं कि राजा हमारा दिया हुआ खाता, पीता, तथा पहनताहै, (अर्थात् राजा हमारे अधीन है) ॥ १४० ॥

राजभोज्यानि भुंजंति न तिष्ठंति स्वके पदे ॥
आज्ञामुल्लंघयंति स्म न भयं यांति कर्मणि ॥ १४१ ॥

अर्थ—राजाके भोगने योग्य पदार्थोंको भोगने लगते हैं, अपने अपने अधिकारपै स्थित नहीं रहते, राजाकी आज्ञाका उल्लंघन कर देते हैं और अच्छे, बुरे अकर्त्तव्य कर्मोंके करनेमें भी राजासे नहीं डरते, अर्थात् अकर्त्तव्य कर्मोंको अवश्य करलेते हैं ॥ १४१ ॥

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवंत्युत ॥
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥ १४२ ॥

अर्थ—हे राजन् युधिष्ठिर ! भृत्योंके संग अत्यंत परिहास (हास्य-मस्करी) करनेमें तत्पर, मृदु स्वभाववाले, हर्षुल राजाके राज्य शासनमें ये कहे हुए दोष तथा अन्यभी कितने ही प्रकारके दोष निश्चय प्रगट हो जाते हैं इस कारण भृत्योंके संग राजा हास्यमस्करी न करै १४२

इति परिचारकाः ।

अथ नतिस्थाननिबोधकः (चोपदार अथवा छडीदार) ।

राज्ञः समीपप्राप्तानां नतिस्थाननिबोधकाः ॥
स्वर्णदंडधराः कार्या दृढांगाः कार्यतत्पराः ॥ १४३ ॥

अर्थ—राजाके पास आये हुए सामंत आदिकोंके निमित्त नमस्कार आदि तथा स्थानका बोधन करनेवाले, नतिबोधन आदि अपने कार्य करनेमें तत्पर, दृढ शरीरवाले, स्वर्णके दंड (छडी) को धारण किये हुए ऐसे मनुष्योंको राजा चोपदार बनावै ॥ १४३ ॥

दृष्ट्वागतान्सभामध्ये राज्ञे दंडधरः क्रमात् ॥
निवेद्य तन्नतेः पश्चात्तेषां स्थानानि सूचयेत् ॥ १४४ ॥

अर्थ-राजसभामें आये हुए पुरोहित तथा सभासद आदिकोंका देखके दंडपर (छडीदार) राजाके अर्थ निवेदन करै और उनके यथायोग्य नमस्कार आदि होनेके पश्चात् उनको क्रमसे अपने अपने स्थानपर बैठनेकी सूचना दे ॥ १४४ ॥

अथ दानाध्यक्षः ।

दयालुर्मृदुवाग्दानपात्रविन्नतितत्परः ॥
नित्यमेभिर्गुणैर्युक्तो दानाध्यक्षः प्रकीर्तितः ॥१४५॥

अर्थ-दयावान्, मधुर वाक्य बोलनेवाला, दान देने योग्य पात्रको पहँचाननेवाला, सर्वसे नम्रता रखनेवाला, नित्य इन गुणोंसे युक्त मनुष्यको दानाध्यक्ष करना चाहिये ॥ १४५ ॥

याचकं विमुखं नैव करोति न च संग्रहम् ॥
दानशीलश्च निर्लोभी गुणज्ञश्च निरालसः ॥ १४६ ॥

अर्थ-दान देने योग्य सुपात्र याचकको विमुख न रखनेवाला, देने योग्य धनका संचय न करनेवाला, दानशील (दाता), लोभहीन, गुणोंका ज्ञाता, निरालसी (आलस्यहीन) दानाध्यक्ष होना चाहिये ॥ १४६॥

अथ अश्वाध्यक्षः ।

अश्वानां हृदयं वेत्ति जातिवर्णभ्रमैर्गुणान् ॥
गतिं शिक्षां चिकित्सां च सत्त्वं सारं रुजं तथा १४७॥

अर्थ-जो अश्वोंके मनको और जाति (ब्राह्मणादि) वर्ण (श्वेत रंग आदि) भ्रम (भौंरियां) से अश्वोंके अच्छे बुरे गुणोंको जानता हो, और चक्रित आदि गति, शिक्षा, औषधी, अश्वकी दृढता अश्वका बल, रोगको जाननेवाला मनुष्य अश्वशालाका अध्यक्ष होना चाहिये ॥ १४७ ॥

हिताहितं पोषणं च मानं यानं दतो वयः ॥
शूरश्च व्यूहवित् प्राज्ञः कार्यांश्चाधिपतिश्च सः ॥ १४८॥

अर्थ-अश्वोंके हित तथा अहितको, पालनको, मूल्यको, गति आदिको, आयुर्बलके सूचक दांतोंमे वा, रेखा आदिसे आयुर्बलको जानता हो, शूरवीर, सेनाकी व्यूहरचनाका ज्ञाता, समयानुसार कार्या-कार्यको जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्यको अश्वाध्यक्ष (अश्वशालाका अधिप) बनावै ॥ १४८ ॥

अथ अश्वशिक्षकः ।

चक्रितं रेचितं वल्गितकं धौरितमाप्लुतम् ॥
तुरं मंदं च कुटिलं सर्पणं परिवर्त्तनम् ॥ १४९ ॥
एकादशास्कंदितं च गतिमश्वस्य वेत्ति यः ॥
यथाबलं यथर्तु च शिक्षयेत् स च शिक्षकः ॥ १५० ॥

अर्थ-जो अश्वोंकी चक्रके समानगति, रेचित गति, वल्गितगति, धौरितगति, आप्लुतगति, तुरगति, मंदगति, कुटिलगति, सर्पणगति, परिवर्त्तनगति, आस्कंदगति इन पूर्वोक्त एकादश प्रकारकी अश्वोंकी गतिको यथार्थ जानता हो, और अश्वके बलाबलको देखके ऋतुके अनुकूल अश्वको शिक्षा देवै वह अश्वशिक्षक (चाबूकसवार) कहलाता है ॥ १४९ ॥ १५० ॥

अश्वानां तु गतिर्धारा विभिन्ना सा तु पंचधा ॥
आस्कंदितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् ॥ १५१ ॥
एकैका त्रिविधा धारा हयशिक्षाविधौ मता ॥
लघ्वी मध्या तथा दीर्घा ज्ञात्वेता योजयेत्क्रमात् १५२

अर्थ-कोई आचार्य अश्वोंकी गतिको धारा कहते हैं, वह धारा आस्कंदित १, धौरित २, रेचित ३, वल्गित ४, प्लुत ५ इन नामोंसे पाच प्रकारके भेदवाला है अश्वोंकी शिक्षाविधिमें लघु, मध्य, दीर्घ, इन भेदोंसे उक्त धारा, एक एक धाराके प्रति तीन तीन प्रकारकी कही

है इन सब धाराओंको यथार्थ जानके क्रमसे अश्वोंको शिक्षा देवै ॥ १५१ ॥ १५२ ॥

धारागतिः सा विज्ञेया याति वेगतरा मता ॥
पार्ष्णितोदातिनुदितो यस्यां भ्रांतो भवेद्धयः ॥१५३॥
आकुंचिताग्रपादाभ्यामुत्प्लुत्योत्प्लुत्य या गतिः ॥
आस्कंदिता च सा ज्ञेया गतिविद्भिस्तु वाजिनाम् १५४
धौरीतकं च तज्ज्ञेयं रथसंवाहने वरम् ॥
ईषदुत्प्लुत्य गमनमखंडं रेचितं मतम् ॥ १५५ ॥

अर्थ–अश्वकी जो अत्यंत वेगवाली गति है, वह गति धारा कहाती है पार्ष्णि (एडी) तथा चाबूक आदिके लगानेसे अत्यंत प्रेरित किया हुआ घोडा अत्यंत भ्रान्त हो जाता है और सुकडे हुए अगले पैरोंसे जो कूद २ कर चलता है, उस गतिको घोडोंकी गतिके ज्ञाता आस्कंदित कहते हैं। जो घोडा रथ आदिके वहने (ले चलने) में उत्तम गति (चाल) चलता है वह गति धौरित कहलाती है, जो घोडा किंचित् कूदकर अखंडगतिसे चलता है, वह गति रेचित कहलाती है ॥ १५३ ॥ १५४ ॥ १५५ ॥

प्रसंवलितपद्भ्यां यो मयूरोद्धृतकंधरः ॥
दोलायितशरीरार्द्धकायो गच्छति वल्गितम् ॥१५६॥
पादैश्चतुर्भिरुत्प्लुत्य मृगवत्साप्लुतागतिः ॥
सुगत्याग्निबलं दार्ढ्यमारोग्यं वर्द्धते हरेः ॥१५७॥

अर्थ–जो घोडा मिले हुए पैरोंसे मयूरके समान कंधरा (गर्दन) को उठाकर अपने आधे शरीरको हिंडोलाकीसी नाईं उठाके चलै वह गति वल्गित कहाती है, जो घोडा चारों पैरोंसे मृगके समान कूदकर चलै वह प्लुतगति कहलाती है, उत्तमगतिसे घोडेकी अग्नि, बल, दृढता और आरोग्य बढते हैं ॥ १५६ ॥ १५७ ॥

तेजो निसर्गजं सत्त्वं वाजिनां स्फुरणं रजः ॥
क्रोधस्तम इति ज्ञेयास्त्रयोऽपि सहजा गुणाः ॥१५८॥

अर्थ–अश्वोंके स्वभावज तेजको सत्त्व कहते हैं, स्फुरणको रज कहते हैं, और क्रोधको तम कहते हैं, ये तीनोंही अश्वके सहजगुण होते हैं ॥ १५८ ॥

धारासु योजितानां च निसर्गात्प्रेरणं विना ॥
अविच्छिन्नमिवाभाति तत्तेजः सततोत्थितम् ॥१५९॥

अर्थ–विविधगति (चाल) में योजना किये हुए अश्वोंका किसी प्रकारकी प्रेरणाके विना स्वभावसे उत्पन्न हुआ वेग निरंतर एकसा प्रतीत होता है वह निसर्ग (स्वभाव) तेज कहाता है ॥ १५९ ॥

कशापादादिघातैर्यत्साध्वसात्स्फुरितं तु तत् ॥
मृदुनैकेन घातेन दंडकालेषु ताडयेत् ॥ १६० ॥

अर्थ–जो अश्वकशा (चाबूक) तथा पैर (रान) आदिके लगानेसे भयपूर्वक एकसी तेज चाल चलता है वह स्फुरित कहाता है और अश्वके शिक्षकको उचित है कि, अश्वके दंडकालके समयमें तेजप्रकृतिवाले अश्वको कोमल एकही चाबूकसे ताडन करै अर्थात् तेजप्रकृतिवाले अश्वको धीरासा एकही चाबूक लगावै ॥ १६० ॥

तीक्ष्णं मध्यं पुनर्द्वाभ्यां जघन्यं निष्ठुरैस्त्रिभिः ॥
उपवेशेऽथ निद्रायां स्खलिते दुष्टचेष्टिते ॥ १६१ ॥
वडवालोकनोत्सुक्ये बहुगर्वितहेषिते ॥
संत्रासे च दुरुत्थाने विमार्गगमने भये ॥ १६२ ॥
शिक्षात्यागस्य समये संजाते चित्तविभ्रमे ॥
दंडः प्रयोज्यो वाहानां कालेषु द्वादशेष्वपि ॥ १६३ ॥

अर्थ–मध्यमप्रकृतिवाले अश्वके धीरेसे दो चाबूक लगावै, कठोरप्रकृतिवालेको बडे कठोर तीन आघातसे ताडन करै (अर्थात् जोरसे

तीन चाबूक लगावै) चलते समय बैठ जानेमें १ निद्रा लेनेमें २ स्खलित होनेमें ३ दुष्टचेष्टा करनेमें ४ घोडीको देखके उन्मत्त हो जानेमें ५ बहुत गर्वपूर्वक हिंसनेमें ६ संत्रासके समयमें ७ खोटी चाल आदिके चलनेमें ८ मार्ग छोडके चलनेमें ९ किसीसे चमकनेमें १० शिक्षा त्यागनेके समयमें ११ चित्तविभ्रम होनेमें १२ अश्वशिक्षकको उचित है कि, उक्त बारह दोषोंके समयमें अश्वको अवश्य ताडना दे ॥ १६१ ॥ १६२ ॥ १६३ ॥

ग्रीवायां भीतमाहन्यात्त्रस्तं चैव च वाजिनम् ॥
विभ्रांतचित्तमधरे त्यक्तशिक्षं च ताडयेत् ॥ १६४ ॥

अर्थ–घोडेके डर जानेमें और त्रास खानेमें ग्रीवा गर्द्दन पर चाबूक आदिसे ताडन करै, विभ्रम होनेके समयमें और शिक्षा त्यागनेके समयमें अश्वके मुखपर ताडन करै (अर्थात् होंठोंपर चाबूक लगावै) ॥ १६४ ॥

प्रहेषितं स्कंधबाह्वोर्वडवालोकिनं तथा ॥
उपवेशेऽथ निद्रायां कटिदेशे च ताडयेत् ॥१६५॥

अर्थ–बहुत गर्वपूर्वक हिंसनेमें तथा घोडीको देखके उन्मत्त हो जानेमें अश्वके कांधे और भुजाओंपर चाबूक लगावै चलते समय बैठ जानेमें तथा निद्रा लेनेमें अश्वकी कमरपर चाबूक लगावै ॥ १६५ ॥

दुश्चेष्टितं मुखे हन्यादुन्मार्गप्रस्थितं तथा ॥
जघने स्खलितं हन्यान्नेत्रमार्गे दुरुत्थितम् ॥१६६॥

अर्थ–बुरी चेष्टा करनेवाले, तथा कुमार्ग चलनेवाले, अश्वके मुखपर चाबूक लगावै, स्खलित होनेवाले अश्वके जघनस्थानपर चाबूक लगावे (अर्थात् जंघाओंके बीच चाबूक लगावै) और दुरुत्थान करनेवाले अश्वके नेत्रोंके ऊपर चाबूक लगावै (अर्थात् नेत्रोंके ऊपर चाबूक आदिसे इस प्रकार देवे जो नेत्रोंमें न लगजावे) ॥ १६६ ॥

नासकृत्ताडयेदश्वमकाले च विदेशके ॥
अकालस्थानघातेन वाजी दोषांस्तनोति च ॥ १६७ ॥

अर्थ–वारंवार और कुसमयमें और कोमल अंगमें. अश्वको ताडना न दे कारण कि कुसमय और कोमल अंगकी ताडनासे अश्व दोषोंको प्रगट करता है (अर्थात् अपने सवारके दाबमें नहीं रहता) १६७

तावद्भवंति ते दोषा यावज्जीवत्यसौ हयः ॥
दुष्टं दंडेनाभिभवेन्नारोहेद्दंडवर्जितः ॥ १६८ ॥

अर्थ–कुसमय आदिकी ताडनासे घोडा जिन दोषोंको प्रगट करता है वे दोष उस घोडेके जीवनपर्यंत बनेही रहते हैं (अर्थात् जहांतक वह घोडा जीता रहता है वहांतक उन दोषोंको नहीं छोडता) जो घोडा स्वभावसे दुष्ट है उसका दंडसे तिरस्कार करै और दंड) चाबूक आदि) के विना दुष्ट घोडेपर सवारभी न होवे ॥ १६८ ॥

यः कुंठप्रकृतिर्वाजी तं सर्वत्रैव ताडयेत् ॥
शिक्षार्थं चैव धाराणां नित्यं वीथीषु योजयेत् ॥ १६९ ॥

अर्थ–जो कठोरप्रकृतिवाला घोडा है उसको सर्व अंगोंमें ताडना दे (अर्थात् दुष्ट घोडेके तो जहां दाव आवे वहांही दवे उक्त अंगोंका विचार न करै) अश्वशिक्षकको उचित है कि, उत्तम गतियोंकी शिक्षाके निमित्त अश्वोंको नित्यप्रति सर्व प्रकारकी वीथी (घोडे फिरानेके चौगान) में दौडावै ॥ १६९ ॥

वीथ्यस्तिस्रोऽथ धाराणां लघ्वी मध्योत्तमा क्रमात् ॥
तासां स्याद्धनुषामानमशीतिर्नवतिः शतम् ॥ १७० ॥

अर्थ–अश्वोंको गति (चाल) सिखानेके निमित्त उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ, इन भेदोंसे तीन प्रकारकी वीथी (चौगान) कही है, उन वीथियोंका सौ, नब्बे, अस्सी, धनुषका विस्तार क्रमसे कहा है (अर्थात् चार सौ, तीन सौ साठ तीन सौ वीस हाथका विस्तार क्रमसे कहा है ॥ १७० ॥

नेष्टमध्योत्तमानां च वाजिनां वीथिकाः स्मृताः ॥
नवानां कथिता वीथ्यो दुष्टानां क्रमणक्रमे ॥ १७१ ॥

अर्थ—उक्त चौक उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ घोडोंको फिरानेके निमित्त क्रमसे कहाहै, नवीन घोडोंको, तथा दुष्ट घोडोंको उत्तमगति सिखानेके निमित्तही वीथियें कही हैं ॥ १७१ ॥

अन्येषामपि सर्वत्र गतिदार्ढ्यार्थमीरिताः ॥
वीथीषु क्रामितो वाजी नित्यं चोत्तमतां व्रजेत् ॥ १७२ ॥

अर्थ—इतर अश्वोंकी सर्वत्र गति दृढताके निमित्त वीथियें कही हैं उक्त वीथियोंमें फेरा हुआ अश्व नित्यप्रति उत्तमताको प्राप्त होता है ॥ १७२ ॥

गच्छेत्षोडशमात्राभिरुत्तमोश्वो धनुःशतम् ॥
यथायथा न्यूनगतिरश्वोहीनस्तथातथा ॥ १७३ ॥

अर्थ—जो घोडा सोलह मात्राओंके उच्चारणकालमें सौ धनुष चलै वह उत्तम होता है, इससे जितनी २ न्यूनगति जिसकी हो वह उतना २ ही हीन होताहै ॥ १७३ ॥

सहस्रचापप्रमितं मंडलं गतिशिक्षणे ॥
उत्तमं वाजिनो मध्यं नीचमर्धं तदर्धकम् ॥ १७४ ॥
अल्पं शतधनुः प्रोक्तमत्यल्पं च तदर्धकम् ॥
शतयोजनगंतास्यादिह्नैकेन यथा हयः ॥ १७५ ॥
गतिं संवर्धयेन्नित्यं तथा मंडलविक्रमैः ॥
सायंप्रातश्च हेमंते शिशिरे कुसुमागमे ॥ १७६ ॥
सायंग्रीष्मे तु शरदि प्रातरश्वं वहेत्सदा ॥
वर्षासु न वहेदीषत्तथा विषमभूमिषु ॥ १७७ ॥

अर्थ-अश्वको गतिकी शिक्षा देनेके समय सहस्र धनुषका मंडल उत्तम कहा है, पांच सौ और अढाई सौ, धनुषका मंडल क्रमसे मध्यम और अधम कहा है, सौ धनुषका मंडल, अल्प है और पचास धनुषका मंडल अत्यल्प कहा है, जिस मंडलकी शिक्षासे घोडा एक दिनमें सौ योजन चलनेवाला होजाय उस मंडल और विक्रम आदिकी शिक्षासे घोडेकी गतिको नित्यप्रति बढावै हेमंतऋतुमें प्रातःकाल, और सायंकाल, शिशिर और वसंतऋतुमें सायंकाल, और ग्रीष्मऋतुमें तथा शरदृऋतुमें प्रातःकालके समयमें घोडेको सदा फेरै वर्षाऋतु और विषम भूमिमें घोडेको कदापि न फेरै ॥ १७४-१७७ ॥

समोन्नता सा विषमांबुकीर्णा शुद्धानताग्रा तृणवीरुदाढ्या ॥ स्थाणुप्रकीर्णोपलसंप्रकीर्णा पार्श्वोन्नताख्या नवधेति वीथ्यः ॥ १७८ ॥

अर्थ-सम १, उन्नत २, ऊँची नीची ३, जलोंसे आकीर्ण ४, पत्थर, कंकर आदिसे वर्जित अग्रभागमें नमी हुई ५ तृण. लता, आदिसे आच्छादित, ६ सूखे हुए वृक्षोंके मूलोंसे आकीर्ण ७ बडे बडे तथा छोटे पत्थरोंसे संकीर्ण भूमिवाली, ८ बीचभागमें, ऊंची दोनों पार्श्वोंसे नमी हुई ९ इन भेदोंसे वीथियें (घोडे फिरानेका चौक) नौ प्रकारकी कही हैं ॥ १७८ ॥

सर्ववीथीषु यो वाजी दृढशिक्षासमन्वितः ॥ तेन राजा रणे नित्यं मृगयायां मुदं व्रजेत् ॥ १७९ ॥

अर्थ-जो घोडा उक्त सर्वप्रकारकी वीथियों (चौगानों) में दृढ शिक्षा पाकर दौडनेमें कुशल होवे, उस घोडेसे राजा संग्राममें तथा शिकार खेलनेको हर्षपूर्वक जावे ॥ १७९ ॥

अथ वेतनप्रकरणम् ।

भृतिदाने सदा सौरं चांद्रं कौसीदवृद्धिषु ॥
कल्पयेत्सावनं नित्यं दिनभृत्येऽवधौ सदा ॥ १८० ॥

अर्थ-भृति (नोकरी चुकाने) में सदा सूर्यकी संक्रांतिसे मास गिना जाताहै, (अर्थात् अधिकमासमें संक्रांति नहीं होनेसे अधिक मासको वेतन नहीं दिया जाता) खेती तथा व्याज आदिकी वृद्धिमें चंद्रोदयसे चंद्रोदयपर्यंत मास गिना जाता है (अर्थात् अधिकमासमें भी चंद्रोदय होनेसे व्याज आदि लिये जाते हैं) दिनभृत्य (दिनमजूरी) में तथा अवधिमें सदा अमावससे अमावसपर्यंत मास गिनै ॥ १८० ॥

कार्यमाना कालमाना कार्यकालमितिस्त्रिधा ॥
भृतिरुक्तास्तु तद्विज्ञैः सा देया भाषिता यथा ॥ १८१ ॥

अर्थ-भृतिके ज्ञाताओंने कार्यके मानसे (अर्थात् जैसे यह बोझ यहांसे वहांतक ले जानेपर इतना वेतन देऊँगा इत्यादि) कालके मानसे (अर्थात् जैसे वर्ष २ मास २ दिन २ वा, घडी २ का यह वतन देना लेना होगा इत्यादि) कार्य कालके मानसे (अर्थात् जैसे इतने समयमें यह इतना कार्य करदेवै तौ इतना वेतन दूँगा इत्यादि) इन उक्त प्रकारके नियमोंसे भृति (नोकरी) तीन प्रकारकी कही है वह भृति जैसे कही गई हो (अर्थात् जैसे करार पाई हो वैसेही देनी चाहिये) ॥ १८१ ॥

मंदो मध्यस्तथा शीघ्रस्त्रिविधो भृत्य उच्यते ॥
समा मध्या च श्रेष्ठा च भृतिस्तेषां क्रमात्स्मृता १८२॥

अर्थ-मंद (कार्यको विलंबसे करनेवाला, वा कार्य करनेमें असमर्थ, वा हीन अधिकारी) मध्य (कार्यको ठीकठीक रीतिसे, तथा किंचित् विलंबसे करनेवाला, वा मध्यम अधिकारी) शीघ्र (कार्यके तत्त्वको जानके यथार्थतासे कार्य करनेवाला, वा उत्तम अधिकारी) ये तीन-प्रकारके भृत्य कहे हैं, उन तीन प्रकारके भृत्योंका वेतन (तनखाह)

भी सम, मध्यम, श्रेष्ठ क्रमसे कही है, (अर्थात् मंदको सम, मध्यको मध्यम, शीघ्रको श्रेष्ठ भृति देवै) ॥ १८२ ॥

राजकर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च ॥
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानकर्मानुसारतः ॥ १८३ ॥

अर्थ-राजाओंके दासकर्म करनेवाले स्त्री और भृत्यजनोंके उत्तम, मध्यम, तथा कनिष्ठस्थान और उत्तम, मध्यम, तथा हीन, कर्मोंके अनुसारही प्रतिदिनकी आजीविका नियत करै अर्थात् जो जैसा स्थान, और कार्यमें नियत होवे उस स्त्री तथा पुरुषकी, उसी स्थान, वा कार्यके अनुसारही वेतन नियत करै हीनाधिक न दे ॥ १८३ ॥

पणो देयोवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम् ॥
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः १८४

अर्थ-अवकृष्ट (घरके झाडने बुहारनेवाले, तथा पानी लानेवाले आदि) को नित्यप्रति एक पण (पैसा) दे और छठे महीने दो वस्त्र और महीनेके महीने द्रोणमात्र (आधा मन अंग्रेजी तोलका) अन्न दे उत्तम कर्म करनेवालेको नित्यप्रति छः पण, और छठे महीने छः जोडे वस्त्र और महीनेके महीने छः द्रोण अन्न दे, और ऐसेही मध्यम कर्म करनेवालेको नित्य तीन पण और छठे महीने तीन जोडे वस्त्र और महीनेका तीन द्रोण अन्न दे ॥ १८४ ॥

दशी कुलं तु भुंजीत विंशी पंचकुलानि च ॥
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम् ॥ १८५ ॥

अर्थ-आठ बहलोंसे जो हल जोता जाय वह धर्महल कहलाता है, और जीविकार्थी तौ छः बहलोंसे एक हल जोतते हैं, और साधारण गृहस्थी चार बहलोंसे एक हल जोतते हैं, जो दो बहलोंसे एक हल जोतते हैं वे ब्रह्मघाती कहाते हैं, यह अत्रिस्मृतिमें लिखाहै जो छः बहलोंसे एक हल जोताजाय वह मध्यम हल है, इन मध्यम दो हलोंसे जितनी भूमि जोती जाय उसको कुल कहते हैं तौ दश ग्रामके

अधिप (अफसर) को जीविकाके निमित्त एक कुल भूमि दे, बीस ग्रामके अधिपतिको जीविकाके निमित्त पांच कुल भूमि दे, और सौ ग्रामके अधिपतिको जीविकाके निमित्त एक मध्यम ग्राम दे, हजार ग्रामके अधिपतिको जीविकाके निमित्त एक मध्यम पुर (शहर) दे ॥ १८५ ॥

यथा यथा तु गुणवान्भृत्यकस्तद्भृतिस्तथा ॥
संयोज्य तु प्रयत्नेन नृपेणात्महिताय वै ॥ १८६ ॥

अर्थ-भृत्य जैसा जैसा गुणवान् होवे उसकी वेतन (तनखाह) भी वैसीही उत्तमोत्तम होनी चाहिये, राजा अपने हितके निमित्त उत्तम भृत्योंको श्रेष्ठ भृति (नोकरी) देके यत्नपूर्वक उत्तम अधिकारोंपर नियत करै ॥ १८६ ॥

न कुर्याद्भृतिलोपं तु तथा भृतिविलंबनम् ॥
अवश्यपोष्यभरणा भृतिर्मध्या प्रकीर्त्तिता ॥ १८७ ॥

अर्थ-अपराधके विना तनखाह न काटे तनखाह देनेमें नियत समयके सिवाय विलंब भी न करै, जिस तनखाहसे अवश्य पालन करने योग्य (स्त्री, पुत्र आदि) का पालन होजाय वह मध्यम नोकरी (तनखाह) कहलाती है ॥ १८७ ॥

परिपोष्याभृतिः श्रेष्ठा समन्नाच्छादनार्थिका ॥
भवेदेकस्य भरणं यया सा हीनसंज्ञिका ॥ १८८ ॥

अर्थ-जिस भृति (नोकरी) से अपने दासगण पर्यंतको भली भांति अन्नवस्त्र आदि देनेके पीछे कुछ द्रव्य शेष भी रहजाय वह उत्तम भृति कहाती है, जिस भृतिसे एकही मनुष्यका भरण पोषण होवै वह भृति हीन अधम कहाती है ॥ १८८ ॥

ये भृत्या हीनभृतिकाः शत्रवस्ते स्वयंकृताः ॥
परस्य साधकास्ते तु छिद्रकोशप्रजाहराः ॥ १८९ ॥

अर्थ-जो भृत्य (नोकर) हीनभृति (थोडी तनखाह) पानेवाले हैं वे अपनेही बनाये हुए शत्रु हैं (अर्थात् जिसको कम तनखाह देके नोकर रखना है, उसको अपने हाथसे अपनाही शत्रु बनाना है) कारण कि अपने भरण पोषणसे कम नोकरी पानेवाले नोकर थोडेभी लोभसे दूसरेके साधक हो जाते हैं, और अपने स्वामीके छिद्रोंको प्रगट कर देते हैं, राजाके द्रव्यकी चोरी करनेमें नहीं चूकते और प्रजाकोभी लूट खाते हैं ॥ १८९ ॥

अन्नाच्छादनमात्रा हि भृतिः शूद्रादिषु स्मृता ॥
तत्पापभागन्यथा स्यात्पोषको मांसभोजिषु ॥ १९० ॥

अर्थ-शूद्र आदिके निमित्त ऐसी भृति दे, जिससे उनके अन्न वस्त्र आदिका निर्वाह चल सकै (अर्थात् अन्न, वस्त्रके गुजरानके सिवाय अधिक न दे) कारण कि मांसभक्षण करनेवालोंको अधिक भृति देनेसे भृति देनेवाला, उन मांस भोजियोंके किये हुए पापोंका भागी होता है ॥ १९० ॥

भृत्यानां गृहकृत्यार्थं दिवा यामं समुत्सृजेत् ॥
निशि यामत्रयं नित्यं दिनभृत्यर्द्धयामकम् ॥ १९१ ॥

अर्थ-भृत्योंको अपने घरोंके कार्य करनेके निमित्त नित्य प्रतिदिनमें एक प्रहर और रात्रिमें तीन प्रहरकी छुट्टी दे, जो भृत्य (नोकर) दिनहीमें नोकरी करता हो (अर्थात् दिनका नोकर हो) उसको तौ दिनमें आधे प्रहरकी छुट्टी दे (अर्थात् दिनभृत्यसे साढे तीन प्रहर कार्य करा लेवै) ॥ १९१ ॥

तेभ्यः कार्यं कारयीत ह्युत्सवाहैर्विना नृपः ॥
अत्यावश्यं तूत्सवेपि हित्वा श्राद्धदिनं सदा ॥ १९२ ॥

अर्थ-राजा अपने भृत्योंसे उत्सव (होली, दिवाली आदि) के दिनोंके विना नित्य प्रति अपना राज्यसंबंधी कार्य करावै, यदि कार्यकी अत्यंत आवश्यकता हो तौ उत्सवके दिनोंमेंभी कार्य करावै, (अर्थात्

कार्यकी अत्यंत आवश्यकता हो तौ उत्सवके दिनोंमेंभी छुट्टी न दे)
परंतु श्राद्धके दिनोंमें तौ भृत्यको सदा छुट्टी ही दे (अर्थात् जिसके
श्राद्ध हो उसको श्राद्धके दिन तौ छुट्टी देही दे) ॥ १९२ ॥

पादहीनां भृतिं त्वार्त्तै दद्यात्त्रैवार्षिके ततः ॥
पंचवत्सरभृत्ये तु न्यूनाधिक्यं यथा तथा ॥ १९३ ॥

अर्थ-तीन वर्षका नोकर यदि एक वर्षपर्यंत रोगी होजाय तौ
उसको नौ महीनोंकी तनखाह दे. और पांच वर्षका नौकर यदि एक
वर्षपर्यंत रोगी रहै तौ उसके गुणोंके अनुकूल भृतिकीभी न्यूनाधि-
क्यता जैसी तैसी कल्पना करै (अर्थात् रोगकी अवस्थामेंभी भृत्यको
गुणोंके अनुकूलही भृति दे) ॥ १९३ ॥

षाण्मासिकीं तु दीर्घार्त्तै तदूर्ध्वं न च कल्पयेत् ॥
नैव पक्षार्द्धमार्त्तस्य हातव्याल्पापि वै भृतिः ॥ १९४ ॥

अर्थ-जो भृत्य बहुत दिनोंपर्यंत रोगकी अवस्थामें रहै तो उसको
छः महीनोंकी तनखाह दे, इससे कमतीकी कल्पना न करे पक्षार्द्ध
(सप्ताह)के रोगीकी तौ किंचित्भी तनखाह न काटै ॥ १९४ ॥

चत्वारिंशत्समा नीताः सेवया येन वै नृपः ॥
ततः सेवां विना तस्मै भृत्यर्द्धं कल्पयेत्सदा ॥ १९५ ॥

अर्थ-जिसने नोकरी करते करते चालीस ४० वर्ष बिता दिये हों
तिसके पीछे तिस भृत्यको राजा सेवाके विनाभी उसके जीवनपर्यंत
सदा आधी तनखाह दे ॥ १९५ ॥

यावज्जीवं तु तत्पुत्रे क्षमे बाले तदर्द्धकम् ॥
भार्यायां वा सुशीलायां कन्यायां वासुश्रेयसे ॥ १९६ ॥

अर्थ-और उस भृत्यका पुत्र नोकरी करनेमें समर्थ न होवै अथवा
बालक होवे तौ उसकी तनखाहसे आधी तनखाह सावधान होने
पर्यंत उसको दे, और अपनी शोभाके लिये राजा उसकी सुशील

स्त्री और कन्याके निमित्त भी उसकी आधी तनखाह दे (अर्थात् चालीस वर्ष नोकरी करके यदि दैवसंयोगसे भृत्य मृत्युके वशंगत हो जाय और उसका पुत्र बालक हो, वा बालक कन्या रहजाय तथा शीलगुणोंसे संयुक्त स्त्री रहजाय तौ उसकी आधी तनखाह इनको दे) ॥ १९६ ॥

अष्टमांशं पारितोष्यं दद्याद्भृत्याय वत्सरे ॥
कार्याष्टमांशं वा दद्यात्कार्यं द्रागधिकं कृतम् ॥१९७॥

अर्थ–राजाको उचित है कि, भृत्यके निमित्त बारह महीनोंमें नोकरीका आठवां भाग इनाम दे, और जो काम शीघ्र तथा मर्यादासे अधिक किया हो उसको भी कार्यका आठवां भाग पारितोषिक (इनाम) दे ॥ १९७ ॥

स्वामिकार्यविनष्टो यस्तत्पुत्रे तद्भृतिं वहेत् ॥
यावद्बालोन्यथा पुत्रगुणान्दृष्ट्वा तु कल्पयेत् ॥ १९८ ॥

अर्थ–जो भृत्य स्वामीके कार्यमें नष्ट होगया हो और यदि उसका पुत्र बालक हो तौ उस भृत्यकी तनखाह उसके पुत्रको दे जबतक बाल अवस्था रहै बाल अवस्था व्यतीत होनेके पश्चात् तथा बाल अवस्था न होवे तौ पुत्रके गुणोंको देखकर नोकरीकी कल्पना करै ॥ १९८ ॥

भृतोनार्त्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोचितम् ॥
सदंड्यः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम् ॥१९९॥

अर्थ–जो भृत्य रोगग्रस्त अवस्थाके विना अहंकारसे यदि कहे हुए कार्यको न करै तौ, उसपर कार्यके अनुसार आठ रत्ती सोनेका मूल दंड करै, और चढी हुई नोकरी तनखाह भी न दे ॥ १९९ ॥

भृत्यं प्रशिक्षयेन्नित्यं शत्रुत्वं त्वपमानतः॥
भृतिदानेन संतुष्टा मानेन परिवर्द्धिताः ॥ २०० ॥

सांत्विता मृदुवाचा ये न त्यजंत्यधिपं हि ते ॥
यथा गुणान्स्वभृत्यांश्च प्रजाः संरंजयन्नृपः ॥ २०१ ॥

अर्थ-भृत्यको नित्यप्रति श्रेष्ठ शिक्षा देता रहै, भृत्यका कदापि व्यर्थ अपमान न करै, कारण व्यर्थ अपमान करनेसे भृत्यभी शत्रुताको प्राप्त होजाता है. जो भृत्य उत्तम तनखाहसे पालन किये हुए हैं, और मानमें बढाये हुए हैं जो भृत्य कोमल वाणीसे संतोषित किये गये हैं, वे भृत्य अपने स्वामीको कदापि नहीं त्यागते इसीसे राजा गुणोंके अनुसार अपने भृत्योंको और प्रजाको प्रसन्न रक्खै ॥ २०० ॥ २०१॥

शाखाप्रदानतः कांश्चिदपरान्फलदानतः ॥
अन्यान्सुचक्षुषा हास्यैस्तथा कोमलया गिरा ॥२०२॥

अर्थ-किसी भृत्यको उत्तम पदवी (उपाधि) देनेसे, किसीको आदरसत्कारपूर्वक सुवर्ण आदि आभूषण तथा भूमि आदि देनेसे, किसीको प्रसन्नतापूर्वक देखनेहीसे, किसीको हँसीसे, किसीको कोमल-वाणीसे राजा प्रसन्न रक्खै ॥ २०२ ॥

सुभोजनैः सुवसनैस्तांबूलैश्च धनैरपि ॥
कांश्चित्तु कुशलप्रश्नैरधिकारप्रदानतः ॥ २०३ ॥

अर्थ-किन्ही भृत्योंको सुंदर भोजन देनेसे, किन्हीको वस्त्र आदि देनेसे, किन्ही भृत्योंको तांबूल आदि देनेसे, किन्हीको धन आदि देनेसे, किन्हीको कुशल प्रश्न पूछनेसे, किन्हीको उत्तम अधिकार देनेसे राजा प्रसन्न रक्खै ॥ २०३ ॥

वाहनानां प्रदानेन योग्याभरणदानतः ॥
छत्रातपत्रचमरदीपिकानां प्रदानतः ॥ २०४ ॥

अर्थ-किन्हीको उत्तम वाहन आदिके देनेसे, किन्हीको योग्य आभूषणोंके देनेसे, किन्हीको छत्र, आतपत्र, चमर, दीपिका (मसाल वा नरयानविशेषपालकी) आदिके देनेसे राजा अपने सामंतराज आदि भृत्योंको प्रसन्न रक्खै ॥ २०४ ॥

क्षमया प्रणिपातेन मानेनाभिगमेन च ॥
सत्कारेण च ज्ञानेन ह्यादरेण शमेन च ॥ २०५ ॥

अर्थ-किन्हीको क्षमापूर्वक नमस्कार करनेसे, किन्हीको मानपूर्वक आने जानेके समयमें सामने जाने, तथा मान आदिके देनेसे, किन्हीको सत्कारहीसे, किन्हीको ज्ञानोपदेश आदिके सुनने सुनानेसे, किन्हीको आदरपूर्वक समानभावसे राजा प्रसन्न रक्खै ॥ २०५ ॥

प्रेम्णा समीपवासेन स्वार्धासनप्रदानतः ॥
संपूर्णासनदानेन स्तुत्योपकारकीर्त्तनात् ॥ २०६ ॥

अर्थ-किन्हीको प्रेमपूर्वक अपने समीप रखनेसे, किन्हीको अपने आधे आसनपर बैठानेसे, किन्हीको सभामें संपूर्ण पृथक् आसन देनेसे किन्हीको प्रशंसापूर्वक उनके किये हुए उपकारोंकी प्रशंसासे राजा अपने सामंतराज आदि भृत्योको यथा योग्य प्रसन्न रक्खै ॥ २०६ ॥

यत्कार्यविनियुक्ता ये कार्याङ्कैरङ्कयेच्च तान् ॥
लोहजैस्ताम्रजैरीतिभवैरजतसंभवैः ॥ २०७ ॥
सौवर्णरत्नजैर्वापि यथायोग्यैः स्वलांच्छनैः ॥
प्रतिज्ञानाय दूरात्तु वस्त्रैश्च मुकुटैरपि ॥ २०८ ॥

अर्थ-जो भृत्य जिस कार्यपर नियुक्त हो, उसको उसीही कार्यके चिह्नसे अंकित करे, वह चिह्न लोहेके, तांबेके, पीतलके तथा चांदीके बनवावे और सुवर्णके, तथा रत्नोंके भी बनवावै, दूरसे भृत्योंकी पहँचानके निमित्त इन उक्त यथायोग्य अपने अपने चिह्नोंसे अंकित करै ॥ २०७ ॥ २०८ ॥

वाद्यवाहनभेदैश्च भृत्यान्कुर्यात्पृथक् पृथक् ॥
स्वविशिष्टं च यच्चिह्नं न दद्यात्कस्यचिन्नृपः ॥२०९ ॥

अर्थ-वाद्य (बाजे) तथा वाहन आदिके भेदोंसे सामंत-राज आदि भृत्योंको पृथक् पृथक् करै (अर्थात् सामंतराज

आदिकी पृथक्‌ पहँचानके निमित्त उनके बाजे तथा वाहन आदिभी पृथक्‌ पृथक्‌ रीतिके नियत करै जो अपना विशिष्ट (विशेष) चिह्न है वह राजा किसीकोभी न दे, (अर्थात्‌ सर्व राजाओंमें अधीश्वर राजाका जो विशिष्ट चिह्न है वह किसीभी अन्य राजाको न दे)॥ २०९

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते ॥
शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः ॥ २१० ॥

अर्थ-दाता, क्षमावान्‌, गुणीके गुणोंको ग्रहण करनेवाला, स्वामी कठिनतासे मिलभी जाताहै, परंतु पवित्र (चोरी अन्यायी तथा मद्यपान आदि दोषोंसे बचनेवाला), दक्ष (देशकालके अनुकूल राज्यसंबंधी कार्य करनेमें कुशल), अनुरक्त (स्वामीमें अत्यंत प्रेमपूर्वक भक्ति रक्खनेवाला) सामंतराज आदि भृत्य मिलना तौ अत्यंतही दुर्लभ है ॥ २१० ॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार अक्षयसिंहजीवर्मनिर्मिते अक्षयनीतिसुधाकरे भाषाटीकासमलंकृतः द्वितीयस्तवकः समाप्तः ॥ २ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथाऽक्षयनीतिसुधाकरः ।

भाषाटीकासमेतः ।

तृतीयस्तबकः ३.

ॐ आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरंधिर्योषाजिष्णू रथेष्ठाः सभेयोयुवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्ज्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगः क्षेमो नः कल्पताम् ॥ १ ॥

अथ सेनाप्रकरणम् ।

न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसंचयात् ॥
यत्र नीतिबलं चोभे तत्र श्रीः सर्वतोमुखी ॥ १ ॥

अर्थ–राजाओंके सेना संग्रहके सिवाय अन्य कोई भी उत्तम कोश (खजाना) नहीं (अर्थात् राजाओंके लिये श्रेष्ठ सेना रखनेकोही उत्तम कोश कहाहै) और जहां नीति (कानून) तथा श्रेष्ठ सेना दोनों ही विद्यमान हैं वहां सर्व प्रकारसे लक्ष्मी निवास करती है ॥१॥

अलंकृतश्च संपश्येदायुधिनं पुनर्जनम् ॥
वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २ ॥

अर्थ–राजा अलंकार आदिको धारण करके तीसरे पहरके पीछे शस्त्र अस्त्र आदिकोंको धारण किये हुए रसालेके सैनिकोंको देखै और रसालेके घोडे तथा हाथी, ऊँट आदि सर्व वाहनोंको और सर्व शस्त्र अस्त्र आदिको और बखतर पाखर सलह आदिको देखै ॥ २॥

अपराह्णे प्रेक्षणं च सेनांगानां महीपतीः ॥
व्यूहाश्च विविधाः कार्याः शस्त्राण्यपि विलोकयेत् ॥३॥

अर्थ-राजा अपराह्णमें सेनाके अंगों (हाथी, घोडे, रथ, पैदलों) को देखै और सैनिकोंसे चक्रव्यूह आदि नाना प्रकारकी व्यूहरचनाभी करावै और सैनिकोंके शस्त्र तथा अस्त्रोंकोभी देखै ॥ ३ ॥

तोषयेज्जयशीलांश्च संक्रमानपि शिक्षयेत् ॥
केतुकरादिसंकेताँल्लक्ष्ययंत्रादिकाः क्रियाः ॥ ४ ॥

अर्थ-चक्रव्यूह आदिके भेदन करनेमें और विविध व्यूहरचनामें कुशल सैनिकोंको पारितोषिक (इनाम) और उच्चपद (श्रेष्ठअधिकार) आदि देके प्रसन्न करै और अशिक्षित सेनाको नानाप्रकारकी व्यूहरचना (कवायद) तथा ध्वजा और हाथआदिके संकेतोंसे सैनिकोंको कर्त्तव्य कार्योंकी शिक्षा दे और लक्ष्य (निसाने) पर शस्त्र व अस्त्र लगानेकी तथा यंत्रद्वारा अदृश्य स्थानोंमें अस्त्र फेंकने आदि क्रियाओंकीभी शिक्षा देवे ॥ ४ ॥

सेना शस्त्रास्त्रसंयुक्ता मनुष्यादिगणात्मिका ॥
स्वगमान्यगमा चेति द्विधा सैव पृथक् त्रिधा ॥ ५ ॥

अर्थ-शस्त्र और अस्त्रोंसे संयुक्त मनुष्य आदिके समूहको सेना कहते हैं और वह स्वगमा (पियादे) और अन्यगमा (असवार) इन भेदोंसे दो प्रकारकी है फिर वह दो प्रकारकी दैवी १ आसुरी २ तथा मानुषी ३ इन भेदोंसे पृथक् पृथक् तीन प्रकारकी है ॥ ५ ॥

दैव्यासुरी मानवी च पूर्वं पूर्वं बलाधिका ॥
स्वगमा या स्वयं गंत्री यानगाऽन्यगमा स्मृता ॥ ६ ॥

अर्थ-दैवी, आसुरी और मानुषी इन तीनोंमें पहिले २ की सेना अपनी उत्तर सेनासे बलमें अधिक होती है (अर्थात् मानुषीसे आसुरी और मानुषी आसुरी इन दोनोंसे दैवी बलवती होती है) और जो सेना अपने पैरोंसे चले वह स्वगमा और यान (रथ आदि) से चलै वह अन्यगमा कहलाती है ॥ ६ ॥

पादातं स्वगमं वान्यद्रथाश्वगजगं त्रिधा ॥
सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः ॥ ७ ॥

अर्थ–अथवा पदातियोंकी स्वगमसेना एकही भेदवाली होती है और दूसरी अन्यगम सेना रथ, अश्व, हाथीपर चलनेसे तीन प्रकारकी होतीहै जिस राजाके पास सेना नहीं उसके पास कुछ नहीं कारण कि, सेनाके विना न राज्य है, न धन है, और न पराक्रम है ॥ ७ ॥

बलिनो वशगाः सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः ॥
भवंत्यल्पजनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः ॥ ८ ॥

अर्थ–बलवान् सेनावालेके संपूर्ण वशमें हो जाते हैं और दुर्बलके संपूर्ण शत्रु हो जाते हैं चाहै साधारण मनुष्यभी बलयुक्त होवै तौ उसके संपूर्ण वशीभूत हो जाते हैं तौ फिर बलवान् राजाके वशीभूत और दुर्बलके सर्वशत्रु क्यों नहीं होंगे ॥ ८ ॥

शारीरं हि बलं शौर्यबलं सैन्यबलं तथा ॥
चतुर्थमास्त्रिकबलं पंचमं धीबलं स्मृतम् ॥ ९ ॥
षष्ठमायुर्बलं त्वेतैरुपेतो विष्णुरेव सः ॥
न बलेन विनाप्यल्पं रिपुं जेतुं क्षमः सदा ॥ १० ॥

अर्थ–१ प्रथम बल शरीरका २ द्वितीय बल शूरताका ३ तृतीय बल सेनाका ४ चौथा बल शस्त्रअस्त्रका ५ और पांचवाँ बल बुद्धिमत्ताका कहा है, और ६ छठा बल अवस्थाका है इन छः बलोंसे युक्त राजा साक्षात् विष्णुका रूप कहा है और बलके विना अल्पशत्रुको भी जीतनेमें कोई भी कभी समर्थ नहीं होता ॥ ९ ॥ १० ॥

तस्माद्बलममोघं तु धारयेद्यत्नतो नृपः ॥
सेनाबलं तु द्विविधं स्वीयं मैत्रं च तद्द्विधा ॥ ११ ॥

अर्थ–तिसीसे राजा यत्नपूर्वक अपने उपरोक्त छः प्रकारका बलको अमोघ रक्खै (अर्थात् समान पुरुषोंके साथ बाहुयुद्धसे और व्यायामसे और ब्रह्मचर्य आदिसे और उत्तमोत्तम भोजनसे शारीरक बलको

और सिंह आदि शूरवीर हिंसक जानवरोंकी मृगयासे और शस्त्रास्त्रके नित्य अभ्याससे शौर्यबलको, और अच्छे शूरवीर कुलीन विख्यात पुरुषोंको श्रेष्ठ सैनिक शिक्षा देके सेनाके बलको, और ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वधर्मनिष्ठ तपको धारण करके ब्रह्मास्त्र आदिके अभ्याससे और नालिक आदि अस्त्रोंके सदा अभ्याससे आस्त्रिक बलको, और नाना प्रकारके शास्त्राभ्याससे और अनेक शास्त्रोंमें निष्णात बुद्धिमानोंकी सत्संगतिसे बुद्धिबलको, और इस भूमिपर अपने गोत्रमें राज्य चिरस्थाई रहनेके निमित्त नीतिपूर्वक श्रेष्ठ कर्मोंसे आयुर्बलको, सदा बढाता रहे और उन बलोंमें अपनी और मित्रकी सेनाका भेदसे सैनिकबल दो प्रकारका कहा है मौल और साद्यस्कके भेदसे अपनी और मित्रकी सेनाभी दो दो प्रकारकी कही है ॥ ११ ॥

मौल[1]साद्यस्क[2]भेदाभ्यां सारासारं पुनर्द्विधा ॥
अशिक्षितं शिक्षितं च गुल्मीभूतमगुल्मकम् ॥ १२ ॥
दत्तास्त्रादि[3] स्वशस्त्रास्त्रं[4] स्ववाहि[5] दत्तवाहनम्[6] ॥
सौजन्यात् साधकं मैत्रं स्वीयं भृत्या प्रपालितम् १३ ॥

अर्थ—मौल और साद्यस्क भेदसे दो दो प्रकारकी कही हुई मित्रकी और अपनी सेनाभी, सार, असार, अशिक्षित, शिक्षित, गुल्मीभूत, अगुल्मिक और दत्तास्त्रादि, स्वशस्त्रास्त्र, स्ववाहि और दत्तवाहन इन भेदोंसे फिर दो दो प्रकारकी होती है (जैसे स्वीयं मौलं १ स्वीयंसाद्यस्कं २ स्वीयं सारं ३ स्वीयंअसारं ४ स्वीयंअशिक्षितं ५ स्वीयशिक्षितं ६ स्वीयंगुल्मीभूतं ७ स्वीयंअगुल्मकं ८ स्वीयंदत्तास्त्रादि ९ स्वीयंस्वशस्त्रास्त्रं १० स्वीयंस्ववाहि ११ स्वीयंदत्तवाहनं १२ इस प्रकार स्वकीया सेना बारह प्रकारकी हुई तौ ऐसेही मित्रकी सेनाकोभी बारह

१ जिसको जागीरी आदि दे रक्खी हो और कुलोत्पन्न तथा पुस्तानीहो. २ नवी भरती कीगई हो. ३ जिसको स्वामीने शस्त्र अस्त्र आदि दिये हो ४ जिसके पास अपनेही शस्त्र अस्त्र हों. ५ जिसके अपनीही असवारी हो. ६ जिसको राजाने असवारी दी हो ॥

प्रकारकी जानो और जो सेना सौजन्यात् (स्नेह अर्थात् मित्रातासे) कार्यको सिद्ध करती है वह मैत्रं (अर्थात् मित्रकी) और जो भृत्या (नोकरी) से पाली गई हो वह स्वीयं (अपनी) कहलाती है ॥ १२ ॥ १३ ॥

मौलं बह्वनुसंबंधि स्यात्साद्यस्कं यत्तदन्यथा ॥
सुयुद्धकामुकं सारमसारं विपरीतकम् ॥ १४ ॥

अर्थ-जो सेना जागीरी आदिसे और बहुत पुस्तोंसे संबंध रक्खती हो वह मौल और इससे अन्यथा हो वह साद्यस्क कहलाती है और जो सेना सदा श्रेष्ठयुद्धकी इच्छा करै वह सार और इससे विपरीत हो वह असार कहाती है ॥ १४ ॥

शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिक्षितम् ॥
गुल्मीभूतं साधिकारि ह्यस्वामिकमगुल्मकम् ॥१५॥

अर्थ-जो सेना व्यूह (कवायद) में कुशल हो वह शिक्षित और इससे विपरीत हो वह अशिक्षित कहाती है जो सेना सेनापतिसे युक्त हो वह गुल्मीभूत और सेनापतिसे रहित हो वह अगुल्मक कहातीहै १५॥

दत्तास्त्रादिस्वामिना यत्स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा ॥
कृतगुल्मं स्वयं गुल्मं तद्वच्च दत्तवाहनम् ॥ १६ ॥

अर्थ-जिस सेनाको राजाने शस्त्र अस्त्र आदि दिये हों वह दत्तास्त्रादि और इससे अन्यथा स्वशस्त्रास्त्र कहलाती है कृतगुल्म १ स्वयंगुल्म २ और वैसेही दत्तवाहनभी कहाती है ॥ १६ ॥

आरण्यकं किरातादि यत्स्वाधीनं स्वतेजसा ॥
उत्सृष्टं रिपुणा वापि भृत्यवर्गे निवेशितम् ॥१७॥
भेदाधीनं कृतं शत्रोः सैन्यं शत्रुबलं स्मृतम् ॥
उभयं दुर्बलं प्रोक्तं केवलं साधकं न तत् ॥ १८ ॥

अर्थ-भील आदि जो अपने तेजसे स्वाधीन होते हैं उन्होंकी सेना आरण्यक (जंगली) कहाती है और अपने शत्रुद्वारा छोडी हुई हो अथवा शत्रुने जिसको भृत्यवर्गमें निवेशित की हो वह सेना और जो शत्रुकी सेना भेदसे अपने अधीन कर ली गई हो वह सेना शत्रुकी ही होती है और ये दोनों सेना दुर्बल कही गई हैं कारण कि, ये अकेली कार्य सिद्ध नहीं कर सकती ॥ १७ ॥ १८ ॥

समैर्नियुद्धकुशलैर्व्यायामैर्नतिभिस्तथा ॥
वर्द्धयेद्बाहुयुद्धार्थं भोज्यैः शारीरकं बलम् ॥ १९ ॥

अर्थ-बाहुयुद्धमें कुशल ऐसे समान मनुष्योंके साथ परस्पर युद्धसे, व्यायाम (दंडकसरत) से, नति (ब्रह्मचर्य आदिके सेवन) से, तथा शरीरके पोषक उत्तम उत्तम खानेके पदार्थोंसे बाहुयुद्धकी सिद्धिके निमित्त राजा अपना और अपनी सेनाका शारीरक बल बढावै ॥ १९॥

मृगयाभिस्तु व्याघ्राणां शस्त्रास्त्राभ्यासतः सदा ॥
वर्द्धयेच्छरसंयोगात्सम्यक्छौर्यबलं नृपः ॥ २० ॥

अर्थ-सिंह आदि हिंसक शूर वीर पशुओंकी मृगया (शिकार) से और सदा शस्त्र तथा अस्त्र आदिके अभ्याससे, और बाण आदिके शीघ्र शीघ्र चलानेके राजा भली प्रकार अपना और अपनी सेनाका शौर्यबल (शूरवीरता) बढावै ॥ २० ॥

सेनाबलं सुभृत्या तु तपोभ्यासैस्तथास्त्रकम् ॥
वर्द्धयेच्छास्त्रचतुरसंयोगाद्धीबलं सदा ॥ २१ ॥

अर्थ-राजा अच्छी पूर्ण भृति (नोकरी) से सेनारूप बलको बढावै (अर्थात् सैनिकोंको पूर्ण तनखाह देके युद्धक्रियामें कुशल करै) और ब्रह्मचर्य आदि तपके सेवनसे ब्रह्मास्त्र आदि मांत्रिक अस्त्रके तथा नित्य अभ्याससे नालिक आदि अस्त्रके बलको सदा बढावै और नाना प्रकारके शास्त्रोंमें कुशल बुद्धिमान् मनुष्योंकी संगतिसे राजा अपना बुद्धिबल बढावै ॥ २१ ॥

सत्क्रियाभिश्चिरस्थायि नित्यं राज्यं भवेद्यथा ॥
स्वगोत्रे तु तथा कुर्यात्तदायुर्बलमुच्यत्ते ॥ २२ ॥

अर्थ–अच्छे अच्छे उत्तम कर्मोंसे अपने गोत्रकी परंपरामें राज्य चिरकालतक जिस प्रकार स्थित रहै उस प्रकारही राजा उत्तम कर्मोंका आचरण करै उसीको आयुर्बल कहते हैं ॥ २२ ॥

यावद्गोत्रे राज्यमस्ति तावदेव स जीवति ॥
तस्मात्तु वर्द्धयेदायुर्बलं राजा समाहितः ॥ २३ ॥

अर्थ–जबतक अपने गोत्रमें राज्य बना रहै तबतकही वह राजा तथा गोत्र जीता है तिससे राजा बहुत सावधानीसे युक्त आयुर्बलको बढावै इसी कारण उक्त छः बलोंसे संयुक्त राजाको विष्णुरूप कहा है ॥ २३ ॥

अथ सेनाधिकारिणः ।

सेनाधिकारे संयोज्या बांधवाः श्यालकाः सदा ॥
स्वदोषदर्शकाः कार्याः सुहृदो गुरवश्च ये ॥ २४ ॥

अर्थ–राजाको उचित है कि, बांधव तथा शालों (पत्नीके भाइयों) को सेनाके अधिकारपै नियत करै और अपने अवगुणोंको दिखानेके निमित्त मित्रोंको तथा गुरुजनोंको सदा नियत करै ॥ २४ ॥

सेनाधिपः क्षत्रियस्तु ब्राह्मणस्तदभावतः ॥
न वैश्यो न च वै शूद्रः कातरश्च कदाचन ॥ २५ ॥

अर्थ–सेनापति (कमांडर) क्षत्रीहीको बनावै और सेनापति बनानेके योग्य क्षत्री न मिलसके तो सेनापतिके लक्षणोंसे युक्त ब्राह्मणको सेनापति बनावै और सेनापतिके योग्य क्षत्रिय तथा ब्राह्मणके अभावमें भी वैश्य तथा शूद्रको सेनापति न बनावै और चाहे किसी भी वर्णका हो परंतु कायरको तौ सेनापति कदापि न बनावै ॥ २५ ॥

सेनापतिः शूर एव योज्यः सर्वासु जातिषु ॥
ससंकरचतुर्वर्णधर्मोयं न तु यावनः ॥ २६ ॥

अर्थ-संपूर्ण जातियोंमें शूरवीरहीको सेनापति नियुक्त करे यह नियमसंकर (वर्णसंकर) जातियोंसहित चार वर्णोंके धर्मोंमें कहा है परंतु यवनोंमें यह नियम नहीं है ॥ २६ ॥

व्यूहयंत्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः ॥
वर्षाशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररंध्रवित् ॥ २७ ॥

अर्थ-व्यूह (कवायद) करना, कराना और यंत्र (दूरबीन) आदिसे शत्रुके अदृश्य पदार्थोंको देखना तथा तोप आदिसे शत्रुके अभेद्य स्थानमें गोले आदि गिराना और नाना प्रकारके आयुधको चलाना इत्यादि कार्योंमें कुशल पराक्रमसे युक्त वर्षा, शीत, घाम, वायुके वेगोंको सहन करनेवाला और शत्रुके मर्मों (छिद्रों) को जाननेवाला पुरुषको सेनापति बनावै ॥ २७ ॥

कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः ॥
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ २८ ॥

अर्थ-श्रीरामचंद्र भरतसे कहते हैं कि, हे भाई ! ढीठ, शूरवीर, और धीर्यवान् बुद्धिमान् (पवित्र) और उत्तम कुलमें जन्मा हुआ स्वामीमें अत्यंत प्रीति रखनेवाला, सेनासंबंधी संपूर्ण कार्य करनेमें चतुर ऐसा पुरुषको आपने सेनापति नियत किया वा नहीं, (अर्थात् उक्त लक्षणोंसे संयुक्त पुरुषको ही सेनापति करना चाहिये) ॥ २८॥

नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिनतिविद्याविशारदाः ॥
अबाला मध्यवयसः शूराः दांता दृढांगकाः॥ २९ ॥

अर्थ-नीति साम दाम दंड भेद आदिके करनेमें तथा शस्त्र (खड्ग आदि) के चलानेमें तथा अस्त्र (बंदूक आदि) के चलानेमें और यूहादि (कवायद) आदिके करने करानेमें और नति (नम्रता रखने)

में और विद्या (इस लोक तथा परलोकके सुधारने) में जो अत्यंत चतुर हों बाल अवस्थावाले न हों बीस वर्षसे लेके साठ वर्षकी अवस्थाके मध्यकी आयुवाले हों शूरवीर हों जितेन्द्रिय हों और दृढ शरीरवाले हों ऐसे पुरुषोंको सेनाके नायक बनावै ॥ २९ ॥

स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ता रिपुद्विषः ॥
शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छाः संकरसंभवाः ॥ ३० ॥
सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्या राज्ञा जयार्थिना ॥
पंचानामथवा षण्णामधिपः पदगामिनाम् ॥ ३१ ॥

अर्थ–शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ, वर्णसंकर, कोई हो परंतु जो अपने धर्ममें दृढ विश्वास रखनेवाले हों और अपने स्वामीमें नित्य अत्यंत भक्ति रखनेवाले हों और अपने तथा अपने स्वामीके शत्रुओंसे द्वेष रखनेवाले तथा पूर्वश्लोकके लक्षणोंसे संयुक्त हों ऐसे उक्त लक्षणोंसे संयुक्त किसी भी जातिके मनुष्योंको उत्तम जातिके अभावमें शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले राजाको सेनाके अधिपति और और सैनिक बनाने चाहिये और पैदल सेनामें पांच पांच अथवा छः छः सैनिकोंके मध्यमें एक अधिपति नियत करै ॥ ३० ॥ ३१ ॥

योज्यः सपत्तिपालुः स्यात्त्रिंशता गौल्मिकः स्मृतः ॥
शतानां तु शतानीकस्तथानुशातिको वरः ॥ ३२ ॥

अर्थ–जो पांच २ अथवा छः २ के मध्यमें एक अधिपति नियत किया जाता है वह पत्तिपालु (जमादार) कहाता है और जो तीस सैनिकोंके ऊपर एक अफसर होता है उसको गौल्मिक (दफेदार) कहते हैं और जो सौ सैनिकोंके ऊपर एक अफसर होता है उसको शतानीक (रिसालदार) कहते हैं और उस शतानीकके पास उसके न होनेमें कार्य करनेवाला एक अन्यसैनिक रहता है वह अनुशातिक कहलाताहै ॥ ३२ ॥

सेनानीर्लेखकश्चैते शतं प्रत्याधिपा इमे ॥
साहस्रिकश्च संयोज्यस्तथा चायुतिको महान् ॥ ३३ ॥

अर्थ-सेनानी, लेखक और शतानीक आदि ये सब सौ सौके प्रति अधिप होते हैं और सहस्र (हजार) का अधिपति तथा आयुतिक (दशहजार) का अधिपति और महान् सर्वसेनाका अधिपति क्रमसे नियुक्त करै ॥ ३३ ॥

व्यूहाभ्यासं शिक्षयेद्यः सायं प्रातस्तु सैनिकान् ॥
जानाति स शतानीकः सुयोद्धुं युद्धभूमिकाम् ॥३४॥

अर्थ-जो सायंकाल और प्रातःकाल सैनिकोंको व्यूहाभ्यास (कवायद) की शिक्षा दे और अपने सैनिकोंके निमित्त युद्धभूमिमें सुंदर युद्धकी शिक्षाको जानता हो वह शतानीक (रिसालदार) कहलाता है ॥ ३४ ॥

तथाविधोनुशतिकः शतानीकस्य साधकः ॥
जानाति युद्धसंभारं कार्ययोग्यं च सैनिकम् ॥ ३५ ॥

अर्थ-जैसा शतानीक होता है वैसाही शतानीकका साधक अनुशतिक होता है और जो युद्धके संभारोंको और युद्ध आदि कार्योंके योग्य (अर्थात् युद्ध आदि कार्योंमें कुशल) सैनिकों (सिपाहियों) को जानै ॥ ३५ ॥

निदेशयति कार्याणि सेनानीर्यामिकांश्च सः ॥
परिवृत्तिं यामिकानां करोति स च पत्तिपः ॥ ३६ ॥

अर्थ-तथा यामिकों (सिपाहियों) को जो कार्य बतावै वह सेनानी कहाताहै और यामिकों (सिपाहियों) की परिवृत्ति (बदली) करै वह पत्तिप (जमादार) कहलाता है ॥ ३६ ॥

सावधानीं यामिकानां विजानीयाच्च गुल्मपः ॥
सैनिकाः कति संत्यत्रैः कति प्राप्तं तु वेतनम् ॥३७॥

अर्थ-और सिपाहियोंकी सैनिक कार्योंमें सावधानीको विशेषतासे जानै वह गुल्मपः (दफेदार) कहलाता है और यहां कितने सैनिक

हैं (अर्थात् प्रातः सायं सैनिकोंकी गिनती करै) और इनको कितना वेतन (नोकरी) मिला ॥ ३७ ॥

प्राचीनाः के कुत्र गताश्चैतान् वेत्ति स लेखकः ॥
गजाश्वानां विंशतेश्चाधिपो नायकसंज्ञकः ॥ ३८ ॥

अर्थ–प्राचीन कितने हैं और वे कहा गये इस प्रकार जो इन सैनिकोंको जानै वह लेखक (फौजबाक्षि) कहाता है और हाथी तथा घोडोंकी सेना (रसाले) में बीस बीस हाथी घोडोंमें एक अधिपति होताहै वह नायक (रसाईदार) कहाता है और विशेषता नहीं है ३८॥

दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा ॥
ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतंद्रितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ–कोई आचार्य कहते हैं कि, पदातियोंकी सेनामें दश दश सैनिकोंमें एक अधिपति करै और वैसेही सौ सौ सैनिकोंपर एक अधिपति बनावै और तदनंतर आलस्यरहित, शूरवीरको सहस्र (हजार) सैनिकोंका अधिपति करै ॥ ३९ ॥

अयुतेशं च लक्षेशमक्षौहिण्याधिपं तथा ॥
उक्त संज्ञान्स्वस्वचिह्नैर्लांछितांश्च नियोजयेत् ॥४०॥

अर्थ–अयुतेश (दश हजार सैनिकोंका अधिपति) नियत करै (अर्थात् कमाण्डर इन चीफ) और लक्ष सैनिकोंका अधिपति नियत करै वैसेही अक्षौहिणी सेनाका अधिपति नियत करै और पत्तिपालु आदि अधिपतियोंको अपने २ पृथक् २ चिह्नोंसे चिह्नित करके निज २ अधिकारपै नियुक्त करै ॥ ४० ॥

अथ सैनिकाः ।

कुलीनाः सत्त्वसंपन्ना वपुष्मंतो जितश्रमाः ॥
शस्त्रास्त्रकुशलाः शूरा व्यूहचर्याविशारदाः ॥ ४१ ॥

स्वामिभक्ताः कृतज्ञाश्च व्यसनैः परिवर्जिताः ॥
योधा यस्य महीपस्य करदास्तस्य भूमिपाः ॥४२॥

अर्थ-जिस राजाके कुलीन (अर्थात् श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए) और सत्त्वसंपन्न (अच्छे पराक्रमसे संपन्न) और वपुष्मंत (अच्छे दीर्घ, पुष्ट और दृढ शरीरवाले) और वर्षा, शीत, वायु, घाम तथा क्षुधा आदि कष्टोंके सहन करनेमें समर्थ और शस्त्र (खड्गआदि) अस्त्र (बंदूक आदि) के चलानेमें अच्छे कुशल और शूरवीर और चक्रव्यूह आदिके युद्धमें बडे चतुर और अपने स्वामीके भक्त और स्वामीके किये हुए उपकारको स्मरण रखनेवाले और मृगया आदि अष्टादश दुर्व्यसनोंसे वर्जित ऐसे योधे (सैनिक) विद्यमान हों उस राजाको अन्य सब राजा कर (खिराज) देनेवाले हो जाते हैं अर्थात् उक्त लक्षणोंसे युक्त शूरवीर सेनावाले राजाके अन्य सर्व राजा स्वयं अधीन हो जाते हैं इसीसे राजाको उचित है कि उपरोक्त लक्षणोंसे संपन्न पुरुषोंको सेनामें भरती करै ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ॥
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ४३ ॥

अर्थ-स्वभावहीसे शूरवीर, शस्त्र अस्त्रके जाननेवाले, स्त्री आदिमें विशेष आसक्ति नहीं रखनेवाले संपूर्ण श्रमको जीतनेवाले और प्रसिद्ध-क्षत्रियोंके कुलोंमें उत्पन्न हुए एस योधाओंसे जो सेना परिपूर्ण है उस सेनाको बुद्धिमान् अत्यंत श्रेष्ठ सेना कहते हैं इसीसे कुलीन क्षत्रियोंको ही सैनिक बनावे ॥ ४३ ॥

सुभटाः शीलसंपन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः ॥
अपि पंचशतं शूरा निघ्नंति रिपुवाहिनीम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-युद्ध करनेमें कुशल और धैर्यता आदि गुणोंसे संपन्न और एकता रखनेवाले और युद्ध करनेमें दृढनिश्चय ऐसे पंचशत (पाँच सौ)

भी शूरवीर योधे शत्रुकी सेनाको मारनेमें समर्थ हो सकते हैं यहां वाहिनी शब्द चतुरंगिणी सेनाका वाचक है ॥ ४४ ॥

सिंहशार्दूलवाङ्नेत्राः सिंहशार्दूलगामिनः ॥
पारावतकुलिंगाक्षाः सर्वे शूराः प्रमाथिनः ॥ ४५ ॥

अर्थ–सिंह और शार्दूल (सिगोस) की समान वाणी और नेत्रों वाले सिंह शार्दूलकी गतिके समान चलनेवाले और पारावत (कबूतर) तथा कुलिंगके नेत्रोंके समान नेत्रोंवाले ऐसे सब मनुष्य शूरवीर और शत्रुकी सेनाको मथन करनेवाले होते हैं ॥ ४५ ॥

गांधाराः सिंधुसौवीरा नखरप्रासयोधिनः ॥
अभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम् ॥ ४६ ॥

अर्थ–जिस सेनामें गंधार (कंधार) के निवासी और सिंधुसौवीर (उत्तर सिंध) के निवासी और नखर (शेरपंजे) तथा भाले आदिसे युद्ध करनेवाले और किसीसे भी नहीं डरनेवाले और अच्छे पराक्रमी योद्धे विद्यमान हैं वह सेना सर्वत्र पारगामी होती है (अर्थात् सबको जीतनेवाली होती है) ॥ ४६ ॥

सर्वशस्त्रेषु कुशलाः सत्त्ववंतो ह्युशीनराः ॥
प्राच्या मातंगयुद्धेषु कुशलाः कूटयोधिनः ॥ ४७ ॥

अर्थ–उशीनर (कंधारदेशका भाग) के निवास अच्छे पराक्रमी और सर्व प्रकारके शस्त्र चलानेमें कुशल होते हैं और पूर्वके निवासी मातङ्ग (हाथियोंके) युद्धोंमें और कूटयुद्धमें कुशल होते हैं ॥ ४७ ॥

तथायवनकांबोजा मथुरामभितश्च ये ॥
एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्यासिपाणयः ॥ ४८ ॥

अर्थ–जैसे पूर्वके योधे होते हैं वैसेही यवन तथा कांबोज (पंचनदसे आरंभ कर म्लेछदेशसे दाक्षिण पूर्वकी ओरका देश) केभी होते हैं जो मथुराके चारों ओर निवास करते हैं, और यवन

तथा कांबोजदेशवाले ये सब बाहुयुद्धमें बडे कुशल होते हैं और द-क्षिणके निवासी आसि (तलवार) की लडाईमें कुशल होते हैं॥४८॥

मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तरस्विनः ॥
प्रमादिनश्च मंदाश्च क्रोधनाः किंकिणीस्वनाः ॥ ४९॥
मेघस्वनाः क्रोधमुखाः केचित् करभसन्निभाः ॥
जिह्मनासाग्रजिह्वाश्च दूरगा दूर पातिनः ॥ ५० ॥
सुसंहताः सुतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः ॥
प्रमादितेषु कुप्यंति हृष्यंति कलहेषु च ॥ ५१ ॥
गंभीराक्षा निस्सृताक्षाः पिंगाक्षा भृकुटीमुखाः ॥
नकुलाक्षास्तथा चैते सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ ५२ ॥

अर्थ—मृगके समान शब्दवाले, द्वीपीके नेत्राके समान नेत्रोंवाले और वृषभके करचरणके समान दृढ हाथ पैरवाले, अत्यंत वेगवाले प्रमाद करनेवाले, अत्यंत मंदबुद्धिवाले, अत्यंत क्रोधवाले और किं-किणीके शब्दके समान शब्दवाले, और मेघकी गर्जनाके समान शब्द-वाले, क्रुधित मुखवाले, कोई करभ (हाथीके बच्चे) के समान शरीरवाले, टेढी नासिकावाले, अग्रजिह्वावाले, दूर देशोंमें जानेवाले, और शस्त्र तथा अस्त्रको बहुत दूरतक फेंकनेवाले, और अत्यंत एक-तावाले, दृढ शरीरवाले, दीर्घवक्षस्थलवाले, युद्धभूमिमें निर्भय स्थित रह-नेवाले, प्रमाद होनेमें क्रोध करनेवाले, और कलह (संग्राम) होनेमें प्रसन्न रहनेवाले, और गभीर नेत्रोंवाले, निकले हुए नेत्रोंवाले, पीले नेत्रोंवाले और भृकुटीयुक्त मुखवाले, नकुलके नेत्रोंके समान नेत्रोंवाले वा नकुल (नोलिया) के वर्णके समान नेत्रोंवाले, इन उपरोक्त लक्ष-णोंसे संयुक्त सब मनुष्य शूरवीर होते हैं और रणभूमिमें शूरताके साथ शरीर छोडनेवाले होते हैं ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोपि च ॥
वज्रबाह्वंगुलीचक्राः कृशा धमनिसंतताः ॥ ५३ ॥
प्रविशंति च वेगेन सांपराये ह्युपस्थिते ॥
वारणा इव संमत्तास्ते भवंति दुरासदाः ॥ ५४ ॥

अर्थ—कुटिल नेत्रोंवाले दीर्घ ललाटवाले, मांसरहित तीक्ष्णडाढीवाले, इंद्रके वज्रके समान भुजदंड और बडी दृढचक्राकार अंगुलीवाले (अर्थात् बडे दृढ भुजदंड और अंगुलीवाले) कृश शरीरवाले देहमें प्रगट दीखनेवाली धमनी (नाडियां) वाले पुरुष और जो मदोन्मत्त हाथीके समान भली प्रकार शूरवीरताके मदसे मतवाले होके रणभूमिमें प्रवेश करते हैं वे संग्राममें बडे दुर्भेद्य होते हैं अर्थात् भेदन करनेमें नहीं आते ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

दीप्तस्फुटितकेशांताः स्थूलपार्श्वहनूमुखाः ॥
उन्नतांसाः पृथुग्रीवा विनता विहगा इव ॥ ५५ ॥
पिंडशीर्षातिवक्राश्च वृषदंशमुखास्तथा ॥
शीघ्राश्चपलकृत्ताश्च ते भवंति दुरासदाः ॥५६ ॥

अर्थ—जो योधे अग्निकी ज्वालाके समान दीप्यमान और फटे हुए केशोंवाले हैं, और स्थूलपार्श्व, डाढी, तथा मुखवाले हैं और उन्नत कंधेवाले हैं और विशेष नमे हुए पक्षियोंके समान बडी गर्दनवाले हैं, और पिंडके समान मस्तकवाले हैं, और स्थूल मुखवाले हैं, और मार्जारके समान मुखवाले हैं, और शीघ्र शस्त्रास्त्र चलानेवाले हैं, और अत्यंत चपलता पूर्वक काट करनेवाले हैं, वे सब दुर्भेद्य होते हैं ॥५५॥५६॥

उग्रस्वरा मन्युमंतो युद्धेष्वारावसारिणः ॥
अधर्मज्ञावलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शिनः ॥५७॥
त्यक्तात्मानः सर्व एते ह्यंत्यजा अनिवर्तिनः ॥
पुरस्कार्य्याः सदा सैन्ये हन्यंते घ्नंति चापि ये ॥५८॥

अर्थ-भयानक शब्दवाले, और अत्यंत क्रोधवाले और रणभूमिमें शत्रुपर निश्चित आक्रमण (हमला) करनेवाले धर्मके ज्ञाता न होनेसे अत्यंत घमंड रक्खनेवाले, अत्यंत भयानक स्वभाववाले, दीखनेमें भयानक शरीरवाले और अपने शरीरमें आसक्ति नहीं रखनेवाले ऐसे अंत्य जातिके मनुष्य भी संग्राममें पीठ नहीं दिखलाते इसीसे सेनापतिको उचित है कि, जो शत्रुओंको मारनेवाले हैं तथा अपनी शूरवीरता दिखलाके अन्य पुरुषोंको भी उत्तेजित कर शत्रुओंको मारने मरवानेवाले हैं उनको सब सेनाके अग्रभागमें नियुक्त करै ॥५७॥५८॥

मौलशिक्षितसारेण गच्छेद्राजा रणे रिपुम् ॥
प्राणात्ययेपि मौलं न स्वामिनं त्यक्तुमिच्छति ॥५९॥

अर्थ-मौल जागीरदार आदि, वा वंशके क्रमसे सैनिकनोकरी करते आये हों शिक्षित चक्रव्यूह आदिकी रचनामें कुशल हों सार संग्राम करनेकी अत्यंत अभिलाषा रखते हों ऐसे सैनिकोंकी सेनासे राजा संग्राममें शत्रुपै चढाई करै कारण कि, प्राण जानेपरभी मौल सेना अपने स्वामीको छोडनेकी इच्छा नहीं करती ॥ ५९ ॥

सुसिद्धाल्पबलः शूरो विजेतुं क्षमते रिपुम् ॥
महत् सुसिद्धबलयुक्शूरः किं न विजेष्यति ॥ ६० ॥

अर्थ-भली प्रकार युद्ध करनेमें निपुण अलपसेनावालाभी शूरवीर राजा शत्रुको जीतनेमें समर्थ होता है तो महान् सन्नद्ध सेनावाला शूरवीर राजा शत्रुको कैसे नहीं जीतेगा ॥ ६० ॥

न चाल्पसाधनो गच्छेदपि जेतुमरिं लघुम् ॥
महतात्यंतसाध्यस्तु बलेनैव सुबुद्धियुक् ॥ ६१ ॥

अर्थ-जिसके पास संग्राम करनेकी पूरी सामग्री नहीं हो, वह थोडी सामग्रीवाला राजा छोटे (तुच्छ) शत्रुको भी जीतनेके निमित्त चढाई न करै क्योंकि श्रेष्ठबुद्धिवाला शत्रु बडी सेनासेभी अत्यंत दुःसाध्य

होता है इससे बुद्धिमान् राजा महान् सेनासे अत्यंत साध्य होके शत्रुपै चढाई करै ॥ ६१ ॥

अशिक्षितमसारं च साद्यस्कं बलवच्च तत् ॥
युद्धं विनान्यकार्येषु योजयेदात्मवान्सदा ॥ ६२ ॥

अर्थ–जो अशिक्षित (कवायद) करनेमें अकुशल अर्थात् कवायद नहीं जानती हो और असार (युद्ध करनेमें डरने वाली) साद्यस्क (नवीन भरती की हुई) ये सेना बलवान् हो तौभी बुद्धिमान् राजा उक्त सेनाओंको युद्धके लिये न भेजै दूसरे कामोंपैं नियुक्त करै, क्योंकि ऐसी सेनाओंको युद्धमें भेजनेसे मनुष्यहानि तथा अपयशके सिवाय और कुछ लाभ नहीं होता ॥ ६२ ॥

नानाप्रहरणोपेता नानायुद्धविशारदाः ॥
पितृपैतामहा वश्याः संहता दत्तवेतनाः ॥ ६३ ॥
योधाः समरशौण्डीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः ॥
धर्मशास्त्रसमायुक्ताः पदातिजनसंवृताः ॥ ६४ ॥
अभया गजपृष्ठस्था रथचर्याविशारदाः ॥
इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ ६५ ॥

अर्थ–जिस राजाके पास नाना प्रकारके शस्त्रास्त्रके चलानेमें कुशल, अनेक प्रकारकी युद्धचर्यामें विशारद (तत्पर) बापदादाओंसे विख्यात, स्वामीके आज्ञाकारी, और सैनिक कार्यसिद्धिके निमित्त एक संमतिवाले, अपने निबद्ध समयमें उत्तम वेतन (तनखाह) पानेवाले और युद्ध करनेकी इच्छा रखनेवाले, संग्राम करनेमें चतुर, सैनिकोंके कर्तव्य कार्मोंके ज्ञाता, शस्त्रविद्यामें तत्पर, धर्मशास्त्रप्रणीतवर्णाश्रम आदिके धर्मसे युक्त (अर्थात् देशदेशांतरोंमें जानेपरभी धर्मशास्त्रके अनुकूल आचारमें चलनेवाले) पैदलजनोंसे समावृत, और गज आदिकी सवारीपै बैठके निर्भय युद्ध करनेवाले, रथचर्यामें विशारद, नालिक आदि तथा

मांत्रिक अस्त्र चलानेमें कुशल ऐसे सैनिक विद्यमान होते हैं उसी राजाकी यह भूमि हो जाती है ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

अथ सेनायां पदात्यादीनां क्रमः ।

चतुर्गुणं हि पादातमश्वतो धारयेत्सदा ॥
पंचमांशांस्तु वृषभानष्टांशांश्च क्रमेलकान् ॥ ६६ ॥

अर्थ—सेनामें सवारोंसे चार गुने पैदल सदा जादह रखने चाहिये सवारोंसे पांचवें हिस्से वहल (जल पानेके लिये पखाले) रखने चाहिये और सवारोंसे आठवें हिस्से खच्चर (अश्वोंके सामान ले जानेके लिये) रखने चाहिये ॥ ६६ ॥

चतुर्थांशान् गजानुष्ट्रान् गजार्द्धांश्च रथान्सदा ॥
रथात्तु द्विगुणं राजा बृहन्नालद्वयं तथा ॥ ६७ ॥

अर्थ—सेनामें सवारोंसे सदा चौथे हिस्से हाथी और ऊँट रखै, हाथियोंसे आधे रथ और रथोंसे दूने दो बडे तोपखाने रखै ॥ ६७ ॥

पदातिबहुलं सैन्यं मध्याश्वं तु गजाल्पकम् ॥
तथा वृषोष्ट्रसामान्यं रक्षेन्नागाधिकं न हि ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिसमें पैदल बहुत हों घोडे मध्यम हों हाथी अल्प हों तिस प्रकार बैल और ऊँट सामान्य हो उसको सैन्य कहते हैं और उस सैन्यकी राजा सावधानीसे रक्षा करै और जिस सेनामें हाथी अधिक हों उस सेनाकी रक्षा करनेमें राजाकी आवश्यकता नहीं (अर्थात् हाथियोंकी प्रबलतासे स्वयं रक्षित होती है) ॥ ६८ ॥

इति सेनाप्रकरणम् ।

अथ शस्त्रास्त्रप्रकरणम् ।

अस्यते क्षिप्यते यत्तु मंत्रयंत्राग्निभिश्च तत् ॥
अस्त्रं तदन्यतः शस्त्रमासिकुंतादिकं च यत् ॥ ६९ ॥

अर्थ–जो मंत्र, यंत्र और अग्निसे चलाया जाय वह अस्त्र कहलाता है उससे अन्य जो तलवार, भाला आदि हैं वह शस्त्र कहलाते हैं ॥ ६९ ॥

अस्त्रं तु द्विविधं ज्ञेयं नालिकं मांत्रिकं तथा ॥
यदा तु मांत्रिकं नास्ति नालिकं तत्र योजयेत् ॥७०॥

अर्थ–अस्त्र दो प्रकारके होते हैं एक नालिक, दूजा मांत्रिक जहां मांत्रिक अस्त्र न हो वहां नालिक अस्त्रकी योजना करै ॥ ७० ॥

सह शस्त्रेण नृपतिर्विजयार्थं तु सर्वदा ॥
नालिकं योजयेद्युक्त्या प्रवीरपुरुषान्वितः ॥ ७१ ॥

अर्थ–मांत्रिक अस्त्रके प्रभावसे अच्छे वीरपुरुषोंकी सेनामें संयुक्त राजा अपनी विजयके निमित्त उत्तम शस्त्रोंसहित नालिक अस्त्रकी सदा युक्तिपूर्वक योजना करै (अर्थात मांत्रिक अस्त्र न होनेपर तलवार बंदूक आदिसे युक्तिपूर्वक युद्ध करै ॥ ७१ ॥

लघुदीर्घाकारधाराभेदैः शस्त्रास्त्रनामकम् ॥
प्रथयंति नवं भिन्नं व्यवहाराय तद्विदः ॥ ७२ ॥

अर्थ–शस्त्रास्त्रविद्याको जाननेवाले विद्वान् संग्राम आदि व्यवहारके निमित्त छोटे बडे आकार और धार आदिके भेदोंसे समय समयमें नवीन २ भिन्न २ जातिके नामवाले शस्त्र और अस्त्रोंको प्रकट करते हैं, अर्थात् शस्त्रास्त्र समय समयमें नवीन २ होते चले जाते हैं ॥ ७२ ॥

नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत्क्षुद्रविभेदतः ॥
तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पंचवितस्तिकम् ॥ ७३ ॥

अर्थ–बडे (तोप) और छोटे (बंदूक) आदिके भेदसे नालिक अस्त्र दो प्रकारके होते हैं तिर्छी ऊपरको छिद्रमूलवाला पांच वितस्त (पाँच बिलांत) का लघु नाल होताहै ॥ ७३ ॥

मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदि तिलबिंदुयुतं सदा ॥
यंत्राघाताग्निकृद्ग्रावचूर्णमूलककर्णकम् ॥ ७४ ॥

अर्थ-मूल और अग्रभागके ऊपर निशानेको भेदन करनेके निमित्त तिल और बिंदुके चिह्नसे सदा युक्त हो और यंत्रके पटकनेसे अग्नि उत्पन्न होती हो और पीसा हुआ गोर (बारूद)मूलके कानमें पडा हो । ७४ ॥

सत्काष्ठोपांगबुध्नं च मध्यांगुलबिलांतरम् ॥
स्वांतेऽग्निचूर्णसंधात्रीशलाकासंयुतं दृढम् ॥ ७५ ॥

अर्थ-जिस नालके सुंदर काष्ठ लगा हुआ हो और जिस नालमें हाथकी अंगुली फिर जाती हो और नालके भीतर सोर (बारूद) पहुँचानेके लिये लोहेकी शलाका (गज) होता है जिससे संयुक्त हो और दृढ (अर्थात् बंध आदिमें दृढ बंधी हो वा नाल आदि सब अच्छे दृढ हों) ॥ ७५ ॥

लघुनालिकमप्येतत् प्रधार्यं पत्तिसादिभिः ॥
पत्यर्थं दीर्घमाख्यातं नालास्त्रं क च सादितः ॥ ७६ ॥

अर्थ-ऐसी लघुनालिक (बंदूक) को पैदल (पलटन) और असवार (रसालेके सिपाही) सदा धारन करै और कहां असवारोंसे पलटनके लिये बंदूक भी बडी कही है ॥ ७६ ॥

यथा यथा तु त्वक्सारं यथा स्थूलबिलांतरम् ॥
यथा दीर्घं बृहद्गोलं दूरभेदि तथा तथा ॥ ७७ ॥

अर्थ-जितनी २ त्वचा मोटी हो (अर्थात् नाल जितनी २ मोटी हो) नालका बीचका छेद जितना २ मोटा हो तथा नालभी जितनी २ बडी हो और गोला भी जैसा २ बडा हो वैसे २ बंदूक भी दूरतक भेदन करनेवाली होती है ॥ ७७ ॥

लघुनालिकभेदास्तु संति तंत्रे त्वनेकधा ॥
बुद्धिमद्भिः सदा ज्ञेया देशकालविभेदतः ॥ ७८ ॥

अर्थ-लघुनालिक (बंदूक) के भेद शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके कहे हैं उन सबको देश तथा समयके भेदसे विद्वानोंको समझने चाहिये ॥ ७८ ॥

मूलकीलोद्गमाल्लक्ष्यसमसंधानभाजि यत् ॥
बृहन्नालिकसंज्ञं तत् काष्ठबुध्नविवर्जितम् ॥ ७९ ॥

अर्थ—जो मूलकी कील उखाडनेसे बराबर निशानेपर लगै उसीको बृहन्नालिक (तोप) कहते हैं वह तोप काष्ठके बुध्न (अर्थात् ऊपरके काठ) से वर्जित होती है ॥ ७९ ॥

प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु सुयुक्तं विजयप्रदम् ॥
दुर्गप्राकारभेदि स्याद्व्यूढसैन्यविनाशनम् ॥ ८० ॥

अर्थ—जो तोप शकट (गाडा छकडा) आदिसे ले चलनेमें आती है वह भली प्रकार चलाई हुई विजयकी देनेवाली होती है और किला और परकोटेको भेदन करती है तथा सेनाकी व्यूहरचनाको नाश करदेती है ॥ ८० ॥

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम् ॥
संचयान्येवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥ ८१ ॥

अर्थ—शक्ति (सैफ) ऋष्टि (खड्ग) प्रास (बल्लम) वर्म (कवच) आदि संपूर्ण आयुधोंका संग्रह करै (अर्थात् सर्व प्रकारके शस्त्रोंका संचय करै) ॥ ८१ ॥

ईषद्वक्रश्चैकधारो विस्तारे चतुरंगुलः ॥
क्षुरप्रांतो नाभिसमो दृढमुष्टिः सुचंद्ररुक् ॥ ८२ ॥
खड्गः प्रासश्चतुर्हस्तदंडबुध्नक्षुराननः ॥
दशहस्तमितः कुंतः फलाग्रः शंकुबुध्नकः ॥ ८३ ॥

अर्थ—किंचित् टेढा एकधारवाला चार अंगुल चौडा और अत्यंत तीक्ष्ण नोंक (कुंट) वाला पैरोंसे पुरुषकी नाभिपर्यंत ऊँचा और अच्छी दृढ मूठवाला पूर्णचंद्रमाके तेजके समान कांतिवाला ऐसा खड्ग (तलवार) होता है, चार हाथका लंबा दंडमे युक्त तीक्ष्ण मुखवाला प्रास (बल्लम) होता है दश हाथका लंबा अग्रभागमें अत्यंत तीक्ष्ण

फल युक्त मूलमें तीक्ष्ण लोहेकी कीलवाला ऐसा कुंत (भाला) होताहै ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

चक्रं षड्ढस्तपरिधिः क्षुरप्रांतः सुनाभियुक् ॥
त्रिहस्तदंडस्त्रिशिखो लोहरज्जुः सपाशकः ॥ ८४ ॥

अर्थ—छः हाथकी परिधि (फेर) वाला, छुरीके समान तीक्ष्ण (तीखी) पैनी धारवाला, अच्छी (नाभि घुमानेका स्थल) वाला चक्र होता है तीन हाथका दंड तीन शिखा, और पाश (फाँसी) पडी हुई ऐसी लोहरज्जु (लोहकी फाँसी) होती ॥ ८४ ॥

गोधूमसंमितस्थूलपत्रं लोहमयं दृढम् ॥
कवचं सशिरस्त्राणमूर्ध्वकायविशोभनम् ॥ ८५ ॥

अर्थ-गेहूंके समान स्थूल (मोटे) पत्तेवाला, केवल लोहेसे बना- हुआ, अच्छा दृढ, सशिरस्त्राण (शिरकी रक्षावाले टोपसहित ऊंचा) और विशेष शोभायमान ऐसा कवच (बख्तर) होताहै ॥ ८५ ॥

ऋष्टयस्तोमराः खड्गा निशिताश्च परश्वधाः ॥
फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ॥ ८६ ॥

अर्थ—शक्ति, गुर्ज, तलवार, तीखे तीखे परसे, भाले और ढाल आदि, अनेक प्रकारके शस्त्रोंका राजा संग्रह करै ॥ ८६ ॥

अथ लक्षायराज्ञः सेनानियमः ।

एक लक्ष रुपयोंकी आमदनीवाले राजाके सेना रखनेका नियम कहते हैं ॥

सवयः सारवेषोच्च शस्त्रास्त्रं तु पृथक् शतम् ॥
लघुनालिकयुक्तानां पदातीनां शतत्रयम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—लक्ष रुपयोंकी आमदनीवाले राज्यमें भली प्रकार बंदूक चलानेवाले तीन सौ सिपाही रखै जिनोंमें एक उमरवाले और एकसी उत्तमवर्दी और एकसे उत्तमोत्तम शस्त्रास्त्रवाले सिपाहियोंको सौ २

की पलटनके हिसाबसे पृथक् २ भरती करै वा सौ सैनिक अपनी रक्षाके निमित्त पृथक् रखै और बंदूक आदि आयुधोंके चलानेमें निपुण तीन सौ सिपाही राज्य रक्षाके निमित्त पृथक् रखै ॥ ८७ ॥

अशीत्यश्वान् रथं चैकं बृहन्नालद्वयं तथा ॥
उष्ट्रान् दश गजौ द्वौ तु शकटौ षोडशर्षभान् ॥८८॥
तथा लेखकषट्कं च मंत्रित्रितयमेव च ॥
धारयेन्नृपतिः सम्यग्वत्सरे लक्षकर्षभाक् ॥ ८९ ॥

अर्थ–अस्सी घोडे, एक रथ, दो बडी तोप, दश ऊँट, दो हाथी दो शकट (गाडी) और सोलह बहल रखै, छः लिखनेवाले और तीन मंत्री रक्खै, यह नियम एक वर्षमें कृषीकी उपायसे एक लक्ष रुपयोंकी आमदनीवाले राज्यके निमित्त कहाहै ॥ ८८ ॥ ८९ ॥

अथ लक्षायनृपतेर्व्ययनियमः ।

अर्थ–एक लक्ष रुपयोंकी आमदनीवाले राज्यके खर्चका नियम कहते हैं ॥

संभारदानभोगार्थं धनं सार्द्धसहस्रकम् ॥
लेखकार्थे शतं मासि मंत्र्यर्थे तु शतत्रयम् ॥ ९० ॥

अर्थ–संभार (राज्ययोग्य सामान) दान (पारितोषिक आदि) भोग (खानपान अलंकारआदि) कार्योंके निमित्त एक लक्ष रुपयोंकी आमदनीवाला राजा डेढ सहस्र रुपये मासिकके हिसाबसे खरच करै और दफतर कचहरी आदिके संपूर्ण लेखकोंके निमित्त सौ रुपये मासिक और पुरोहित आदि दशप्रकृतियोंके निमित्त तीन सौ रुपये मासिकके हिसाबसे खरच करै ॥ ९० ॥

त्रिशतं दारपुत्रार्थे विद्वदर्थे शतद्वयम् ॥
साद्यश्वपद्गाद्यर्थं राजा चतुःसहस्रकम् ॥ ९१ ॥

अर्थ–महिषी (रानी) पुत्र (राजकुमार) इन दोनोंके निमित्त तीन सौ मासिक खर्च करै और विद्वदर्थे (अपने राज्यमें विद्या तथा

कला आदिमें विद्वान् होनेके निमित्त अर्थात् विद्या कला आदिकी पाठशालाओंके निमित्त) दो सौ रुपये मासिक खर्च करै और सादि (रिसाला) अश्व (अश्वशाला) पदगादि (पलटन आदि सब नोकरों) के निमित्त राजा चार सहस्र मासिकके नियमसे खर्च करै ॥ ९१ ॥

गजोष्ट्रवृषनालार्थं व्ययीकुर्याच्चतुःशतम् ॥
शेषं कोशे धनं स्थाप्यं व्ययीकुर्यान्न चान्यथा ॥९२॥

अर्थ–हाथी, ऊँट, बैल, तोप और बंदूक आदिके लिये चारसौ मासिकके नियमसे खर्च करै और शेष धनको खजानेमें स्थापन करै राजाको उचित है, कि उक्त नियमके सिवाय किसी प्रकार धनको व्यर्थ खर्च न करै ॥ ९२ ॥

एक लक्ष रुपयोंकी आमदनीमें खर्चका मासिक नियम.

खर्चको रुपये मासिक	कार्य
१५००)	सामान दान भोग आदिके निमित्त
१००)	दफत्तर आदि सब लिखदारोंके लिये
३००)	पुरोहित आदि दश प्रकृतियोंके निमित्त
३००)	महिषी तथा राजकुमारके निमित्त
२००)	विद्याशाला तथा शिल्पशाला आदिके निमित्त.
४०००)	रिसाला पदचर (पलटन) आदिके निमित्त
४००)	हाथी ऊँट बैल तोप बदूक आदिके निमित्त
६८००)	सब जोड मासिक व्ययका
८१६००)	वर्षभरके व्ययका लेखा
१८४००)	बचत कोशमें रक्खै
१०००००)	सब जोड

अथ सामादिचतुष्टयम् ।

अथ (इसके अनंतर) साम आदि चार उपाय कहते हैं ।

उपायाः सामदानं च भेदो दंडस्तथैव च ॥
सम्यक् प्रयुक्ताः सिद्धेयुर्दंडस्त्वगतिका गतिः ॥९३ ॥

अर्थ–साम १ दान २ भेद ३ दंड ४ इन चारोंको नीतिशास्त्रमें उपायसंज्ञक (कार्यकी सिद्धिका करनेवाले) कहते हैं ये चारोंही भली प्रकार नियुक्त करनेसे कार्यकी सिद्धिके हेतु होते हैं और जहां साम, दान, भेद इन तीनोंसे कार्य सिद्ध नहीं होता वहां केवल दंडही कार्यसिद्धिका हेतु होताहै ॥ ९३ ॥

उपायेन यथा व्यालो गजः सिंहोपि साध्यते ॥
भूमिष्ठाः स्वर्गमायांति वज्रं भिंदंत्युपायतः ॥ ९४ ॥

अर्थ–कार्य सिद्ध करनेमें केवल उपायही मुख्य होता है जैसे सर्प, हाथी, सिंह इत्यादि केवल उपायसेही वशीभूत होते हैं भूमिपर स्थित रहनेवाले मनुष्यभी व्योमयान (आकाशमें उडनेका यंत्र) आदि उपायसे देवलोकको जाते हैं वा अश्वमेध आदि उपायोंसे स्वर्ग आदि स्थानोंमें जाते हैं और वज्र (हीरा) भी उपायसेही काटनेमें आता है ॥

लोकप्रसिद्धमेवैतद्वारिवह्नेर्नियामकम् ॥
उपायोपगृहीतेन तेनैव परिशोष्यते ॥ ९५ ॥

अर्थ–लोकमें यह बात प्रत्यक्ष प्रसिद्ध है कि, जल अग्निको बुझा देता है परंतु यदि वही अग्नि उपायांतरसे प्रज्वलित किया जावै तौ जलको सुखा देताहै ॥ ९५ ॥

उपायेन पदं मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तहस्तिनः ॥
न किंचित्क्वचिदस्तीह वस्त्वसाध्यं विपश्चिताम् ॥९६॥

अर्थ–उपायसे महावत मतवाले हाथीके माथेपर पैर रखके बैठता है और बुद्धिमानोंके निमित्त इस संसारमें कहींभी ऐसा कोई पदार्थ

नहीं जो उपायसे सिद्ध न होवै (अर्थात् बुद्धिमान् मनुष्य उपायसे अशक्य पदार्थकोभी सिद्ध करलेते हैं) ॥ ९६ ॥

साम दानं च दंडश्च भेदश्चेति चतुष्टयम् ॥
मायापेक्षेंद्रजालं च सप्तोपायाः प्रकीर्तिताः ॥ ९७ ॥

अर्थ-साम १ दान २ भेद ३ दंड ४ ये चार और माया ५ उपेक्षा ६ इंद्रजाल ७ इन सातोंकोही नीतिके ज्ञाता कामंदक आदि आचार्य उपायसंज्ञक कहते हैं ॥ ९७ ॥

परस्परोपकाराणां दर्शनं गुणकीर्त्तनम् ॥
संबंधस्य समाख्यानमायत्याः संप्रकाशनम् ॥ ९८ ॥
वाचा पेशलया साधु तवाहमिति चार्पणम् ॥
इति सामविधानज्ञैः साम पंचविधं स्मृतम् ॥ ९९ ॥

अर्थ-१ परस्पर किये हुए उपकारोंको दिखलाना २ और परस्परमें गुणोंका कीर्तन (प्रशंसा) करना ३ संबंधको भली प्रकार प्रगट करना ४ और आगामी समयके हानि लाभका प्रकाश करना ५ चातुर्यतायुक्त गंभीर वाणीमे मैं आपका हूं ऐसा प्रगट वाक्य कहकर सज्जनतापूर्वक अपनेको अर्पण करना इस प्रकार सामविधिके ज्ञाता साम उपायको पांच प्रकारका कहते हैं ॥ ९८ ॥ ९९ ॥

प्रविशन्निव चेतांसि दृष्ट्या साधु पिबन्निव ॥
स्रवन्निवामृतं साम प्रयुंजीत प्रियं वचः ॥ १०० ॥

अर्थ-दूसरोंके चित्तोंमें प्रवेश होते हुए और दृष्टिसे मानो पान करते हुए कार्यकी सिद्धिके निमित्त अमृतधाराके समान प्रियवाक्योंके प्रयोगहीको साम कहते हैं ॥ १०० ॥

वागत्युद्वेगजननी सामेति परिकीर्त्यते ॥
सामाख्यं सूनृतं सत्यं प्रियं स्तोत्रं च कीर्त्यते ॥ १०१ ॥

अर्थ–जिस वाणीके निकालनेसे किसीकेभी चित्तमें उद्वेग उत्पन्न न हो उसी वाणीका नाम साम कहा है और कार्यकी सिद्धि करनेमें अच्छी हितकारक सत्य, प्रिय, स्तुतिके वाक्यसंयुक्त, वाणीका नामभी सामही कहा है वा सूनृत १ सत्य २ प्रिय ३ और स्तोत्र ४ ये भी सामकेही नाम कहे हैं ॥ १०१ ॥

आत्मनो विषयमिव कुर्वन् दद्यात्समीहितम् ॥
जलवत्पर्वतांच्छत्रून् भिंद्यादनुपलक्षितः ॥ १०२ ॥

अर्थ–सामसे शत्रु आदिको अपने विषयकीसी नाईं वशमें करता हुआ वांच्छित कार्यको देवै (अर्थात् प्रतिपक्षी राजाका देशको अपने विषयमें मिलानेकी इच्छा करनेवाला राजा प्रथम संधिके समयमें उसको वांछित अधिकार देवे) और जैसे निर्मल स्वभाववाला जल अपने प्रवाहसे पर्वतोंको भेदन करता हुआ भी किसीको प्रतीत नहीं होता वैसेही सबसे अलक्षित होके सामसे शत्रुओंका भेदन करै ॥१०२॥

क्षीराब्धिर्मथितः साम्ना फलायामरदानवैः ॥
निजाघ्रे धार्तराष्ट्रान् सामप्रद्वेषिणोचिरात् ॥ १०३ ॥

अर्थ–देव और दानवोंने फलसिद्धिके निमित्त सामहीसे क्षीरसमुद्रका मथन किया (अर्थात् साम ऐसा प्रबल उपाय है कि, जिसके प्रभावसे देवदानवोंने अगाध समुद्रको भी मथके अलभ्य अमृत आदिको निकाल लिये) और सामसे द्वेष करनेवाले दुर्योधन आदिको अल्पही कालमें युधिष्ठिर आदिने मारा (अर्थात् साम उपायको नहीं माननेवाले देव दानवोंमे भी अजेय प्रबल प्रतापी दुर्योधन आदि राजा अठारह दिनके संग्राममें समूल नष्ट हो गये) ॥ १०३ ॥

यः संप्राप्तधनोत्सर्ग उत्तमाधममध्यमाः ॥
प्रतिदानं तथा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम् ॥ १०४ ॥
द्रव्यादानमपूर्वं च स्वयं ग्राहप्रवर्तनम् ॥
देयस्य प्रतिमोक्षं च दानं पंचविधं स्मृतम् ॥ १०५ ॥

अर्थ-जिस किसीसे जो उत्तम, अधम, या मध्यम, भले प्रकार प्राप्त हुआ धनोत्सर्ग (धरोहर) उस धरोहरको वैसेका वैसेही देदेना (अर्थात् किसीने अपने पास उत्तम, मध्यम, या अधम धरोहर रख दी हो तो उसके मांगनेपर उस धरोहरको वैसेकी वैसेही दे देना) १ अपने पाससे ग्रहण किया हुआ धन आदिका अनुमोदन करना (अर्थात् प्रबल शत्रुने अपने पाससे सामपूर्वक या साहससे जो कुछ उत्तम, मध्यम, तथा अधम, द्रव्य आदि ले लिये हो तो उसका अनुमोदन करना) २ अपूर्व (जिसका पहले संबंध नहीं) ऐसा द्रव्य जो कन्या आदि तथा इतर पदार्थादि उसको हर्षपूर्वक देना ३ अपना प्रबल शत्रु अपने राज्यमेंसे उसके मनोनुकूल कुछ द्रव्य ग्रहण कर लेवे इस विषयमें उसको प्रवर्त्त करना (अर्थात् किसी प्रबल शत्रुने अपनेको घेर लिया हो तो राज्यरक्षाके लिये उससे इस प्रकार संमेलन करै कि वह प्रसन्न होजाय परंच अपने राज्यमेंसे वह कुछ अपनी इच्छारूप भेटको अंगीकार कर ले) ४ और अंगीकार करने योग्य कर आदिमेंसे कुछ छोड देना ५ इस प्रकार दान संज्ञक उपायभी पाँच प्रकारका कहा है ॥ १०५ ॥

दारुणं विग्रहं विद्वान् दानेन प्रशमं नयेत् ॥
इंद्रोपचारे शुक्रस्य दानेन सम्मीयिवान् ॥ १०६ ॥

अर्थ-बुद्धिमान् राजा घोर विग्रहको भी दान उपायसे शांत करै क्योंकि,इन्द्रके प्रति उपचार करनेमें शुक्रको दानसे संतोषित किया १०६

अपराधेन दुहितुः कुपिते भृगुनंदने ॥
वृषपर्वाप्रदानेन दानवेंद्रोभवत् सुखी ॥ १०७ ॥

अर्थ-पुत्रीके अपराधसे शुक्राचार्यके कुपित होनेपर दानवोंका राजा वृषपर्वा अपनी कन्याके प्रदानसे सुखी हुआ (अर्थात् दान ऐसा प्रबल उपाय है कि, देखो राजा वृषपर्वाकी कन्या शर्मिष्ठाने शुक्राचार्यकी कन्या देवयानीका तिरस्कार किया तो शुक्राचार्य वृष-

पर्वाको छोडके चलदिये जिसपर वृषपर्वाने शर्मिष्ठाको देवयानीके दाइजेमें देकै शुक्राचार्यकोभी प्रसन्न करलिया यह कथा भागवतमें देखो) ॥ १०७ ॥

उपगम्यापि दातव्यं बलिने शांतिमिच्छता ॥
समूल एव गांधार्य्या अप्रयच्छन् गतः क्षयम् ॥ १०८ ॥

थर्अ–शांतिकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् राजाको उचित है कि, अपनेसे बलवान्के निमित्त सन्मुख जाके उसका यथायोग्य सत्कार करै क्यों कि, पांडवोंको देय भागके नहीं देनेसे गांधारीका पुत्र राजा दुर्योधन अपने मूलसहित क्षयको प्राप्त हुआ ॥ १०८ ॥

स्नेहरागापनयनं संहर्षोत्पादनं तथा ॥
संतर्ज्जनं च भेदज्ञैर्भेदस्तु त्रिविधः स्मृतः ॥ १०९ ॥

अर्थ–१ स्नेह रागका दूर करना २ किसीभी पदार्थके लोभसे भली प्रकार हर्ष उत्पन्न करना ३ भली प्रकार डराना भेदके ज्ञाताओंसे इस प्रकार भेदभी तीन प्रकारका कहा है ॥ १०९ ॥

किंचित्प्रयच्छन् भूयस्या तृष्णया परिलोभयन् ॥
भिंद्याच्चतुर्विधान् भेदान्प्रविश्योभयवेतनैः ॥ ११० ॥

अर्थ–प्रथम किंचित् २ पदार्थ देता हुआ और कार्यावसानमें बहुदेयरूप व्यपदेशके द्वारा बहुतसी तृष्णासे अत्यंत लोभायमान करता हुआ, राजा दोनों ओरकी तनखाह पानेवाले मनुष्योंके द्वारा शत्रुके राज्यमें प्रवेश होके भेदन करनेयोग्य चार प्रकारके पुरुषोंको भेदन करै ॥ ११० ॥

अलब्धस्वपणो लुब्धो मानी चाथावमानितः ॥
क्रुद्धश्च कोपितोकस्मात् तथा भीतोवभाषितः ॥ १११ ॥
यथाभिलषितैः कामैर्भिद्यादेतांश्चतुर्विधान् ॥
परपक्षे स्वपक्षे च यथावत् प्रशमं नयेत् ॥ ११२ ॥

अर्थ–अपने हिस्सेसे वंचित रहनेवाला लोभी और वेकारण तिरस्कारको प्राप्त हुआ मानी, अकस्मात् (वेकारन) कुपित किया हुआ क्रोधी और अकस्मात् डराया हुआ डरपोक शत्रुपक्षके विषयमें भेदन करने योग्य इन चार प्रकारके मनुष्योंको मनवांछित कामोंकी पूर्तिका लोभ देके भेदन करै और अपने पक्षमें यादि इस प्रकारका बखेडा होवे तौ विधिपूर्वक शांत करै ॥ १११ ॥ ११२ ॥

भेदं कुर्वीत यत्नेन मंत्र्यमात्यपुरोधसाम् ॥
तेषु भिन्नेषु भेदो हि युवराजे तथोर्जिते ॥ ११३ ॥

अर्थ–मंत्री, अमात्य और पुरोहित इन तीनोंके मध्य यत्नपूर्वक भेदको प्रकट करै कारण कि, इन तीनोंके भेदन होनेसे बढे हुए युवराजमें भी भेद उत्पन्न हो जाता है ॥ ११३ ॥

सर्वावस्थांहि मेधावी तत्कुलीनं विकारयेत् ॥
विकृतस्तु कुलीनश्च स्वयोनिं ग्रसतेऽग्निवत् ॥ ११४ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् सर्वथा सर्वकार्योंमें स्थित शत्रुके कुलीन (बंधु) को भेदन करै कारण कि, भेदित हुआ कुलीन अग्निके समान अपनी योनिकोभी नष्ट करदेता है (अर्थात् काष्ठमें स्थित रहनेवाली अग्नि काष्ठको मथके निकालनेपर फिर उसी काष्ठके जलानेमें संकोच नहीं करती वैसेही विकृत कुलीन कुलके नष्ट करनेमें संकुचित नहीं होता ॥ ११४ ॥

भेदं कुर्वीत मतिमान् विगृहीतो बलीयसा ॥
षंडामर्कौ सुरैर्भित्वा बलवंतौ पराजितौ ॥ ११५ ॥

अर्थ–बुद्धिमान्को उचित है कि, यदि बलवान्से विरोध हो जाय तौ वहां भेदको प्रकट करै कारण देवताओंने भेदहीसे बलवान् षंडामर्के नाम दैत्योंको परास्त किये थे ॥ ११५ ॥

येन संदम्यते जंतुरुपायो दंड एव सः ॥
निवृत्तिरसदाचाराद्दमनं दंडतश्च तत् ॥ ११६ ॥

अर्थ—जिस उपायसे संपूर्ण जंतु दमन किये जायँ उस उपायका नाम दंड है उसीही दंडनाम उपायके प्रभावसे असन्मार्गकी निवृत्ति और दमन (शांति) होती है ॥ ११६ ॥

वधोर्थग्रहणं चैव परिक्लेशस्तथैव च ॥
इति दंडविधानज्ञैर्दंडोपि त्रिविधः स्मृतः ॥ ११७ ॥

अर्थ—प्राणांत करना, धन आदि छीन लेना, नाना प्रकारकी पीडा देना, इस प्रकार दंडविधानके ज्ञाताओंने दंडनाम उपायभी तीन प्रकारका कहा है ॥ ११७ ॥

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च पूर्वो द्विविध इष्यते ॥
प्रकाशदंडान्कुर्वीत लोकद्विष्टां स्तथा रिपून् ॥ ११८ ॥

अर्थ—उन तीन प्रकारके दंडके मध्य वधदंड प्रकाश और अप्रकाशके भेदसे दो प्रकारका है जिसमें लोकसे द्वेष करनेवाले दुष्ट शत्रुओंको सबके प्रत्यक्ष प्राणांत दंड दे ॥ ११८ ॥

यैरुद्विजतेह लोको ये चैव नृपवल्लभाः ॥
बाधंते व्यधिकं ये च तेषूपांशुः प्रवर्तते ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिनसे यह लोक उद्वेजित होते हों तथा जो राजाके अति प्रिय हों और जो विशेष बाधा देते हों उनपै अप्रकट प्राणांत दंड प्रवर्तन करै ॥ ११९ ॥

विषेणोपनिषद्योगैः शस्त्रेणोद्वर्तनेन वा ॥
तथोपांशु नयेद्दंडं यथान्यो न विभावयेत् ॥ १२० ॥

अर्थ—किसीको उपांशु दंड देना हो तौ विष (हालाहल) आदिसे तंत्र आदिके प्रयोगसे, शस्त्रसे, विषयुक्त औषधियोंसे बने हुए तेल फलेल आदिके मर्दनसे, इस प्रकार दंडका प्रचार करै, जिसको कोईभी न जान सकै ॥ १२० ॥

उपेक्षया वा हंतव्या येषूपांशुः प्रशस्यते ॥
उपेक्षां चापि निपुणः प्रत्यक्षं परिवर्जयेत् ॥ १२१ ॥

अर्थ—जिनको उपांशु (गुप्त) दंड देनाही योग्य हो उनको उपेक्षासे हनन करै और नीतिपरायण राजाको उचित है कि उपेक्षाभी प्रत्यक्ष न करै ॥ १२१ ॥

देवताप्रतिमास्तंभसुषिरांतर्गतैर्नरैः ॥
पुमान् स्त्रीवस्त्रसंवीतो निशि चाद्भुतदर्शनम् ॥ १२२ ॥

अर्थ—देवताकी प्रतिमा स्तंभ और सुषिर (गुफा) आदिके अंतर्गत मनुष्योंसे जो मनुष्य अद्भुत चरित्र दिखलाता है और रात्रिमें स्त्रीके वस्त्रोंको धारण करके अद्भुत चमत्कार दिखा देता है ॥ १२२ ॥

वेतालः क्व पिशाचानां देवानां च सरूपता ॥
इत्यादि माया विज्ञेया मानुषी मानुषैश्चरन् ॥ १२३ ॥
कामतो रूपधारित्वं शस्त्रास्त्राश्मांबुवर्षणम् ॥
तमोनिलीनता चैव इति माया च मानुषी ॥ १२४ ॥

अर्थ—कहां वेताल कहां पिशाच कहां देवता इनका स्वरूप धारण कर लेना यह माया मानुषी है इससे आदि लेकर औरभी मायाको धारण करके विचरना इच्छापूर्वक रूपको धारण कर लेना और शस्त्र अस्त्र पत्थर जलकी वृष्टि करना अंधेरा प्रकट करके अंधेरेमें छुप जाना यह मानुषी माया कहाती है ॥ १२३ ॥ १२४ ॥

जघान कीचकं भीम आश्रितः स्त्रीस्वरूपताम् ॥
चिरं प्रच्छन्नरूपोभूद्दिव्यया मायया नलः ॥ १२५ ॥

अर्थ—स्त्रीके स्वरूपको धारण कर भीमसेनने कीचकको मारा। राजा नलने दिव्यमायाके बलसे अन्यरूपको धारण करके बहुत दिन (गुप्त) निवास किया (यह कथा महाभारत तथा नैषधकाव्यमें देखो) ॥ १२५ ॥

अन्याये व्यसने युद्धे प्रवृत्तस्यानिवारणम् ॥
इत्युपेक्षार्थकुशलैरुपेक्षा त्रिविधा स्मृता ॥ १२६ ॥

अर्थ—अन्याय व्यसन युद्ध इन कार्योंमें आसक्त हुए पुरुषको इन कुकृत्योंसे निवारण नहीं करना इसीको उपेक्षा कहते हैं उपेक्षार्थके ज्ञाताओंने इस प्रकार तीन प्रकारकी उपेक्षा कही है ॥ १२६ ॥

अकार्य्यं सज्जमानस्तु विषयांधीकृतेक्षणः ॥
कीचकस्तु विराटेन हन्यतामित्युपेक्षितः ॥ १२७ ॥

अर्थ—अकार्योंमें आसक्त और विषयोंके सेवनकी अभिलाषासे अंधकारको प्राप्त हुए नेत्रवाले कीचकको मरवानेमें विराटने उपेक्षा की थी ॥ १२७ ॥

मेघांधकारवृष्ट्यग्निपर्वताद्भुतदर्शनम् ॥
दूरस्थानां च सैन्यानां दर्शनं ध्वजशालिनाम् ॥१२८॥

अर्थ—मेघ अंधकार वृष्टि अग्नि और पर्वत आदि अनेक अद्भुत दर्शन दिखाना और ध्वजा फहराती हुई दूरपै चतुरंगिणी सेना दिखला देना ॥ १२८ ॥

छिन्नपाटितभिन्नानां संस्कृतानां च दर्शनम् ॥
इतींद्रजालं द्विषतो भीत्यर्थमुपकल्पयेत् ॥ १२९ ॥

अर्थ—छिन्न पाटित और भिन्न किये हुए सैनिकोंका दिखलाना और संस्कार किये हुए सैनिकोंका दिखलाना ऐसी विद्याका नाम इंद्र-जाल कहते हैं वह इंद्रजाल शत्रुओंको भयके लिये प्रगट करना ॥१२९॥

इत्युपायाः समाख्याता राज्ञो नानार्थसाधकाः ॥
सामैतेषु हि सामज्ञो यथाकामं प्रयोजयेत् ॥ १३० ॥

अर्थ—राजाओंके नाना प्रकारके कार्योंको सिद्ध करनेवाले ये सामादि सात उपाय भली प्रकार कहे हैं और इन सात उपायोंके मध्यमें

नामको ज्ञाताको उचित है कि, कार्यके अनुकूल प्रथम साम उपाय-कोही प्रयुक्त करै ॥ १३० ॥

सामभेदौ च कर्त्तव्यौ साधुदानपुरःसरौ ॥
दानेन हि समायुक्तावेतावर्थस्य सिद्धये ॥ १३१ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि, श्रेष्ठ दानवाले साम और भेदको कार्यकी सिद्धिके निमित्त सदा नियुक्त करै युक्तही साम और भेद कार्यकी सिद्धिके हेतु होते हैं (अर्थात् दानपूर्वक साम और भेदसे कार्य अवश्य सिद्ध होते हैं ॥ १३१ ॥

सुहृत्संबंधिस्त्रीपुत्रप्रजाशत्रुषु ते पृथक् ॥
सामदानभेददंडाश्चिंतनीयाःस्वयुक्तिभिः ॥ १३२ ॥

अर्थ—सुहृत्संबंधी स्त्री पुत्र प्रजा और शत्रुओंपै साम दान भेद दंड अपनी युक्तिसे पृथक् २ नियुक्त करै ॥ १३२ ॥

बृंहयेत्कर्षयेन्मित्रं हीनाधिकबलं क्रमात् ॥
भेदनीयाः पीडनीयाः कर्षणीयाश्च शत्रवः ॥ १३३ ॥

अर्थ—हीन और अधिक बलवाले मित्रको क्रमसे बढावै और कर्षित करै (अर्थात् हीनबलवाले मित्रको बढावै और अपनेसे अधिक बल-वाले मित्रको कर्षित करै) और शत्रुओंको तो जैसे बनै वैसेही भेदन करै पीडित करै और कर्षित करै ॥ १३३ ॥

विनाशनीयास्ते सर्वे सामादिभिरुपक्रमैः ॥
मित्रशत्रू यथायोग्यैः कुर्यात् स्ववशवर्तिनौ ॥ १३४ ॥

अर्थ—वे सहज प्राकृत और कृत्रिम संपूर्ण शत्रु साम आदि उपा-योंसे विनाश करने चाहिये और मित्र शत्रु इन दोनोंको यथा योग्य साम आदि उपायोंसे अपने वशवर्ती करै ॥ १३४ ॥

त्वत्समस्तु सखा नास्ति मित्रे साम त्विदं स्मृतम् ॥
मम सर्वं तवैवास्ति मित्रे दानं सजीवितम् ॥ १३५ ॥

अर्थ-आपके समान मेरे कोईभी मित्र नहीं मित्रके निमित्त ऐसे कहनेका नाम साम है और मेरे जीवसहित जो कुछ मेरे पास धन आदि सर्व पदार्थ हैं वे सब आपके हैं निष्कपट होके मित्रसे ऐसे कहनेको दान कहते हैं ॥ १३५ ॥

मित्रेऽन्यमित्रस्य गुणान् कीर्तयेद्भेदनं हि तत् ॥
मित्रे दंडो ना करिष्ये मैत्रीमेवंविधोसि चेत् ॥ १३६ ॥

अर्थ-मित्रके सन्मुख (दूजे) मित्रकी अधिक श्लाघा (शोभा) करनेहीको मित्रके निमित्त भेद कहा है और यदि तुम ऐसे हो तो तुमसे हम प्रीति नहीं रखैंगे मित्रसे ऐसे कहनेका नाम मित्रके निमित्त दंड कहा है ॥ १३६ ॥

सुसहाय्यं तु युद्धादौ मित्रे तद्बृंहणं स्मृतम् ॥
याचनं स्वसहायार्थं मित्रे तत्कर्षणं स्मृतम् ॥ १३७ ॥

अर्थ-युद्ध आदिके विषयमें मित्रकी अच्छी प्रकार सहायता करनेहीको मित्रके लिये बृंहण (वृद्धि) कहते हैं और युद्ध आदिमें अपनी सहायताके हेतु मित्रसे याचना करनेको मित्रके निमित्त कर्षण (दुर्बल) करना कहा है ॥ १३७ ॥

परस्परमनिष्टं न चिंतनीयं त्वया मया ॥
सुसहाय्यं हि कर्तव्यं शत्रौ साम प्रकीर्तितम् ॥ १३८ ॥

अर्थ-आपको और मुझको परस्पर विरोध न करना चाहिये और सदा एकता रखके परस्परमें भली प्रकार सहायता करनी योग्य है इसीको शत्रुके निमित्त साम कहते हैं ॥ १३८ ॥

करैर्वा प्रमितैर्ग्रामैर्वत्सरे प्रबलं रिपुम् ॥
तोषयेत्तद्धि दानं स्याद्यथायोग्येषु शत्रुषु ॥ १३९ ॥

अर्थ-अपने वैभवके अनुकूल वर्ष २ में कर देके वा अपने राज्यके अनुकूल ग्राम देके बलवान् शत्रुको सदा प्रसन्न रखै तथा शत्रु जैसा योग्य हो वैसाही सत्कार करै इसीको शत्रुके निमित्त दान कहा है ॥ १३९ ॥

शत्रुसाधकहीनत्वं करणात्प्रबलाश्रयात् ॥
तद्धीनतो जीवनाच्च शत्रुभेदनमुच्यते ॥ १४० ॥

अर्थ-शत्रुको साधकसे हीन करना और प्रबल राजाका आश्रय लेना उससे हीन होके जीना इसीको शत्रुके निमित्त भेदन कहते हैं ॥ १४० ॥

दस्युभिः पीडनं शत्रोः कर्षणं धनधान्यतः ॥
तच्छिद्रदर्शनादुग्रबलैर्नीत्या प्रभीषणम् ॥ १४१ ॥

अर्थ-शत्रुको चौर आदिसे पीडित करना धन धान्य आदिको लूट खसोट लेना उसके छिद्रोंको देखना और प्रबल सेनासे तथा प्रबल नीतिसे डराना ॥ १४१ ॥

प्राप्तयुद्धानिवर्त्तित्वात्त्रासनं दंड उच्यते ॥
क्रियाभेदादुपाया हि भिद्यंते च यथार्हतः ॥ १४२ ॥

अर्थ-प्राप्त हुए युद्धमें न हटके त्रास देनेको शत्रुके निमित्त दंड कहते हैं और क्रियाके भेदसे साम आदि उपायभी यथायोग्य नाना प्रकारके भेदवाले हो जाते हैं ॥ १४२ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ॥
यथा स्वाभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १४३ ॥

अर्थ-नीतिका ज्ञाता राजा साम आदि संपूर्ण उपायोंसे वैसा कार्य करै कि, जिससे मित्र उदासीन शत्रु ये कोईभी अपनेसे अधिक न हो जायँ ॥ १४३ ॥

सामैव प्रथमं श्रेष्ठं दानं तु तदनंतरम् ॥
सर्वदा भेदनं शत्रोर्दंडनं प्राणसंशये ॥ १४४ ॥

अर्थ-शत्रुके निमित्त सबसे पहले सामही श्रेष्ठ है उसके पीछे दान कहा है और भेदन तो सदैव श्रेष्ठही है और दंड तौ प्राणोंके संशयमें कहा है ॥ १४४ ॥

प्रबलेऽरौ सामदाने सामभेदौ तथाधिके ॥
भेददंडौ समे कार्यौ दंडः पूज्यः प्रहीनके ॥ १४५ ॥

अर्थ—अत्यंत बलवान् शत्रुके निमित्त साम दान श्रेष्ठ है और अपनेसे अधिक शत्रुके निमित्त साम भेद कहा है समशत्रुके हेतु भेद दंड करना चाहिये और हीनशत्रुके लिये तो सदा दंडही श्रेष्ठ है ॥ १४५ ॥

मित्रे च सामदानौ स्तो न कदा भेददंडने ॥
रिपोः प्रजानां संभेदः पीडनं स्वजयाय वै ॥ १४६ ॥

अर्थ—मित्रके हेतु सदा साम दानही करै और भेद दंड कदापि न करै और अपनी जयके निमित्त शत्रुकी प्रजाका भली प्रकार भेदन पीडन करै ॥ १४६ ॥

रिपुप्रपीडितानां च साम्ना दानेन संग्रहः ॥
गुणवतांच दुष्टानां हितं निर्वासनं सदा ॥ १४७ ॥

अर्थ—शत्रुओंसे पीडित गुणवानोंको सामदानसे संग्रह करै (मिलावै) और इनसे विपरीत दुष्टोंको सदा अपने राज्यसे निकाल देनेहीको हित कहा है ॥ १४७ ॥

स्वप्रजानां न भेदेन नैव दंडेन पालनम् ॥
कुर्वीत सामदानाभ्यां सर्वदा यत्नमास्थितः ॥ १४८ ॥

अर्थ—भेद और दंडसे अपनी प्रजाका पालन न करै (अर्थात् अपनी प्रजाके निमित्त भेद दंड न करै) और सर्वदा नीतिके मार्गमें यत्नपूर्वक स्थित हुआ राजा सामदानसे अपनी प्रजाका पालन करै ॥ १४८ ॥

स्वप्रजाभेददंडैश्च भवेद्राज्यविनाशनम् ॥
हीनाधिका यथा न स्युः सदा रक्ष्यास्तथा प्रजाः १४९ ॥

अर्थ—अपनी प्रजाके भेद और नाना प्रकारके दंडसे राज्यका नाश होताहै इसीसे भेद और व्यर्थ दंड न करै जैसे कि अपनी प्रजा अत्यंत

हीन और अपनेसे अधिक न हो जाय राजा वैसेही यत्नपूर्वक सदा प्रजाकी रक्षा करै ॥ १४९ ॥

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पंडिताः ॥
सामदंडौ प्रशंसांति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १५० ॥

अर्थ--नीतिके ज्ञाता बुद्धिमान् मनुष्य तो सामादि चार उपायोंमें राज्यकी वृद्धिके निमित्त सदा साम और दंडहीकी प्रशंसा करते हैं ॥ १५० ॥

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ॥
संख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता॥ १५१ ॥

अर्थ—कार्यकी सिद्धिके निमित्त राजनीतिमें जो साम आदि चार उपाय कहे हैं उन्होंमें दान, भेद, दंड इन तीनोंका केवल संख्यामात्र फल है और कार्यकी सिद्धि तो सामहीमें स्थित रहती है ॥ १५१ ॥

सामैव हि प्रयोक्तव्यमादौ कार्यविजानता ॥
सामसिद्धानि कार्याणि विक्रियां यान्ति न क्वचित् १५२॥

अर्थ--कार्यकी सिद्धिके उपायका ज्ञाता बुद्धिमान् कार्यकी सिद्धिके निमित्त प्रथम सामहीको प्रयुक्त करै क्योंकि सामसे सिद्ध हुए कार्य कदापि विपरीत नहीं होते ॥ १५२ ॥

इत्याद्युपायान्निपुणं नयज्ञो विनिक्षिपेच्छत्रुबले निजे वा ॥ निरभ्युपायो नियतं प्रयाणं विचेष्टमानोऽन्ध इवाभ्युपैति ॥ १५३ ॥

अर्थ--पूर्णनीतिका ज्ञाता न्यायपरायण राजा इस प्रकार साम आदि उपायोंको शत्रुके पक्षमें तथा अपने पक्षमें कार्यकी सिद्धिके निमित्त सदा प्रयुक्त करै और उपायोंको नहीं जाननेवाला राजा निरन्तर शत्रुपै चढाई करनेकी चेष्टा करता है वह शत्रुके सन्मुख चलते हुए अंधेके समान फल भोक्ता है ॥ १५३ ॥

अथ षड्गुणाः।

इसके अनंतर संधि आदि छः गुण कहते हैं॥

संधिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च॥
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा॥ १५४॥

अर्थ–संधि १ विग्रह २ यान ३ आसन ४ द्वैधीभाव ५ संश्रय ६ इन छः गुणोंका राजा सदा विचार करै॥ १५४॥

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च॥
कार्यं वीक्ष्य प्रयुंजीत द्वैधं संश्रयमेव च॥ १५५॥

अर्थ–बुद्धिमान् राजा कार्यको देखके कार्यके अनुकूल आसन यान संधि विग्रह द्वैधीभाव तथा संश्रय इनमें जिसकी आवश्यकता हो उसीको प्रयुक्त करै॥ १५५॥

याभिः क्रियाभिर्बलवान् मित्रतां यांति वैरिणः॥
सा क्रिया संधिरित्युक्ता विमृशेत्तां तु यत्नतः॥ १५६॥

अर्थ–जिस क्रियाके करनेसे बलवान् शत्रुभी मित्रभावको प्राप्त हो जाय उस क्रियाका नाम नीतिके ज्ञाता संधि कहते हैं उस संधिको राजा यत्नपूर्वक विचारै॥ १५६॥

बलीयसाभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः॥
आपन्नः संधिमान्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम्॥ १५७॥

अर्थ–बलवान् शत्रुसे दबाया हुआ राजा यदि इतर प्रतिक्रिया (उपाय) को न कर सकै तो विपत्तिको प्राप्त हुए और उस विपरीत समयको बिताते हुए स्वशत्रुसे संधि (मेल) की इच्छा करै॥ १५७॥

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः॥
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधिं समाश्रयेत्॥ १५८॥

अर्थ–यदि युद्धके उपरांत आगामि समयमें अपनी निश्चय आधि-

क्यता जानी जाय और वर्त्तमानसमयें भी अधिक हानि न हो तौ शत्रुसे तत्काल संधि कर ले ॥ १५८ ॥

कपाल उपहारश्च संतानः संगतस्तथा ॥
उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषांतरः ॥ १५९ ॥
अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः ॥
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ १६० ॥
स्कंधोपनेयः संधिश्च षोडशैते प्रकीर्तिताः ॥
इति षोडशकं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १६१ ॥

अर्थ–कपाल १ उपहार २ संतान ३ संगत ४ उपन्यास ५ प्रतीकार ६ संयोग ७ और पुरुषांतर ८ अदृष्टनर ९ आदिष्ट १० आत्मादिष्ट ११ उपग्रह १२ परिक्रय १३ उच्छिन्न १४ परभूषण १५ और स्कंधोपनेय १६ यह सोलह प्रकारकी संधि कही हैं संधिविधानके ज्ञाता पंडितजन इस प्रकारसे संधिको सोलह प्रकारकी कहते हैं ॥ १५९ ॥ १६० ॥ १६१ ॥

कपालसंधिर्विज्ञेयो केवलं समसंधितः ॥
संप्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥ १६२ ॥

अर्थ–बराबर बलवालेके संग मेल कर लेनेका नाम कपाल संधि है और जो धन आदि पदार्थके देनेसे मेल होता है उसको उपहारसंधि कहते हैं ॥ १६२ ॥

संतानसंधिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ॥
सद्भिस्तु संगतः संधिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ १६३ ॥

अर्थ–जो कन्यादान देके मेल किया जाय उसका नाम संतान संधि है और जो श्रेष्ठोंके संग मित्रता करके मेल किया जाय उसका नाम संगतसंधि है ॥ १६३ ॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ॥
संपत्तौ वा विपत्तौ वा कारणैर्यो न भिद्यते ॥ १६४ ॥
संगतः संधिरेवायं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ॥
तथान्यैः संधिकुशलैः कांचनः स उदाहृतः ॥ १६५॥

अर्थ–जबतक आयु रहै तबतक तुल्य अर्थ और प्रयोजनवाला संपत्ति और विपत्तिमें किसीभी कारणोंसे भेदको प्राप्त न हो यह संगतसंधि कहलाती है जैसे धातुओंमें सुवर्ण उत्तम होता है उसकी नाईं संधियोंमें संगतसंधि उत्तम होनेसे संधिक्रियामें कुशल दूसरे पंडितभी इस संधिको कांचनसंधि कहते हैं ॥ १६४ ॥ १६५ ॥

आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ॥
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १६६ ॥

अर्थ–अपने कामकी सिद्धिको दिखलाके जो संधि (मेल) की जाय उसको संधिकुशल आचार्योंने उपन्याससंधि कही है ॥१६६॥

मयास्योपकृतं पूर्वं ममाप्येष करिष्यति ॥
इति यः क्रियते संधिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ १६७॥

अर्थ–मैंने इसका पहले उपकार किया और यह भी मेरा अवश्य उपकार करेगा ऐसे जो संधि (मेल) करै वह संधि प्रतीकार कहलाती है ॥ १६७ ॥

उपकारं करोम्यस्य ममाप्येष करिष्यति ॥
अयं चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥ १६८ ॥

अर्थ–मैं इसका उपकार करता हूं यह भी मेरा उपकार अवश्य करैगा यह भी प्रतीकारसंधि रामसुग्रीवके समान कहलाती है॥१६८॥

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ॥
सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ १६९ ॥

अर्थ-जो अच्छे प्रमाणोंसे युक्त एकार्थ क्रियाका भली प्रकार उद्देश्य करके जहां संधि होती है वह संयोगसंधि कहाती है ॥ १६९ ॥

आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति ॥
यस्मिन् पणस्तु क्रियते स संधिः पुरुषांतरः ॥ १७० ॥

अर्थ-अपने दोनोंके मुख्य योधों (मुख्य सैनिकों) से मेरा कार्य सिद्ध करना चाहिये जिसके विषयमें इस प्रकार प्रतिज्ञा की जाय वह पुरुषांतर संधि कहलातीहै ॥ १७० ॥

त्वयैकेन मदीयोर्थः संप्रसाध्यस्त्वसाविति ॥
यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १७१ ॥

अर्थ-आप अकेलेही मेरे इस कार्यको अच्छी तरह सिद्ध करो, जहां शत्रु इस प्रकार प्रतिज्ञा करै वह अदृष्टपुरुष संधि कहाती है ॥ १७१ ॥

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः ॥
संधीयते संधिविद्भिः स चादिष्ट उदाहृतः ॥ १७२ ॥

अर्थ-जहां कुछ भूमि देनेकी प्रतिज्ञा करके बलवान् शत्रु मिला लिया जाय उस संधिको संधिके ज्ञाता आदिष्टसंधि कहते हैं ॥ १७२ ॥

स्वसैन्येन तु संधानमात्मादिष्ट उदाहृतः ॥
क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ १७३ ॥

अर्थ-अपनी सेनासे जो संधि की जाती है वह आत्मादिष्ट संधि कहलाती है और जो अपने प्राणोंकी रक्षाके निमित्त सर्वस्व (सब आधिपत्य) देके संधि की जाती है वह उपग्रह कहाती है ॥ १७३ ॥

कोशांशेनार्धकोशेन सर्वकोशेन वा पुनः ॥
शिष्टस्य परिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १७४ ॥

अर्थ-किंचित् खजानेके देनेसे वा आधे खजानेसे वा सारे खजानेसे शेषकी रक्षाके निमित्त शत्रुसे मेल कर लेनेको परिक्रयसंधि कहते हैं ॥ १७४ ॥

भुवां सारवतीनां च दानादुच्छिन्न उच्यते ॥
भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः ॥ १७५ ॥

अर्थ-अच्छी सारवाली (उपजाऊ) पृथ्वीके देनेसे मेल करनेको उच्छिन्नसंधि कहते हैं और भूमिमें उपजे हुए सारे अन्न फल आदिके देनेसे जो मेल किया जाता है वह परभूषणसंधि कहलाती है ॥ १७५ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कंधेन दीयते ॥
स्कंधोपनेयं तं प्राहुः संधिं संधिविचक्षणाः ॥ १७६ ॥

अर्थ-जहां थोडेसे फल (द्रव्य आदि) स्थालीमें रखके भृत्योंके कंधेपर धराय भेंटकी समान दिये जाते हैं उस संधिको संधिके ज्ञाता पंडितजन स्कंधोपनेय कहते हैं ॥ १७६ ॥

परस्परोपकारस्तु मैत्रीसंबंधकस्तथा ॥
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव संधयः ॥ १७७ ॥

अर्थ--परस्परमें उपकार, मित्रता, संबंध, उपहार (भेंट) ये चार संधि विशेषकरके जानने योग्य हैं ॥ १७७ ॥

एक एवोपहारस्तु संधिः सर्वस्य संमतः ॥
उपहारविभेदास्तु सर्वे मैत्रविवर्जिताः ॥ १७८ ॥

अर्थ--एक उपहारसंधिही सबको संमत है क्योंकि मित्रताको छोडके अन्य सब संधियें उपहारहीके भेद हैं ॥ १७८ ॥

अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ॥
उपहारादृते तस्मात्संधिरन्यो न विद्यते ॥ १७९ ॥

अर्थ--युद्ध करनेवाला शत्रु बलवान् होनेसे द्रव्य आदि पदार्थके विना लिये नहीं लौटता तिसीसे उपहारसंधिके विना अन्य संधि नहीं है ॥ १७९ ॥

संधिमिच्छेत्समेनापि संदिग्धो विजयो युधि ॥
सुंदोपसुंदावन्योन्यं नष्टौ तुल्यबलौ न किम् ॥ १८० ॥

अर्थ--बुद्धिमान्को उचित है कि तुल्यबलवाले शत्रुसेभी सदा मेल करनेहीकी इच्छा करै क्योंकि युद्ध करनेमें विजय होनेका संदेह रहता है देखो समान बलवाळेभी सुंद और उपसुंद दैत्य परस्परमें युद्ध करके क्या नष्ट न हुए (अर्थात् नष्ट हो गये) ॥ १८० ॥

सत्यार्यौ धार्मिकोऽनार्यो भ्रातृसंघातवान् बली ॥
अनेकयुद्धविजयी संधेयाः सप्त कीर्तिताः ॥ १८१ ॥

अर्थ--सत्यवादी १ सबका हितैषी २ धार्मिक ३ दुष्ट ४ बहुत बंधुवाला ५ बलवान् ६ अनेक युद्धमें विजय पानेवाला ७ ये सातोंही संधि (मेल) कर लेने योग्य कहे हैं ॥ १८१ ॥

सत्योऽनुपालयेत् सत्यं संधितो नैति विक्रियाम् ॥
प्राणबाधेपि सुव्यक्तमार्यो नायात्यनार्यताम् ॥ १८२ ॥

अर्थ--सत्यवादी सदा अपने सत्यहीका पालन करता है संधि करनेपर कदापि विपरीतताको प्राप्त नहीं होता और आर्य सबका हितैषी बुद्धिमान् प्राण जानेपरभी प्रकट अनार्यताको धारण नहीं करता ॥ १८२ ॥

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युद्ध्यते ॥
प्रजानुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ १८३ ॥

अर्थ--युद्ध करनेवाले धर्मात्माकी ओरसे यावन्मात्र योद्धे और प्रजाभी शत्रुसे लडनेको तैयार होती है और प्रजामें अत्यंत प्रीति

होनेसे अपने धर्ममें दृढ रहनेसे धार्मिक राजा बलवान्केभी अत्यंत दुःखसे जीतनेमें आता है ॥ १८३ ॥

संधिः कार्योप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ॥
विना तस्याश्रयेणार्यः कुर्यान्न कालयापनम् ॥१८४॥

अर्थ—यदि विनाशके समान समय प्राप्त हो जाय तो उस समयमें अनार्यसेभी संधि (मेल) करलेना योग्य है क्योंकि उस अनार्यका आश्रय लेनेके विना आर्यपुरुष काल (समय) को व्यतीत नहीं कर सकता ॥ १८४ ॥

संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कंटकैर्वृतः ॥
न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसंघातवांस्तथा ॥ १८५ ॥

अर्थ—जैसे बहुत कांटोंसे चौतरफ घिरा हुआ बांस अपने स्वजाति समुदायसे मिला हुआ होनेसे सुखपूर्वक किसीकेभी काटनेमें नहीं आता वैसेही बहुत बांधवोंसे मिला हुआ बलवान् शत्रुभी सुखसे जीतनेमें नहीं आता ॥ १८५ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ॥
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ १८६ ॥

अर्थ—बलवान्के साथ युद्ध करै ऐसा उपदेश कहांभी नहीं है क्योंकि मेघ बलवान् है परन्तु अपनेसे बलवान् वायुके विपरीत कभी नहीं चलता ॥ १८६ ॥

अनेकयुद्धविजयी संधानं यस्य गच्छति ॥
तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायांति शत्रवः ॥ १८७ ॥

अर्थ—अनेक युद्धोंके जीतनेवाला जिसकी सहायता करने लगता है उस विजयीके प्रतापसे उस विजयीसे मेल करनेवालेके शत्रुभी तत्काल उसीके वशीभूत हो जाते हैं ॥ १८७ ॥

बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ॥
भीरुको भीरुजनको लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ १८८ ॥
विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ॥
अनेकचित्तमंत्रस्तु देवब्राह्मणनिंदकः ॥ १८९ ॥
दैवोपहतकश्चैव तथा दैवपरायणः ॥
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः ॥ १९० ॥
अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ॥
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी ॥ १९१ ॥
एतैः संधिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम् ॥
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यांति रिपोर्वशम् ॥ १९२ ॥

अर्थ—बालक १ बूढा २ बहुत दिनोंका रोगी ३ जातिसे बाहिर निकाला हुआ ४ डरपोक ५ कायर पुरुषोंको पास रखनेवाला ६ लोभी ७ लोभी पुरुषोंको नोकर रखनेवाला ८ पुरोहित आदि दश प्रकृतिसे प्रसन्न नहीं रहनेवाला ९ मृगया आदि अठारह दुर्व्यसनोंमें अत्यंत आसक्ति रखनेवाला १० अनेक पुरुषोंके साथ सम्मति करनेवाला ११ देव और ब्राह्मणोंकी निंदा करनेवाला १२ भाग्यसे हत हुआ १३ भाग्यके भरोसेपर निर्भय रहनेवाला १४ दुर्भिक्षके दुःखसे युक्त १५ सैनिकविपत्तिसे आकुल १६ अयोग्य देशमें ठहरा हुआ १७ बहुत शत्रुवाला १८ युद्ध करने योग्य समयके विना युद्ध करनेवाला १९ सत्यधर्मसे रहित २० ये वीस प्रकारके पुरुष संधि करने योग्य नहीं हैं इन वीस पुरुषोंसे संधि न करै इन्होंसे तो केवल युद्ध ही करै कारण कि ये वीसही लडाई करनेसे शीघ्रही शत्रुके वशमें हो जाते हैं ॥ १८८ ॥ १८९ ॥ १९० ॥ १९१ ॥ १९२ ॥

बालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ॥
युद्धायुद्धफलं यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः ॥ १९३ ॥

अर्थ—बालक राजाका अल्प प्रभाव होनेसे उनके सेवक युद्ध करनेकी इच्छा नहीं करते क्योंकि बालक युद्ध नहीं करता तथा युद्ध अयुद्धके फलको नहीं जान सक्ता इससे स्वामीका प्रबल प्रभावके विना सैनिक लडाईकी इच्छा नहीं करते ॥ १९३ ॥

उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धोदीर्घामयस्तथा ॥
स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयः ॥ १९४ ॥

अर्थ—बूढा और बहुत दिनोंका रोगी ये दोनोंही उत्साह शक्तिरहित होनेसे निःसंदेह आपही तिरस्कारको प्राप्त हो जाते हैं ॥ १९४ ॥

सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्वज्ञातिबहिष्कृतः ॥
त एवैनं विनिघ्नंति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृतः ॥ १९५॥

अर्थ—जातिसे बाहर निकाला हुआ भी सुखसे मारा जाता है कारण कि, साम दान आदिसे अपने वशीभूत किये हुए ज्ञातिके मनुष्यही उसको मार देते हैं ॥ १९५ ॥

भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति ॥
तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ १९६ ॥

अर्थ—डरपोक युद्धके त्यागनेसे आपही नष्ट हो जाता है और वैसेही कायर योद्धोंको पास रखनेवाला संग्रामके समयमें कायर योद्धोंके भग जानेसे आपही नष्ट हो जाता है ॥ १९६ ॥

लुब्धस्यासंविभागित्वान्नयुद्ध्यंतेनुयायिनः ॥
लुब्धानुजीविकैरेष दानभिन्नैर्निहन्यते ॥ १९७ ॥

अर्थ—यथायोग्य विभाग (इनाम इकरार नोकरी आदि) नहीं देनेसे लोभी राजाके नोकर अपने स्वामीके निमित्त शत्रुसे नहीं लडते और लोभी नोकर द्रव्य आदिके लोभसे भेदित होकर शत्रुसे जा मिलते हैं इसीसे लोभी नौकरोंको पास रखनेवाला उन लोभी नोकरोंसेही मारा जाता है ॥ १९७ ॥

संत्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ॥
सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान् ॥१९८॥

अर्थ–जो राजा पुरोहित आदि राजप्रकृतिसे विरक्त (अप्रसन्न) है उसको मंत्री आदि युद्धके समयमें त्याग देते हैं और जो मृगया, पान आदि दुर्व्यसनोंमें अत्यंत आसक्त (फसाहुआ) है वह सुखसे हराने योग्य होता है ॥ १९८ ॥

अनेकचित्तमंत्रस्तु भेद्यो भवति मंत्रिणाम् ॥
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते ॥ १९९ ॥

अर्थ–जिसकी सम्माति एकत्र स्थित नहीं वह मंत्रियोंके द्वारा भेदित होता है (अर्थात् मंत्रियोंके द्वाराही उसका गुप्त भेद प्रकट हो जाता है) चित्तकी वृत्ति एकत्र स्थित नहीं रहनेसे कार्यमें उनकी उपेक्षा की जाती है (अर्थात् निःसंदेह होकर कोईभी कार्य नहीं कर सक्ता कार्य पडनेपर सब टालाटूली करने लगते हैं) ॥ १९९ ॥

सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिंदकः ॥
विशीर्यते स्वयं ह्येष दैवोपहतकस्तथा ॥ २०० ॥

अर्थ–धर्म सदा बलवान् होनेसे देव और ब्राह्मणोंकी निंदा करनेवाला अधर्मके प्रभावसे आपही नष्ट हो जाता है और वैसेही भाग्यहीनभी स्वयं नष्ट हो जाता है ॥ २०० ॥

संपत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ॥
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मानमपि चेष्टते ॥ २०१ ॥

अर्थ–सुख और दुःखका भाग्यही कारण है इस प्रकार भाग्यके भरोसे निर्भय रहनेवाला अपने कर्तव्य पुरुषार्थकी भी चेष्टा नहीं करता इसलिये भाग्यपरायणभी शीघ्रही शत्रुके वशीभूत हो जाता है ॥ २०१ ॥

दुर्भिक्षव्यसनी चैवं स्वयमेव विषीदति ॥
बलव्यसनयुक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते ॥ २०२ ॥

अर्थ—दुर्भिक्षसे पीडित आपही विषाद् पाता है और प्रबल सेना नहीं होनेसे युद्ध करनेकी शक्ति नहीं होती इससे ये दोनों शीघ्रही जीतनेमें आजाते हैं ॥ २०२ ॥

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ॥
ग्राहोल्पीयानपि जले गजेंद्रमपि कर्षति ॥ २०३ ॥

अर्थ—अयोग्य देशमें स्थित रहनेवालेको अल्प शत्रुभी मार लेता है जैसे अगाध जलमें स्थित बडे गजराजको छोटा सा ग्राह (मगर, घडियाल, नाका) भी खींचलेता है ॥ २०३ ॥

बहुशत्रुस्तु संत्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ॥
येनैव गच्छति पथा तेनैवाशु विपद्यते ॥ २०४ ॥

अर्थ--बहुत शत्रुवाला बाजों (सुजों) के बीच घिरा हुआ डरते हुए कबूतरके समान जिस मार्गसे निकलके जाता है उसी मार्गसे शीघ्रही मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २०४ ॥

अकालसैन्ययुक्तस्तु हन्यते कालयोधिना ॥
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥२०५॥

अर्थ--जिसके पास समयके अनुकूल लडनेवाली सेना नहीं हो तो वह समयके अनुकूल लडनेवाली सेनावालेसे मारा जाता है जैसे आधी रातके समय नेत्रोंमें ज्योति नहीं रहनेके कारण कौवा उल्लूसे मारा जाता है ॥ २०५ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन संदध्यान्न कदाचन ॥
स संधितोप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम् ॥२०६॥

अर्थ—जो सत्यधर्म (अपना पारंपर्यधर्म) से विमुख है उससे

कदापि संधि (मेल) न करै क्योंकि वह असज्जन होनेसे संधि करने-वाली शीघ्रही विपरीत हो जाता है ॥ २०६ ॥

इति स्म संधिं खलु संविवितमा बभाषिरे पूर्वतरा महर्षयः ॥ नदेतदूर्ध्वं विजयत्नरेश्वरः समीक्ष्य कार्यं कुरु चेति तद्विभाः ॥ २०७ ॥

अर्थ—निश्चय संधिके सारांशको जाननेवाले सृष्टिके आदिमें उत्पन्न हुए महर्षिजन इस प्रकार संधिको कहते हुए जो इन सब बातोंको विचार करके कार्य करता है वह राजा विजयको प्राप्त होता है॥२०७॥

अथ विग्रहः ।

अब संधिके अनंतर विग्रह (लडाई) कहते हैं ।

विकर्षितः सन्नाधीनो भवेच्छत्रुस्तु येन वै ॥
कर्मणा विग्रहस्तं तु चिंतयेन्मंत्रिभिर्नृपः ॥ २०८ ॥

अर्थ—जिस कामके करनेसे भेदित हुआ शत्रु अपने अधीन हो जाय वह विग्रह कहलाता है उस विग्रहको राजा अपने मंत्रियोंके साथ विचारै ॥ २०८ ॥

अमर्षोपहृतानां परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ॥ २०९ ॥

अर्थ—क्रोधको लिये हुए शोकसे संतप्त चित्तवाले पुरुषोंके मध्यमें अपकार करनेसे विग्रह होता है ॥ २०९ ॥

स्वयं कृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ॥
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥२१०॥

अर्थ—युद्ध करने योग्य समयमें वा विपरीत समयमें अपने कार्यके निमित्त स्वयं किया वा अपने मित्रका किसीने अपकार कर दिया हो वे उसका बदला लेनेके अर्थ कियाजाय इस प्रकार विग्रह (लडाई) दो प्रकारका कहा है ॥ २१० ॥

मित्रामात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः ॥
शत्रूणां विपरीताश्च कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ २११ ॥

अर्थ-जिस समय मित्र, पुरोहित आदि दश प्रकृति और सुहृज्जन ये सब अपनेमें दृढ भक्ति रखनेवाले हो और शत्रुके मित्र आदि सब शत्रुसे बिगडे हुए हो उस समय शत्रुसे संग्राम करै ॥ २११ ॥

आत्मनोभ्युदयाकांक्षी पीडयमानः परेण वा ॥
देशकालबलोपेतः प्रारभेत च विग्रहम् ॥ २१२ ॥

अर्थ-अपने ऐश्वर्य बढानेकी इच्छावाला वा शत्रुसे पीडा दिया हुआ राजा देश काल और सेना आदिके बलसे जब पूर्ण हो तब संग्रामका आरंभ करै अन्यथा नहीं ॥ २१२ ॥

प्रहीनबलमित्रं तु दुर्गस्थं व्यंतरागतम् ॥
अत्यंतविषयासक्तं प्रजाद्रव्यापहारकम् ॥ २१३ ॥
भिन्नमंत्रिबलं राजा पीडयेत् परिवेष्टयन् ॥
विग्रहः स च विज्ञेयो ह्यन्यश्च कलहः स्मृतः ॥ २१४ ॥

अर्थ-जो शत्रु, सेना और मित्रसे हीन हो तथा दुर्ग (किला) में स्थित हो और दो शत्रुओंके बीचमें आया हुआ, विषयोंमें अत्यंत आसक्त (फँसा हुआ) प्रजाके धनको हरनेवाला, अर्थात् निरपराध लूटनेवाला हो मंत्री और सेना जिससे फटी हुई होय ऐसे शत्रुको राजा चारों ओरसे घेरके पीडित (दबाव) करै इसीको विग्रह (युद्ध) कहते हैं इससे अन्यको कलह कहते हैं ॥ २१३ ॥ २१४ ॥

बलीयसात्यल्पबलः शूरेण न च विग्रहम् ॥
कुर्याच्च विग्रहे पुंसां सर्वो नाशः प्रजायते ॥ २१५ ॥

अर्थ-बलवान् और शूर वीरसे अलपबलवाला राजा संग्राम न करै कारण कि बलवान्के संग विग्रह करनेमें पुरुषोंका धन प्राण आदि सब नाश होजाते हैं ॥ २१५ ॥

भूमिर्मित्रं हिरण्यं च विग्रहस्य फलं त्रयम् ॥
यदैतन्नियतं भावि तदा विग्रहमाचरेत् ॥ २१६ ॥

अर्थ—भूमि मित्रता और धनकी प्राप्ति ये तीन फल विग्रह करनेमें प्राप्त होते हैं यदि इन फलोंकी निश्चय प्राप्ति होवे तौ विग्रहका प्रारंभ करै ॥ २१६ ॥

कुरु मित्रं ततो मित्रं तस्माद्भूमिर्गरीयसी ॥
भूमेर्विभूतयः सर्वास्ताभ्यो बंधुसुहृद्गणाः ॥ २१७ ॥

अर्थ—धन सबसे बडा है और धनसे भी मित्रता प्रबल है और मित्रतासेभी भूमि अतिशय बडी है क्योंकि संपूर्ण विभूति (ऐश्वर्य) भूमिमें मिलती है उस विभूतिके प्रभावसे बंधु सज्जन आदि सब प्रीति करते हैं ॥ २१७ ॥

आगतं विग्रहं विद्वानुपायैः प्रथमं नयेत् ॥
विजयस्य ह्यनित्यत्वाद्रभसेन न संपतेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् राजा प्राप्त हुए संग्रामको साम आदि उपायोंसे शान्त करै क्योंकि, सदा विजय नहीं होती विना विचारें एकाएक संग्राम न करै ॥ २१८ ॥

राज्यस्त्रीस्थानदेशानां दानेन च मदेन च ॥
विग्रहस्य तु युक्तिज्ञैरितिप्रशमनं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

अर्थ—राज्य, कन्या, स्थान, देश इनके देनेसे वा मदसे, युक्तिके ज्ञाताओंने इस प्रकार विग्रहको शांत करना कहा है ॥ २१९ ॥

पुष्पैरपि न योद्धव्यं किं पुनर्निशितैः शरैः ॥
जये भवति संदेहः प्रधानपुरुषक्षयः ॥ २२० ॥

अर्थ—बुद्धिमानोंका कहना है कि, नीतिमान् पुष्पोंके प्रहारसे भी लडाई न करै तौ फिर तीखे तीखे शस्त्रोंकी तौ बातही क्या है कारण

कि, जय होनेमें तौ सदा संदेह रहता है और विग्रह करनेमें प्रधान पुरुषोंका नाश होता है इस कारण विना विचारे विग्रह न करै ॥ २२० ॥

समन्वितो राज्यपदोन्निनीषया चारेक्षणैर्वीक्षितमंडलक्रियः ॥ इमं नृपो विग्रहमार्गमास्थितः स्थिरोद्यमः संप्रयतेत सिद्धये ॥ २२१ ॥

अर्थ–अपने राज्यको उन्नति देनेकी इच्छासे भले प्रकार युक्त हुआ राजा चार (गुप्त हलकारे) रूप नेत्रोंसे राजमंडलकी क्रियाको सदा देखता हुआ इस विग्रहमार्गमें भली तरह स्थित होकर स्थिरताके साथ उद्यम करता हुआ अभीष्ट सिद्धिके निमित्त प्रयत्न करै ॥ २२१ ॥

अथ यानम् ।

अब विग्रहके अनंतर शत्रुपर चढाई करनेकी रीति कहते हैं ॥

उत्कृष्टबलवीर्यस्य विजिगीषोर्जयैषिणः ॥
गुणानुरक्तप्रकृतेर्यात्रा यानमिति स्मृतम् ॥ २२२ ॥

अर्थ–राजाके उत्तम गुणोंके प्रभावसे अनुरक्त प्रकृतिवाले उत्तम सेना और पराक्रमसे युक्त अपनी जयकी इच्छा करनेवाले राजाकी शत्रुओंको जीतनेके निमित्त यात्रा (चढाई) करनेकोही यान कहते हैं ॥ २२२ ॥

शत्रुनाशार्थगमनं यानं स्वाभीष्टसिद्धये ॥
सदानुरक्तप्रकृतिर्यायाद्बलसमन्वितः ॥ २२३ ॥

अर्थ–शत्रुओंके नाश करनेको और अपनी इष्ट सिद्धि करनेको गमन करना यान कहाता है अपनी प्रजा आदिसे सदा अनुरक्त हुआ और अपने बलसे संपन्न हो गमन करै ॥ २२३ ॥

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ॥
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ २२४ ॥

अर्थ—अपने आवश्यक कार्य पडने पर अथवा शत्रुके दुर्व्यसन आदिमें आसक्त होने पर एकाएक अपनी इच्छासे अपनी सेनाको सजाके बलवान् राजा इकेलाही शत्रुपै चढाई करै और अपने संपूर्ण मित्रोंको संग लेके शत्रुपै चढाई करै इस प्रकार यान (चढाई) दो प्रकारका कहा है ॥ २२४ ॥

विगृह्य संधाय तथा संभूयाथ प्रसंगतः ॥
उपेक्षा चेति निपुणैर्यानं पंचविधं स्मृतम् ॥ २२५ ॥

अर्थ—१ विगृह्य, २ संधाय, ३ संभूय, ४ प्रसंग, ५ उपेक्षा इस प्रकार नीतिके आचार्योंने यान पांच प्रकारका कहाहै ॥ २२५ ॥

विगृह्य याति हि यदा सर्वाञ्छत्रुगणान्बलात् ॥
विगृह्य यानं यानज्ञास्तदाचार्याः प्रचक्षते ॥ २२६ ॥
अरेर्मित्राणि सर्वाणि स्वमित्रैः सर्वतो बलात् ॥
विगृह्य चाभिगमनं विगृह्य गमनं स्मृतम् ॥ २२७ ॥

अर्थ—संपूर्ण शत्रुओंके गणोंको बलसे संग्राममें दबाके शत्रुपर अपनी सेना ले जानेको यानके जाननेवाले आचार्य विगृह्ययान कहते हैं अथवा अपने शत्रुके संपूर्ण मित्रोंको चारों ओर अपने मित्रोंसे संग्राममें बलपूर्वक दबाके शत्रुपर चढाई करनेको विगृह्ययान कहते हैं ॥ २२६ ॥ २२७ ॥

संधायान्यत्र यात्रायां पार्ष्णिग्राहेण शत्रुणा ॥
संधाय गमनं प्रोक्तं तज्जिगीषोः फलार्थिनः ॥ २२८ ॥

अर्थ—अन्यपर चढाई करनेके समयमें अपने पृष्ठवर्त्ती (सेना अन्यत्र चली जानेपर पीछेसे धावा करनेवाला) शत्रुसे मेल करके जो गमन करना है उसको फल (धन आदि) की अभिलाषासे जीतनेकी इच्छावाले राजाका संधायगमन कहते हैं ॥ २२८ ॥

एको भूपो यदैकत्र सामंतैः सांपरायकैः ॥
शक्तिशौर्ययुतैर्यानं संभूयगमनं हि तत् ॥ २२९ ॥

अर्थ-जब एक राजा शक्ति और शूरतासे युक्त संग्राममें तत्पर ऐसे अपने सारे सामंत राजाओंको एकत्र करके शत्रुपर चढाई करता है उसे संभूयगमन कहते हैं ॥ २२९ ॥

अन्यत्र प्रस्थितः संगादन्यत्रैव च गच्छति ॥
प्रसंगयानं तत्प्रोक्तं यानविद्भिश्च मंत्रिभिः ॥ २३० ॥

अर्थ-यदि अन्यके ऊपर चढाई करके राजा प्रसंगसे अन्यत्रही चला जाय उसे यानके ज्ञाता मंत्रियोंने प्रसंगयान कहा है ॥ २३० ॥

रिपुं यातस्य बलिनः संप्राप्य विकृतं फलम् ॥
उपेक्ष्य तन्मित्रयानमुपेक्षायानमुच्यते ॥ २३१ ॥

अर्थ-यदि बलवान् राजा शत्रुपर चढाई करदे और वहां जानेपर फल विपरीत दीखने लगै तौ उसे छोडके उसके मित्रपर चढाई कर देना उसको उपेक्षायान कहते हैं ॥ २३१ ॥

दुर्वृत्तेप्यकुलीनेतो बलं दातारि रज्यते ॥
हृष्टं कृत्वा स्वीयबलं पारितोष्यप्रदानतः ॥ २३२ ॥

अर्थ-दुराचारी और कुलहीन होनेपरभी उदार राजाके सेना स्वयं बशीभूत हो जाती है इसीसे अपनी सेनाको पारितोष्य (इनाम पारितोषिक आदि) देकर प्रसन्न करके शत्रुपर चढाई करै ॥२३२ ॥

बलाध्यक्षः पुरोयायात् प्रवीरपुरुषान्वितः ॥
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद्बलम् ॥२३३॥

अर्थ-शत्रुपर चढाई करके चलनेके समयमें बडे २ शूरवीर पुरुषोंसे युक्त होके सेनापति सब सेनाके आगे चले और स्त्री, स्वामी, खजाना तथा जो सामान्य सेना है इन सबको सेनाके बीचमें रक्खै ॥ २३३ ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ॥
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां च पदातयः ॥ २३४ ॥

अर्थ-दोनों पार्श्वोंमें घोडे और घोडोंके पार्श्वोंमें रथ और रथोंके पार्श्वोंमें हाथी और हाथियोंके पार्श्वोंमें पयादे चलैं ॥ २३४ ॥

पश्चात् सेनापतिर्यायात् खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ॥
मंत्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ २३५ ॥

अर्थ-मंत्री और श्रेष्ठ योद्धाओंसे युक्त राजा सेनाको संग लेके चलै और सेनामें थके हुए पुरुषोंको विश्वास देता हुआ सेनापति सबके पीछे धीरे धीरे चलै ॥ २३५ ॥

समेयाद्विषमं नागैर्जलाढयं समहीधरम् ॥
सममश्वैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ २३६ ॥

अर्थ-जहां ऊंची नीची भूमि होय, जल बहुत होय, पर्वत भी होय, ऐसे देशमें राजा हाथियोंसे और समभूमिवाले देशमें घोडोंसे तथा जलके बीचवाले द्वीपांतरोंमें नौका (जहाज आदि) से और सबही स्थानोंमें पैदलोंसे यात्रा (चढाई) करै ॥ २३६ ॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ॥
स्वयोधै रक्षितस्यापि शयानं योगनिद्रया ॥ २३७ ॥

अर्थ-पर्वतोंमें और कठिन मार्गोंमें सैनिकोंको राजाकी अवश्य रक्षा करनी चाहिये और अपने योधोंसे रक्षितभी राजा योगनिद्रा (चमकानिद्रा) से शयन करै ॥ २३७ ॥

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृपः ॥
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः ॥ २३८ ॥

अर्थ-नदी, पर्वत, वन, दुर्ग आदिमें जहां जहां भय हो वहां वहां राजा और सेनापति सेनाकी व्यूहरचना करके चलै ॥ २३८ ॥

यायाद्व्यूहेन महता मकरेण पुरोभये ॥
श्येनेनोभयपक्षेण सूच्या वा धीरवक्त्रया ॥ २३९ ॥

अर्थ-जो सेनाके आगे भय प्रतीत होता होवै तौ बडे मकर (मगर) के आकारके व्यूहसे अथवा उभय पक्षवाला श्येनके समान व्यूहसे वा अत्यंत तीक्ष्ण मुखवाली सूची (सूई) के आकारवाले व्यूहसे सेनापति सेनाको ले चलै ॥ २३९ ॥

पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञिकम् ॥
सर्वतः सर्वतोभद्रं चक्रं व्यालमथापि वा ॥ २४० ॥

अर्थ-यदि पीछेसे भय होय तौ शकटके आकारके व्यूहसे और पार्श्व (दोनों तरफ) से भय होय तौ वज्रसंज्ञक व्यूहसे और चारों तरफसे भय होय तौ सर्वतोभद्र संज्ञक व्यूहसे अथवा चक्रव्यूहसे वा सर्पव्यूहसे सेनापति सेनाको लेके गमन करै ॥ २४० ॥

यथादेशं कल्पयेद्वा शत्रुसेनाविभेदकम् ॥
व्यूहरचनसंकेतान् वाद्यभाषासमीरितान् ॥ २४१ ॥

अर्थ-अथवा जिस व्यूहरचनासे शत्रुकी सेना शीघ्रही तोड दीजाय ऐसी व्यूहरचना रणभूमिके अनुसार कल्पना करै वाद्य (बाजे) और भाषा (अपनी अपनी सांकेतिक भाषा) से जाना जाय ऐसा व्यूह रचना (कवायद) के संकेत (इसारे बिगुल आदि) बनावै २४१

स्वसैनिकैर्विना कोपि न जानाति तथाविधान् ॥
नियोजयेच्च मतिमान् व्यूहान्नानाविधान् सदा॥२४२॥

अर्थ-वे व्यूहरचनाके इसारे ऐसे बनावै कि, जिनको अपनी सेनाके मनुष्योंके विना दूसरा कोई भी न जान सकै और बुद्धिमान् राजा सदा नाना प्रकारके व्यूहोंकी रचना करै ॥ २४२ ॥

अश्वानां च गजानां च पदातीनां पृथक् पृथक् ॥
उच्चैः संश्रावयेद्व्यूहं संकेतान्सैनिकान्नृपः ॥ २४३ ॥

वामदक्षिणसंस्थो वा मध्यस्थो वाग्रसंस्थितः ॥
श्रुत्वैतान्सैनिकैः कार्यमनुशिष्टं यथातथा ॥ २४४ ॥

अर्थ–घोडोंकी, हाथियोंकी और पदातियों (प्यादों) की व्यूहरचना (कवायद) के पृथक् पृथक संकेतोंको सेनाके वाम भागमें वा दाहिने भागमें वा मध्यमें वा अग्रभागमें स्थित हुआ राजा सैनिकोंको ऊँचे शब्दसे सुनावै उन संकेतोको सुनकर सैनिकोने भी जैसी राजाने शिक्षा दी वैसे ही यथार्थ रीतिके अनुकूल सैनिक कार्योंको करने चाहिये (अर्थात् सेनापतिकी शिक्षाके अनुकूल कार्य करै) २४३॥ २४४॥

संमीलनं प्रसरणं परिभ्रमणमेव च ॥
आकुंचनं तथा यानं प्रयाणमपयानकम् ॥ २४५ ॥

अर्थ–संमीलनं (बाजे वा वाणीके इसारेको सुनते ही एकत्र मिल जाना) प्रसरणं (फैल जाना) परिभ्रमणं (चारों तरफ भ्रमण करना) आकुंचनं (अंगोंको समेटके चलते चलते सकुड जाना) यानं (धीरे धीरे चल देना) प्रयाणं (अच्छी रीतिसे सम्हलके चलना) अपयानं (उलटा चलना) ॥ २४५ ॥

पर्यायेण च सांमुख्यं समुत्थानं च लुंठनम् ॥
संस्थानं चाष्टदलवच्चक्रवद्गोलतुल्यकम् ॥ २४६ ॥

अर्थ–पर्यायसे सन्मुख चलना वा खडा रहना समुत्थानं (जलदी खडा होना) लुंठनं (लोटना) अष्टदलकमलके आकार बनके समान खडा हो जाना और चक्रके समान गोल होके स्थित रहना ॥ २४६ ॥

सूचीतुल्यं शकटवदर्धचंद्रसमं तु वा ॥
पृथक् भवनमल्पाल्पैः पर्यायैः पंक्तिवेशनम् ॥ २४७ ॥

अर्थ–सूईके समान अथवा शकटके समान अथवा अर्धचंद्रमाके समान होके स्थित होना और थोडे थोडे मिलकर पृथक् पृथक् स्थित रहना और पर्यायसे पंक्ति करके स्थित रहना या पंक्तिपूर्वक चलना ॥ २४७ ॥

शस्त्रास्त्रयोर्धारणं च संधानं लक्ष्यभेदनम् ॥
मोक्षणं च तथास्त्राणां शस्त्राणां परिघातनम् ॥२४८॥

अर्थ—शस्त्र तथा अस्त्रको यथायोग्य धारण करना संधानं धनुष आदिपर बाण आदि लगाना लक्ष्यभेदनं (निशानेका भेदन करना) शस्त्र तलवार आदि अस्त्र बंदूक आदिको भूमिपै रखदेना और शस्त्र अस्त्रको चलाना ॥ २४८ ॥

द्राक् संधानं पुनः पातो ग्रहो मोक्षः पुनः पुनः ॥
स्वगूहनं प्रतीघातः शस्त्रास्त्रपदविक्रमैः ॥ २४९ ॥

अर्थ—शीघ्र संधान करना फिर चलाना बारंबार शस्त्रोंको छोडना और अंगीकार (प्रतिसंहार) करना शस्त्र अस्त्र और पैरोंके उठावसे अपने शरीरको छिपाना और शत्रुको मारना ॥ २४९ ॥

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पंक्तितो गमनं ततः ॥
तथा प्राग्भवनं चापसरणं तूपसर्ज्जनम् ॥ २५० ॥

अर्थ—फिर दो २ तीन २ चार २ की पंक्ति बनके चलना और कभी सेनाके आगे हो जाना कभी पीच्छे कभी पृथक् हो जाना ॥२५०॥

अपसृत्यास्त्रसिद्ध्यर्थमुपसृत्याविमोक्षणे ॥
प्राग्भूत्वा मोचयेदस्त्रं व्यूहस्थः सैनिकः सदा ॥२५१॥

अर्थ—अस्त्रोंकी सिद्धिके निमित्त पीछे हटना और अस्त्रोंको छोडनेके निमित्त आगे जाना व्यूहस्थ सैनिकोंको चाहिये कि सेनाके आगे होकर सदा अस्त्रको चलावै ॥ २५१ ॥

आसीनः स्याद्विमुक्तास्त्रः प्राग्वाचापसरेत् पुनः ॥
प्रागासीनं तूपसृतो दृष्ट्वा स्वास्त्रं विमोचयेत् ॥२५२॥

अर्थ—अस्त्रके छोडने पर खडा रहै अथवा फिर आगे चला जाय और आगे जाके सन्मुख खडा हुआ शत्रुको देखके अपना अस्त्र चलावै ॥ २५२ ॥

एकैकशो द्विशो वापि संघशो बोधितो यथा ॥
क्रौंचानां खे गतिर्यादृक् पंक्तितः संप्रजायते ॥ २५३॥

अर्थ–जैसे क्रौंच पक्षियोंकी आकाशमें पंक्तिपूर्वक गति होती है वैसेही एक २ अथवा दो २ अथवा समूहका समूह जैसे बोधित किया गया हो वैसेही चलै ॥ २५३ ॥

तादृक् संरचयेत् क्रौंचव्यूहं देशबलं यथा ॥
सूक्ष्मग्रीवं मध्यपुच्छं स्थूलपक्षं तु पंक्तितः ॥ २५४ ॥

अर्थ–जैसा देश और बल हो उसके अनुसार वैसाही क्रौंचव्यूहके सेनापति रचै और जिसकी ग्रीवा सूक्ष्म होय पूंछ मध्य और पक्ष मोटे होंय ऐसी पंक्ति बनावै ॥ २५४ ॥

बृहत्पक्षो मध्यगलपुच्छः श्येनो मुखे तनुः ॥
चतुष्पान्मकरो दीर्घस्थूलवक्त्रद्विरोष्ठकः ॥२५५॥

अर्थ–जिसके पक्ष बडे हों, कंठ और पूंछ मध्यम हो मुख छोटा हो उसको श्येनव्यूह कहते हैं और जिसका चौपायेके समान आकार हो लंबा हो मुख स्थूल हो दो ओष्ठ (होठ) होय उसको मकरव्यूह कहते हैं ॥ २५५ ॥

सूची सूक्ष्ममुखो दीर्घसमदंडांतरंध्रयुक् ॥
चक्रव्यूहश्चैकमार्गो ह्यष्टधा कुंडलीकृतः ॥ २५६ ॥

अर्थ–जिसका मुख सूक्ष्म हो समान लंबा हो तथा बीचमें खाली हो उसको सूचीव्यूह कहते हैं और जिसमें एक मार्ग हो और आठ गोलाकार कुंडली हो उसको चक्रव्यूह कहते हैं ॥ २५६ ॥

चतुर्दिक्ष्वष्टपरिधिः सर्वतोभद्रसंज्ञकः ॥
अमार्गश्चाष्टवलयी गोलकः सर्वतोमुखः ॥ २५७ ॥

अर्थ–जिसके चारोंही दिशामें आठ परिधि हों उस व्यूहको सर्वतो-

भद्र कहते हैं और जिसके सब मार्ग आठ २ परिधिवाले हों और गोल हों उस व्यूहको सर्वतोमुख कहते हैं ॥ २५७ ॥

शकटः शकटाकारो व्यालो व्यालाकृतिः सदा ॥
सैन्यमल्पं बृहद्वापि दृष्ट्वा मार्गं रणस्थलम् ॥ २५८ ॥

अर्थ–जिसका आकार शकट (गाडी) के समान हो उसको शकटव्यूह कहते हैं और जिसकी सर्पके समान रचना हो उसको व्यालव्यूह कहते हैं और सेनाकी अल्पता अधिकता मार्ग तथा रणभूमिको देखकर व्यूहोंकी रचना करै ॥ २५८ ॥

व्यूहैर्व्यूहेन व्यूहाभ्यां संकरेणापि कल्पयेत् ॥
यंत्रास्त्रैः शत्रुसेनाया भेदो येभ्यः प्रजायते ॥ २५९ ॥

अर्थ–बुद्धिमान् सेनापति नाना प्रकारके पृथक् २ व्यूहोंसे अथवा एकही व्यूहसे अथवा दो व्यूहोंसे अथवा सब प्रकारके मिले हुए व्यूहसे सेनाकी व्यूहरचना करै वे व्यूह ऐसे होने चाहिये कि जिनोंमें स्थित हुए सैनिकोंके चलाये हुए यंत्रके अस्त्रोंसे शत्रुकी सेना शीघ्रही भेदन हो जाय ॥ २५९ ॥

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ॥
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥ २६० ॥

अर्थ–जब अपनी सेनाको अपनेमें प्रीतिसे हृष्ट पुष्ट मानै और शत्रुकी सेना शत्रुसे विपरीत हो तब बुद्धिमान् राजा शत्रुपै चढाई करै ॥ २६० ॥

स्त्रियोथ पानं मृगया तथाक्षा दैवोपघातश्च बहुप्रकारः ॥
इति प्रदिष्टं व्यसनं ह्यनेन समन्वितो यो व्यसनी स गम्यः ॥ २६१ ॥

अर्थ–स्त्रियोंमें आसक्ति मदिरापान शिकार खेलना जूआ खेलना और नाना प्रकारके दैविक उपद्रवोंको नीतिके ज्ञाता व्यसन कहते हैं

जो मनुष्य उक्त व्यसनोंका सेवन करता है वह व्यसनी कहलाता है और वह व्यसनी शत्रुही चढाई करने योग्य होता है अर्थात् व्यसनासक्त शत्रुपर सेना चढाके अपने वशीभूत करलेना चाहिये ॥ २६१ ॥

अथासनम् ।

यानके अनन्तर आसन कहते हैं ।

स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत् स्थानं तदासनम् ॥
स्वशक्तिप्रतिबंधादौ नृपैः कार्यं हिताय वै ॥ २६२ ॥

अर्थ—जहां स्थिति करनेसे अपनी रक्षा और शत्रुका नाश हो ऐसा स्थानमें स्थित हो रहनेका नाम आसन है (अर्थात् शत्रु प्रबल हो जावे तौ दाब लगाके चुपचाप बैठ रहै) अपनी शक्तिके प्रतिबंध आदि समयमें राजाओंको अपने हितके निमित्त आसनकी आवश्यकता होती है ॥ २६२ ॥

क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात् पूर्वकृतेन वा ॥
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ २६३ ॥

अर्थ—प्रारब्धके संयोगसे इस जन्मके अथवा पूर्वजन्मोंके किये हुए पापसे सेना, कोश आदिसे क्षीण होजानेके कारण चुपचाप बैठ रहना और अपने मित्रके अनुरोधसे चुपचाप बैठ रहना इस प्रकार आसन दो प्रकारका कहा है ॥ २६३ ॥

परस्परस्य सामर्थ्याविघातादासनं स्मृतम् ॥
अरेश्च विजिगीषोश्च तत् पंचविधमुच्यते ॥ २६४ ॥

अर्थ—शत्रु और शत्रुको जीतनेकी इच्छावाला राजा इन दोनोंमें परस्पर समर्थताका विघात न होनेसे परस्परमें दबानेके समयकी अपेक्षा कर बैठे रहनेको आसन कहते हैं वह आसन कोई आचार्योंके मतसे पांच प्रकारका कहा है ॥ २६४ ॥

अन्योन्याक्रांतिकरणं विगृह्यासनमुच्यते ॥
अरिं विगृह्यावस्थानं विगृह्यासनमेव तत् ॥ २६५ ॥

अर्थ–परस्पर युद्ध करनेकी इच्छासे आह्वान करते रहनेका नाम विगृह्यासन है और शत्रुको चारों ओरसे दबाके बैठे रहना इसको भी विगृह्य आसन कहते हैं ॥ २६५ ॥

यदा दुर्गस्थितः शत्रुर्ग्रहीतुं नैव शक्यते ॥
विगृह्यैनं तदासीत छित्वास्यासारवीवधान् ॥ २६६ ॥

अर्थ–यदि शत्रु श्रेष्ठ किलोंमें स्थित (बैठ) रहनेसे ग्रहण करनेमें न आसके तौ इसको चारों ओरसे दबाके और इसकी सेनाके आने जानेके मार्गोंको रोकके अथवा सेनाकी युद्ध सामग्रीको छीनके बैठ रहना ॥ २६६ ॥

विच्छिन्नविविधासारं प्रक्षीणयवसेंधनम् ॥
विगृह्यमाणः प्रकृतिं कालेनैव वशं नयेत् ॥ २६७ ॥

अर्थ–युद्धकी सामग्रीसे रहित हुए तथा घास तृण ईंधनके नष्ट होनेसे कातर विपरीत बुद्धिवाले या विरुद्ध प्रकृति (मंत्रि आदि) शत्रुको ऐसे समयमें वशीभूत करै ॥ २६७ ॥

अरेश्च विजिगीषोश्च विग्रहे हीयमानयोः ॥
संधाय यदवस्थानं संधेयासनमुच्यते ॥ २६८ ॥

अर्थ–संग्राममें नष्ट होते हुए शत्रु और जीतनेकी इच्छावाले राजा ये दोनों ही मिलकर बैठ रहैं उसको संधेयासन कहते हैं ॥ २६८ ॥

निवातकवचैः सार्द्धं रावणः शत्रुरावणः ॥
ब्रह्माणमंतरा कृत्वा संधेयासनमास्थितः ॥ २६९ ॥

अर्थ–शत्रुवोंको रुवानेवाला रावण निवातकवच (दानव विशेष) के सहित संग्राममें नष्ट होता हुआ ब्रह्माको बीचमें करके संधेयासनको करता हुआ ॥ २६७ ॥

उदासीने मध्यमे च समानप्रतिशंकया ॥
एकीभूय समुत्थानं संभूयासनमुच्यते ॥ २७० ॥

अर्थ—उदासीन और मध्यम दोनोंमें शत्रुके समान शंका होनेसे जबतक अपनी मित्रमंडली एकत्र न होवे तबतक बैठ रहना और एकत्र होके चढाई करना इसका नाम संभूयासन कहते हैं ॥ २७० ॥

इयासोरन्यमन्यत्र प्रसंगेनेह केनचित् ॥
आसनं यत्तदर्थज्ञैः प्रसंगासनमुच्यते ॥ २७१ ॥

अर्थ—अन्यके प्रति चढाई करके जानेकी इच्छावाले राजाका किसी कारणसे यदि अन्यत्र ठहरना हो जाय तौ आसन गुणके ज्ञाता विद्वान् उस आसनको प्रसंगासन कहते हैं ॥ २७१ ॥

आस्ते प्रेक्ष्यारिमधिकमुपेक्षासनमुच्यते ॥
इत्येवमासनविदो ह्यासनं पंचधा जगुः ॥ २७२ ॥

अर्थ—शत्रुकी प्रबलताको देखके चुपचाप बैठ रहना उसको उपेक्षासन कहते हैं इस प्रकार आसन गुणके ज्ञाता आसनको पांच प्रकारका कहते हैं ॥ २७२ ॥

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ॥
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः शांतयन्नरीन् ॥ २७३ ॥

अर्थ—यदि राजा वाहन और बल आदिसे क्षीण हो जाय तौ बहुत यत्नसे शनैः २ शत्रुओंको शान्त करता हुआ चुपचाप बैठ रहै २७३॥

स मूर्खः कालमप्राप्य योपकर्तरि वर्त्तते ॥
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्यमो यथा ॥ २७४ ॥

अर्थ—जो अपने प्रबल समयके विना शत्रुपर चढाई करता है वह मूर्ख है क्योंकि बलवान्के साथ युद्ध करना दीपकके साथ पतंगके उद्यमके समान है अर्थात् दीपक बुझानेके प्रयत्नमें पतंगकी प्राणहानि होती है ॥ २७४ ॥

आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाबलम् ॥
अंतरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ २७५ ॥

अर्थ–अपने और शत्रुओंके बलाबलको देखकर जो अंतर (विशेषता) को नहीं जानता वह शत्रुओंसे तिरस्कार पाताहै ॥ २७५ ॥

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ॥
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत् ॥ २७६ ॥

अर्थ–बलवान्के संग युद्ध करना ऐसा नीतिका उपदेश नहीं है क्योंकि हाथीके संग बाहुयुद्ध करना मनुष्योंके लिये मृत्युकारक है ॥ २७६ ॥

महत्यल्पेप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ॥
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः ॥ २७७ ॥

अर्थ–उपायका ज्ञाता बडे और छोटेपर बराबर समर्थ होता है जैसे नदीका वेग तृणोंके समान वृक्षोंके उपाडनेमेंभी समर्थ होता है २७७॥

अथ आश्रयः ।

अथ आश्रय कहते हैं ।

यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद्दुर्बलोऽपि समाश्रयः ॥
बलिना पीडितो विद्वानाश्रयेद्बलवत्तरम् ॥ २७८ ॥

अर्थ–जिन्होंसे रक्षा किया हुआ दुर्बलभी बलवान् हो जाय उसको आश्रय कहते हैं बलवान्से पीडित हुआ बुद्धिमान् अत्यंत बलवान्के आश्रित होवै ॥ २७८ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानश्च शत्रुभिः ॥
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥२७९॥

अर्थ–शत्रुओंसे पीडित राजाके शत्रुकृत पीडा दूर करना रूप अर्थकी सिद्धिके निमित्त अथवा वर्तमान समयमें शत्रुजन्य पीडा न होने

परभी आगामी समयमें शत्रुकृत पीडा निवृत्तिके अर्थ यह राजा उस बली राजाका आश्रित है श्रेष्ठ मनुष्योंमें ऐसा व्यपदेशके अर्थ दो प्रकारका आश्रय कहा है ॥ २७९ ॥

उच्छिद्यमानो बलिभिर्निरुपायः प्रतिक्रियः ॥
कुलोद्भवं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम् ॥ २८० ॥

अर्थ-जो बलवान् शत्रुओंसे पीडित राजा उपाय और प्रतीकार करनेमें समर्थ न होवे तो श्रेष्ठकुलोत्पन्न सत्यवादी और सज्जन तथा प्रबल प्रतापी राजाका आश्रय लेवै ॥ २८० ॥

विजिगीषोस्तु साह्यार्थाः सुहृत्संबंधिबांधवाः ॥
प्रदत्तभृतिका ह्यन्ये भूपा अंशप्रकल्पिताः ॥२८१॥

अर्थ-उस आश्रयके प्रभावसे जीतनेकी इच्छा करनेवाले बलवान् राजाके सुहृत्संबंधी और बांधव और भृति (तनखाह) पानेवाले और राजासे कुछ भाग देके पृथक् कल्पना किये हुए (अर्थात् जागीदार) ऐसे अन्य राजाभी समय पडनेपर सहाय करनेवाले होते हैं ॥ २८१ ॥

स वाश्रयस्तु कथितो दुर्गाणि च महात्मभिः ॥
धार्मिकं बलिनं भूपं दुर्गं वा गुणवत्तरम् ॥ २८२ ॥

अर्थ-बुद्धिमानोंने इस प्रकार सहायता मिलनेको और श्रेष्ठ किलोंका आश्रय लेनेकोही आश्रय कहा है इसीसे धर्मात्मा और बलवान् राजाका अथवा श्रेष्ठ दुर्गका आश्रय अंगीकार करै ॥ २८२ ॥

यदा परबलानां च गमनीयतमो भवेत् ॥
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥२८३॥

अर्थ-जब शत्रुओंकी सेनासे किसी प्रकार बंचनेकी आशा नहीं होवै तब धार्मिक और बलवान् राजाका शीघ्रही आश्रय लेवै ॥२८३॥

निग्रहं प्रकृतीनां चकुर्याद्योरिबलस्य च ॥
उपसेवेत तं नित्यं सर्वैर्यत्नैर्गुरुं यथा ॥ २८४ ॥

अर्थ–जिस प्रकृतिके भेदन होनेसे विग्रह हुआ हो उस प्रकृतिको और जिन शत्रुओंकी सेनासे भय उत्पन्न हुआ हो उन दोनोंको जो राजा दंड देसके ऐसे राजाका आश्रय लेवै और उसका सर्व यत्नसे नित्यप्रति गुरुके समान सेवन करै ॥ २८४ ॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ॥
सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशंकः समाचरेत् ॥ २८५ ॥

अर्थ–यदि दैवसंयोगसे वहां भी आश्रयकारी दोषको देखै तं वहां निःसंदेह होके युद्ध करनेकी श्रेष्ठरीतिके साथ युद्ध करै क्योंवि स्वधर्ममें प्रवृत्त रहनेसे निर्बलभी बलवानोंको जीत लेते हैं ॥ २८५ ।

अथ द्वैधीभावः ।

इसके अनंतर द्वैधीभावको कहते हैं ।

द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः ॥
द्विषतोर्बलिनोर्मध्ये वर्त्तनं वायसाक्षिवत् ॥ २८६ ॥

अर्थ–अपनी सेनाको स्थान स्थानपर पृथक् २ स्थापन कर और द्वेष करते हुए दो बलवान् शत्रुओंके मध्यमें काकके नेत्र समान अलक्षित होके वर्तना इसको द्वैधीभाव कहते हैं ॥ २८६ ॥

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ॥
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥ २८७

अर्थ–अपने कार्यकी सिद्धिके अर्थ सेनापतिसहित सेनाको श ओंको दमन करनेके निमित्त एक स्थानमें रक्खै और मंत्री अ सहित कुछ सेनाको लेके राजा अन्यत्र किलेमें स्थित रहै प्रकार षट्गुणोंके जाननेवाले विद्वानोंने द्वैधीभावको दो प्रकार कहा है ॥ २९७ ॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ॥
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत् कार्यमात्मनः ॥२८८॥

अर्थ—यदि राजा अपने शत्रुको सेना आदिके प्रभावसे सर्वथा बलवान् जान लेवे तब अपने कार्यकी सिद्धिके निमित्त अपनी सेनाके दो विभाग करके शत्रुका दमनरूप कार्य सिद्ध करै ॥ २८८ ॥

अनिश्चितोपायकार्यसमयानुचरो नृपः ॥
द्वैधीभावेन वर्त्तेत काकाक्षिवदलक्षितः ॥ २८९ ॥

अर्थ—जब राजाको समयके अनुसार आचरण करनेपरभी अपने कार्यकी सिद्धिके निमित्त कोईभी उपाय प्रतीत नहीं होवै तब सबके अलक्षित होके दो बलवान् शत्रुओंके मध्य ऐसा संयुक्त होके वर्त्तै कि जैसे काक (कौआ) के नेत्र दोनों तरफ वर्तता हुआ किसीको प्रतीत नहीं होता ॥ २८९ ॥

प्रदर्शयेदन्यकार्यमन्यमालंबयेच्च वा ॥
सदुपायैश्च सन्मंत्रैः कार्यसिद्धिरथोद्यमैः ॥ २९० ॥

अर्थ—अन्य काम करनेको प्रकट दिखलावै और अन्यही कामको आलंबन (आरंभ) करै अच्छे उपाय अच्छी संमति और अच्छे उद्यमोंसे कार्य अवश्य सिद्ध होही जाता है ॥ २९० ॥

भवेदल्पजनस्यापि किं पुनर्नृपतेर्नहि ॥
अयोभेद्यमुपायेन द्रवतामुपनीयते ॥ २९१ ॥

अर्थ—अच्छे उपाय आदिसे तुच्छ मनुष्यकाभी कार्य सिद्ध हो जाता है तौ क्या अच्छे उपाय आदिसे राजाका कार्य सिद्ध नहीं होगा (अर्थात् अवश्य होताहै) क्योंकि भेद न करनेमें नहीं आता ऐसा लोहभी उपायसे जलके समान बहने लगजाता है ॥ २९१ ॥

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ॥
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ २९२ ॥

अर्थ–नीतिपरायण राजा साम आदि सब उपायोंसे ऐसा प्रयत्न करै कि, जिससे मित्र, उदासीन और शत्रु ये अत्यंत अधिक न होजायँ क्योंकि बढा हुआ मित्रभी दैववश धनके लोभसे शत्रु हो जाता है ॥ २९२ ॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ॥
आयतीनां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ २९३ ॥

अर्थ–संपूर्ण आरभ किये और अनारंभ किये कार्योंका आगामी फलको विचारै तथा वर्तमानको भी विचारै और आगामी सम्पूर्ण कामोंके गुण तथा दोषोंको यत्नसे विचारै कि इसके करनेमें क्या दोष और क्या गुण होगा ॥ २९३ ॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ॥
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ २९४ ॥

अर्थ–आनेवाले समयमें करने योग्य कार्योंके गुण तथा दोषोंको जाननेवाला तथा वर्त्तमान समयमें आरंभित कामोंकी सिद्धिका शीघ्र निश्चय करनेवाला और व्यतीत समयमें किये हुए अच्छे बुरे कामोंके अच्छे बुरे फलको जाननेवाला राजा कदापि शत्रुओंसे परास्त नहीं होता (अर्थात् जो राजा आगामी काल और वर्त्तमान कालके हानि लाभको सोच समझके और बीते हुए समयमें किये हुए कार्योंकी हानि लाभको विचारके कार्य करता है वह शत्रुसे कदापि नहीं हारता) ॥ २९४ ॥

अथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥ २९५ ॥

अर्थ–जैसे मित्र, शत्रु और उदासीन ये सब इसको अधिक नहीं दबा सकै उस प्रकार सब कार्योंका आरंभ करै इसीको नीतिके ज्ञाता संक्षेपसे न्याय कहते हैं ॥ २९५ ॥

उपायेन पदं मूर्ध्नि न्यस्यते मत्तदंतिनः ॥
उपायेषूत्तमो भेदः षड्गुणेषु समाश्रयः ॥ २९६ ॥

अर्थ–उपायसे ही मनुष्य मदोन्मत्त हाथीके मस्तकपर पैर रखता है और साम आदि उपायोंमें सबसे उत्तम उपाय भेद है और संधि आदि छः गुणोंमें सबसे उत्तम गुण आश्रय है ॥ २९६ ॥

कार्यौ द्वौ सर्वदा तौ तु नृपेण विजिगीषुणा ॥
ताभ्यां विना नैव कुर्याद्युद्धं राजा कदाचन ॥ २९७॥

अर्थ–विजयकी इच्छावाला राजा भेद और आश्रयको सदा अंगीकार करै बुद्धिमान् राजा इन दोनोंके विना केवल युद्धको कदापि न करै ॥ २९७ ॥

परस्परं प्रातिकूल्यं रिपुसैन्यस्य मंत्रिणाम् ॥
भवेद्यथातथाकुर्यात्तत्प्रजायाश्च तत्स्त्रियः ॥ २९८ ॥

अर्थ–जिस प्रकार शत्रुकी सेना और मंत्रियोंके परस्पर विरोध हो जाय और शत्रुकी प्रजा तथा स्त्रियोंभी शत्रुसे प्रतिकूल (विपरीत) हो जाय ऐसा आचरण करै ॥ २९८ ॥

उपायान् षड्गुणान् वीक्ष्य शत्रोः स्वस्यापि सर्वदा ॥
युद्धं प्राणात्यये कुर्यात् सर्वस्वहरणे सति ॥ २९९ ॥

अर्थ–शत्रुके और अपने साम आदि उपायोंको और संधि आदि छः गुणोंको सर्वदा देखकै और सर्वस्वके हरने पर तथा प्राणोंके नाश आने पर युद्धका आरंभ करै ॥ २९९ ॥

उत्तमं मांत्रिकास्त्रेण नालिकास्त्रेण मध्यमम् ॥
शस्त्रैः कनिष्ठं युद्धं तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् ॥३००॥

अर्थ–मंत्रकी शक्तिसे चलाये हुए अस्त्रोंसे किया हुआ युद्ध उत्तम और तोप बंदूक आदिसे किया हुआ युद्ध मध्यम और तलवार आदि

शस्त्रोंसे किया हुआ युद्ध कनिष्ठ (हीन) और बाहुयुद्ध तौ शस्त्र-युद्धसे भी हीन कहा है ॥ ३०० ॥

मंत्रेरितमहाशक्तिबाणाद्यैः शत्रुनाशनम् ॥
मांत्रिकास्त्रेण तद्युद्धं सर्वयुद्धोत्तमं मतम् ॥ ३०१ ॥

अर्थ—मन्त्रके प्रभावसे फेंकी हुई महाशक्ति (बरछी) और बाण आदि अस्त्रोंसे जो शत्रुका नाश किया जाता है वह युद्ध मांत्रिक अस्त्रके प्रभावसे सर्व युद्धोंमें उत्तम माना जाता है ॥ ३०१ ॥

नालाग्निचूर्णसंयोगाल्लक्ष्ये गोलनिपातनम् ॥
नालिकास्त्रेण तद्युद्धं महाहासकरं रिपोः ॥ ३०२ ॥

अर्थ—नाल (तोप आदि) में अग्निचूर्ण (बारूद) भरके अग्नि-चूर्ण और नालके संयोगसे निशानेपर गोला लगाना वह नालास्त्रसे किया हुआ युद्ध शत्रुकी सेनाका महान् हानिकारक होता है ॥ ३०२ ॥

कुंतादिशस्त्रसंघातै रिपूणां नाशनं च यत् ॥
शस्त्रयुद्धं तु तज्ज्ञेयं नालास्त्राभावतः सदा ॥ ३०३ ॥

अर्थ—कुंत (बरछी) आदि शस्त्रोंके समूहसे जो शत्रुओंका नाश किया जाता है उसको शस्त्रयुद्ध जानना चाहिये वह शस्त्रयुद्ध सदा नालास्त्रके अभावमें होता है ॥ ३०३ ॥

कर्षणैः संधिमर्माणां प्रतिलोमानुलोमतः ॥
बन्धनैर्घातनं शत्रोर्युक्त्या तद्बाहुयुद्धकम् ॥ ३०४ ॥

अर्थ—उलट पलट करके शत्रुकी संधि और मर्मस्थानोंके खींचनेसे अथवा युक्तिपूर्वक बांधनेसे जो वध किया जाता है वह बाहुयुद्ध कहलाता है ॥ ३०४ ॥

पाययित्वा मदं सम्यक् सैनिकाञ्शौर्यवर्धनम् ॥
नालास्त्रेण च खड्गाद्यैः सैनिकैर्दारयेदरीन् ॥ ३०५ ॥

अर्थ—अपने सैनिकोंको शूरवीरताकी बढानेवाली वीर मदिराको पिलाकर तोप बंदूक आदि अस्त्रोंसे और तलवार आदि शस्त्रोंसे वीरोंके द्वारा शत्रुओंका विध्वंस करावै ॥ ३०५ ॥

उपायान् षड्गुणान्मंत्रं शत्रोः स्वस्यापि चिंतयन् ॥
धर्मयुद्धैः कूटयुद्धैर्हन्यादेव रिपुं सदा ॥ ३०६ ॥

अर्थ—शत्रुके और अपने साम आदि उपायोंको तथा संधि आदि छः गुणोको तथा पांच अंगोंसे युक्त संमतिका विचार करता हुआ राजा मनु आदिके दिखलाये हुए धर्मयुद्धसे और शुक्र आदिके दिखलाये हुए कूटयुद्धोंसे सदा शत्रुको मारै ॥ ३०६ ॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ॥
साधितुं प्रयतेतारिं न युद्धेन कदाचन ॥ ३०७ ॥

अर्थ—साम, दान, भेद इन समस्त उपायोंसे अथवा साम, दान, भेद इन पृथक् २ उपायोंसे शत्रुको अपने वशमें करनेका प्रयत्न करै, केवल युद्धसे शत्रुको जीतनेका उपाय कदापि न करै ॥३०७॥

संधिविग्रहयानानि चासनं संश्रयः क्रमात् ॥
द्वैधीभावश्चेह राज्ञां षड्गुणाः परिकीर्तिताः ॥३०८॥

अर्थ—१ संधि, २ बिग्रह, ३ यान, ४ आसन, ५ संश्रय, ६ द्वैधीभाव ये छः गुण इस ग्रंथमें राजाओंके निमित्त क्रमसे कहे हैं ॥३०८॥

अथ मित्रशत्रूदासीनानां मध्ये तावन्मित्रलक्षणम् ।

अर्थ—मित्र, शत्रु और उदासीन इनोंके मध्यमें प्रथम मित्रके लक्षण कहते हैं ॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यं निगूहति
गुणान् प्रकटीकरोति ॥ आपद्गतं च न जहाति
ददाति काले सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदंति संतः ॥३०९॥

अर्थ–जो दुष्ट कर्मोंसे निवारण करै, श्रेष्ठ कर्मोंमें लगावै, अकथनीय वार्ता (अवगुणों) को छिपावै, और गुणोंको सदा प्रकट करै, विपत्तिके समयमें सहायता करै, समयके अनुसार धन आदि दे इन लक्षणोंको बुद्धिमान् श्रेष्ठ प्रीतिके लक्षण कहते हैं ॥ ३०९ ॥

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति ॥
भुंक्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ॥ ३१० ॥

अर्थ–दे और ले गुप्त बात कहै और पूछै भोजन करै और करावै इस प्रकार ये छः बातें जहां परस्परमें होती हैं उसको प्रीति कहते हैं ॥ ३१० ॥

मित्रः शत्रुः चतुर्धा स्यादुपकारापकारयोः ॥
कर्त्ता कारयिता चानुमंता यश्च सहायकः ॥ ३११ ॥

अर्थ–उपकार और अपकार करनेके विषयमें मित्र और शत्रु चार चार प्रकारके कहे हैं, जैसे उपकार करनेवाला और उपकार करानेवाला और उपकार करनेमें संमति देनेवाला और उपकार करनेमें सहायता देनेवाला ये चारोंही मित्र कहलाते हैं और अपकार (हानि) करनेवाला, अपकार करानेवाला, अपकार करनेमें संमति देनेवाला, और अपकार करनेमें सहायता देनेवाला, ये चारोंही शत्रु कहलाते हैं ॥ ३११ ॥

यस्य सुद्रवते चित्तं परदुःखेषु सर्वदा ॥
इष्टार्थे यततेऽन्यस्य प्रेरितः सत्करोति यः ॥ ३१२ ॥

अर्थ–पराये दुःखको देखके जिसका चित्त सदा द्रवीभूत (बहुतही कोमल दयावान्) होजाय और प्रेरणा करनेके विनाही अन्यके वांछित कार्यकी प्राप्तिमें यत्न करै और जो सबका सत्कार करै ३१२ ॥

आत्मस्त्रीधनगुह्यानां शरणं समये सुहृत् ॥
प्रोक्तोत्तमोयमन्यश्च द्वित्रैकपदमित्रकः ॥ ३१३ ॥

अर्थ-समय पडनेपर अपनेको तथा अपनी स्त्री धन और गुह्य पदार्थ आदिको जो शरण देनेवाला हो ऐसे मित्रको उत्तम मित्र कहा है और इससे विपरीत अन्य तो एक दो तीन पगके पर्यंत ही मित्र होते हैं (अर्थात् पीठ फेरके तीन पैर देतेही मित्र नहीं रहते) ३१३॥

औरसं कृतसंबंधं तथा वंशक्रमागतम् ॥
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ-औरस (पुत्र आदि) कृतसंबंध (जमाई श्याला मामा आदि संबंधी) वंशक्रमागत (वंशकी पीढी २ क्रमसे चला आता हो) आपत्तिसे बचानेवाले, ये चार प्रकारके मित्र कहे हैं ॥ ३१४ ॥

सखा गरीयाञ्शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः ॥
स्यातामामित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३१५ ॥

अर्थ-सहज प्राकृत और कृत्रिम इन तीन प्रकारके मित्र और शत्रुओंके मध्यमें कृत्रिम मित्र और कृत्रिम शत्रु बलवान् होता है (अर्थात् कृत्रिम मित्र अत्यंत मित्र और कृत्रिम शत्रु अत्यंत शत्रु होता है) सहज और प्राकृत मित्र तो कार्यके वशसे शत्रु और दोनों प्रकारके शत्रुभी कार्यके अनुकूल मित्र होजाते हैं ॥ ३१५ ॥

न राज्ञो विद्यते मित्रं राजा मित्रं न कस्य वै ।
प्रायः कृत्रिममित्रे ते भवतश्च परस्परम् ॥ ३१६ ॥

अर्थ-राजाके कोई भी मित्र नहीं होता और राजा भी किसीका मित्र नहीं होता राजा और लोक परस्परमें कृत्रिम (मतलबी) मित्र होते हैं ॥ ३१६ ॥

केचित् स्वभावतो मित्राः शत्रवः संति सर्वदा ॥
भवंति सामदानाभ्यां शत्रवश्चाप्यवैरिणः ॥ ३१७ ॥

अर्थ-कितनेक स्वाभाविक मित्रभी सदा शत्रु होते हैं और साम दान दोनोंके प्रभावसे सहज शत्रु आदि भी सदा मित्र हो जाते हैं ॥ ३१७॥

मातामातृकुलं चैव पिता तत्पितरौ तथा ॥
पितृपितृव्यात्मकन्या पत्नी तत्कुलमेव च ॥ ३१८ ॥

अर्थ—माता और माताके कुटुंबी (नाना आदि) पिता और पिताके मातापिता (दादा दादी) पिताके काका और अपनी कन्या और पत्नी तथा पत्नीका कुटुंब (साला आदि) ॥३१८॥

पितृमात्रात्मभगिनी कन्यकासंततिश्च या ॥
प्रजापालो गुरुश्चैव मित्राणि सहजानि वै ॥ ३१९ ॥

अर्थ—पिता माताकी और अपनी भगिनी (बहन) (अर्थात् बुवा, मौसी और बहन) कन्याकी संतान (दौहित्र आदि) और प्रजाकी पालना करनेवाला और गुरु ये सब स्वाभाविक मित्र होते हैं ॥ ३१९ ॥

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पंचमम् ॥
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्त्तयंति हितैर्बुधाः ॥ ३२० ॥

अर्थ—१ विद्या २ शूरवीरता ३ चतुराई ४ बल और पांचवीं धीरजता ये पांचोंही स्वाभाविक मित्र कहे हैं क्यों कि, बुद्धिमान् मनुष्य इनसे ही वर्तते हैं ॥ ३२० ॥

एकशीलवयोविद्याजातिव्यसनवृत्तितः ॥
साहचर्याद्भवेन्मित्रमेभिर्यदि तु सार्जवैः ॥ ३२१ ॥

अर्थ—एक स्वभाव, एक अवस्था, एक जाति, एक व्यसन, एक जीविका, एकत्र वास, यदि ये सब नम्रतापूर्वक होवें तो इनोंसे परस्परमें मित्रता होही जाती है ॥ ३२१ ॥

दूरादवेक्षणं हासः संप्रश्नेष्वादरो भृशम् ॥
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ३२२ ॥
आर्त्तिरार्त्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ॥
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ३२३ ॥

अर्थ-आते हुएको दूरसे देखना, मिलनेपर हँसना, वार्त्ता करनेमें बहुत आदरपूर्वक पूंछना, पीछे भी गुणोंकी प्रशंसा करना, अपने प्रिय पदार्थोंके भोगोंमें याद करना, दुःखमें दुःख, प्रियमें प्रीति मानना इसीको मित्रताके लक्षण कहते हैं और इन लक्षणोंसे विपरीत लक्षणोंको शत्रुताके लक्षण कहते हैं ॥ ३२२ ॥ ३२३ ॥

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ॥
अनुरक्तं स्थिरारंभं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ ३२४ ॥

अर्थ-धर्मके ज्ञाता, परकृत उपकारको सदा स्मरण रखनेवाला, सदा प्रसन्न रहनेवाला, अत्यंत प्रीति रखनेवाला, विचारपूर्वक कार्यका आरंभ करनेवाला ऐसे मित्रको श्रेष्ठ मित्र कहते हैं ॥ ३२४ ॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ॥
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ ३२५ ॥

अर्थ-हिरण्य (सुवर्ण आदि) और भूमिकी भले प्रकार प्राप्ति होनेसे भी राजा वैसा नहीं बढता जैसा कि ध्रुव (दृढ) मित्रको प्राप्त होकर वृद्धिको प्राप्त होता है चाहे निर्बल भी हो तथापि मित्रकी प्राप्तिसे समर्थ हो जाता है ॥ ३२५ ॥

भृत्यो भ्राता पिता पुत्रः पत्नी कुर्याच्च नैव यत् ॥
विधास्यंति च मित्राणि तत्कार्यमविशंकितम् ॥ ३२६ ॥

अर्थ-सेवक भाई पिता पुत्र और स्त्री ये जिस कार्यको नहीं करसकैं उस कार्यको मित्रलोग निःशंक होके करही लेते हैं ॥ ३२६ ॥

यतो यतेत तत्प्राप्त्यै मित्रलब्धिर्वरानृणाम् ॥
सद्भिः सार्द्धं कृता मैत्री वर्द्धतेऽहर्निशं सदा ॥ ३२७ ॥

अर्थ-इस कारण श्रेष्ठ मित्रसे मित्रता प्राप्ति करनेका यत्न करै मनुष्योंके निमित्त श्रेष्ठ मित्रकी मित्रता प्राप्ति होनाही श्रेष्ठ कहा है क्योंकि सज्जन पुरुषोंके संग की हुई मित्रता दिन रात सदा बढतीही रहती है ॥ ३२७ ॥

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रंभभाजनम् ॥
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ ३२८ ॥

अर्थ–शोक, शत्रु और भय इनसे रक्षा करनेवाले प्रेम और विश्वासके पात्र, मित्र ये दो अक्षर ब्रह्माने अपनी सृष्टिमें रत्न रूपही निर्माण किये हैं (अर्थात् शोक शत्रु दुःखको दूर करके प्रेम और विश्वास देनेमें (मित्र) ये दो अक्षर रत्नरूप हैं) ॥ ३२८ ॥

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानंदनं चेतसः पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम् ॥ ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुलास्ते सर्वत्र मिलंति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत् ॥ ३२९ ॥

अर्थ–प्रीतिका रसायन, नेत्र और चित्तको आनंदका देनेवाला, अपने मित्रके साथ दुःख और सुखको भोगनेवाला, ऐसा मित्र मिलना अत्यंतही दुर्लभ है और जो दूसरे समृद्धि (सुख भोगने) के समयमें द्रव्यकी अभिलाषासे अनेक मित्र बनजाते हैं वे मित्र तो सर्वत्र मिलतेही हैं परंतु उनका तत्त्व (सारासार) जाननेके निमित्त विपत्तिही उनकी कसौटी है (अर्थात् धनकी लालसासे प्रीति रखनेवाले मित्र दुःखमें सहायक नहीं होते वे केवल ठग समझे जाते हैं) ॥ ३२९ ॥

यानि कानि च मित्राणि कर्तव्यानि शतानि च ॥
पश्य मूषिकमित्रेण कपोता मुक्तबंधनाः ॥ ३३० ॥

१ कबूतरोंका राजा चित्रग्रीव एक समय अपने परिवारसहित आकाशमें विचरता हुआ चॉवलोंके लोभसे व्याधके जालमें फँसनेके अनंतर सब कबूतर ऐकमत्य होकर जाल ले उडे और हिरण्यकमूसेके समीप जाय उससे जालके बंधन कटवाये ।

अर्थ-बुद्धिमान् मनुष्यको प्रत्येक जातिके सैकडों मित्र करने चाहिये कारण कि देखो हिरण्यकनाम चूहा मित्र होनेसे कबूतरोंका राजा चित्रग्रीव अपने परिवारसहित जालके बंधनसे मुक्त हुआ (छुटा) यह कथा हितोपदेशके मित्रलाभमें देखो ॥ ३३० ॥

परोक्षे कार्यहंतारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ॥
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुंभं पयोमुखम् ॥ ३३१ ॥

अर्थ-पीठपीछे कार्यकी हानि करनेवाले और सन्मुख अत्यंत प्रिय बोलनेवाले ऐसे मित्रको मुखमें अमृतवाले विषके घडेके समान त्याग दे (अर्थात्) कंठपर्यंत विषसे भरे हुए घडेके मुखमें दूध भरा होय तौभी वह घटस्थ दूध पान करने योग्य नहीं होता) वैसेही सामने मीठा और पीछे निंदा करनेवाला पुरुष मित्रता करने योग्य नहीं होता ॥ ३३१ ॥

दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ॥
उष्णो दहति चांगारः शीतः कृष्णायते करम् ॥ ३३२ ॥

अर्थ-बुद्धिमान् मनुष्य दुर्जनके संग मित्रता और प्रीति कदापि न करै क्योंकि दुर्जनके साथ मित्रता करनेमें सर्व प्रकार हानि होती है जैसे गरम अंगारके हाथ लगानेसें हाथ जल जाता है और ठंढा अंगारके हाथ लगानेसेभी हाथ काला होता है ॥ ३३२ ॥

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ॥
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ३३३ ॥

अर्थ-जैसे खल (दुष्ट) मनुष्य प्रथम मिलतेही पावोंमें पडता है और पीछे कार्यको नष्ट करता है और समीप आके कानमें धीरे धीरे अद्भुत विचित्र शब्दोंको सुनता है और छिद्र (फूट) निरू-

पण करके तत्काल बेडर प्रवेश करता है वैसेही मच्छरभी पहले पावोंमें गिरना पीछेके मांसको खाना कानमें धीरे धीरे अत्यंत विचित्र शब्द करना छिद्र देखके तत्काल बेडर प्रवेश हो जाना इन चरित्रोंको करता है इस प्रकार दुष्ट मनुष्यके सारे चरित्र मच्छरके समानही जानो कारण कि बुद्धिमान् प्रथमहीके मिलापमें दुष्ट और सज्जनकी परीक्षा करके फिर मित्रता करै ॥ ३३३ ॥

अथ शत्रुलक्षणम् ।

अब शत्रुके लक्षण कहते हैं ॥

अनन्यसत्त्वकामत्वमेकस्मिन्विषये द्वयाः ॥
वैरिलक्षणमेतद्वान्येष्टनाशनकारिता ॥ ३३४ ॥

अर्थ—एक वस्तुके विषयमें दो मनुष्योंकी ऐसी इच्छा हो कि यह वस्तु मेरी है अन्यकी नहीं अथवा अन्यके वांछित पदार्थोंमें हानि करना इसीको शत्रुके लक्षण कहते हैं ॥ ३३४ ॥

भ्रातृभावे पितुर्द्रव्यमखिलं मम वै भवेत् ॥
न स्यादेतस्य वश्येयं ममैव स्यात् परस्परम् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—भाईके विद्यमान होनेपर भी पिताका संपूर्ण द्रव्य मेरेही आधीन हो जाय इसके अधीन न होवै और मैं इसके वशमें न होऊँ यह मेरे वशमें हो जाय इस प्रकार परस्परमें ईर्षा होनेको शत्रुता कहते हैं ॥ ३३५ ॥

भोक्ष्येऽखिलमहं चैतद्विनान्यस्तत्तु वैरिणौ ॥
द्वेष्टि द्विष्ट उभौ शत्रू स्तश्चैकरतसंज्ञकौ ॥ ३३६ ॥

अर्थ—सबको मैं भोगूंगा अन्य नहीं वे परस्परमें वैरी होते हैं और जो द्वेष करै और जिसके संग द्वेष करै वे दोनों एकसे एक शत्रु होते हैं ३३६

शूरस्योत्थानशीलस्य बलनीतिमतः सदा ॥
सर्वे मित्रा गूढवैरा नृपाः कालप्रतीक्षकाः ॥ ३३७ ॥

अर्थ-जो राजा शूर वीर है और अन्यराजा पर सेना चढानेमें तत्पर है सेना और नीतिवाला है उस राजाके सब मित्र भी, उसका प्रबल-समयको देखते हुए गूढ (छिपे) वैरी होते हैं। (अर्थात् वे समय पडनेपर अपनी शत्रुता प्रगट करते हैं) ॥ ३३७ ॥

सहजः प्राकृतश्चैव कृत्रिमश्च तथैव च ॥
तत्र कष्टतमं प्राहुर्बुधाः कृत्रिमवैरिणम् ॥ ३३८ ॥

अर्थ-सहज प्राकृत और कृत्रिम ये तीन प्रकारके शत्रु होते हैं उनमें पंडितजन कृत्रिम शत्रुको अत्यंत कठोर शत्रु कहते हैं ॥ ३३८ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ॥
कृतज्ञं धृतिमंतं च कष्टमाहुरारिं बुधाः ॥ ३३९ ॥

अर्थ-बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दाता, करने योग्य कार्यको जाननेवाला और धैर्यवान् ऐसे शत्रुको पंडित जन बहुत कष्टसे जीतने योग्य कहते हैं ॥ ३३९ ॥

अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रामित्रमतः परम् ॥
मित्रारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरस्सराः ॥ ३४० ॥

अर्थ-जीतनेकी इच्छावाले राजाके आगे शत्रुका मित्र शत्रु और मित्रका मित्र मित्र और मित्रके मित्रका मित्र मित्र और शत्रुके मित्रका मित्र शत्रु होते हैं ॥ ३४० ॥

आसमंताच्चतुर्दिक्षु सन्निकृष्टाश्च ये नृपाः ॥
तत्परास्तत्परा येन्ये क्रमाद्धीनबलारयः ॥ ३४१ ॥

अर्थ-राजाके चारों दिशाओंमें चारों तरफ जो समीप सीमावाले राजा होते हैं और उनसे परले और उनसे भी परले राजा क्रमसे हीन-बल शत्रु कहलाते हैं ॥ ३४१ ॥

स्वभावतो भवंत्येते हिंस्रो दुर्वृत्त एव च ॥
ऋणकारी पिता शत्रुर्माता स्त्री व्यभिचारिणी ॥ ३४२ ॥

अर्थ—हिंसक, दुराचारी और ऋण करनेवाला पिता, व्यभिचारिणी माता तथा स्त्री ये सब स्वभावहीसे शत्रु होते हैं ॥ ३४२ ॥

आत्मपितृभ्रातरश्च तत्स्त्रीपुत्राश्च शत्रवः ॥
स्नुषा श्वश्रूः सपत्नी च ननांदा यातरस्तथा ॥ ३४३ ॥

अर्थ—अपने और पिताके भाई उनकी स्त्री और पुत्र पुत्रकी स्त्री और सास और सपत्नी (सौक) ननंदा (ननद) और यातर (देवरानी जेठानी) ये सब स्वाभाविक शत्रु होते हैं ॥ ३४३ ॥

मूर्खपुत्रः कुवैद्यश्चारक्षकस्तु पिता प्रभुः ॥
चंडो भवेत् प्रजाशत्रुरदाता धनिकश्च यः ॥ ३४४ ॥

अर्थ—मूर्ख पुत्र और मूर्ख वैद्य रक्षा न करनेवाला पिता तथा राजा क्रोधी और कृपण धनाढच ये सब प्रजाके शत्रु होते हैं ॥ ३४४ ॥

परोक्षेऽसद्गुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ॥
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥ ३४५ ॥

अर्थ—येभी शत्रुहीके लक्षण हैं कि पीछे अवगुणोंको कहना और श्रेष्ठ गुणोंकी निंदा करना और परलेसे कीर्तन किये हुए श्रेष्ठ गुणोंके विषयमें मुख फेरके चुपचाप बैठ रहना ॥ ३४५ ॥

तूष्णीभावेपि विज्ञेयं न चेद्भवति कारणम् ॥
निःश्वासश्चौष्ठसंदंशं शिरसश्च प्रकंपनम् ॥ ३४६ ॥

अर्थ—तथा मौन रहनेमें भी येही बात माननी चाहिये कि इसमें दूसरा कारण नहीं है दूसरेके गुण सुनकर दीर्घ श्वास लेना होठ काटना और शिरकंपानाभी शत्रुता प्रगट करता है ॥ ३४६ ॥

अथोदासीनलक्षणम् ।

अब उदासीनके लक्षण कहते हैं ॥

मंडलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः ॥
अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः ॥ ३४७ ॥

अर्थ-शत्रु और मित्रोंके मंडलसे बाह्य जो अधिक बलवान् राजा है वह उदासीन कहलाता है वह उदासीन राजा मिले हुए शत्रु तथा मित्रोंपर कृपा करनेमें और फटे हुए शत्रु मित्रोंके बद्ध करनेमें समर्थ होता है ॥ ३४७ ॥

आर्यता पुरुषज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता ॥
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ ३४८ ॥

अर्थ-श्रेष्ठता रखना योग्य अयोग्य पुरुषको पहचानना शूरवीरता दिखाना दयावान् होना बहुत पारितोषिक तथा दान आदिका देनेवाला होना, ये उदासीनके निरंतर श्रेष्ठ गुण हैं ऐसे उदासीनका आश्रय लेके बलवान् शत्रुको भी परास्त करै ॥ ३४८ ॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार अक्षयसिहजीवर्मनिर्मिते अक्षयनीतिसुधाकरे भाषाटीकासमलंकृतः स्तृतीयस्तबकः समाप्तः ॥ ३ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथाऽक्षयनीतिसुधाकरः।

भाषाटीकासमेतः ।

चतुर्थस्तबकः ४.

ॐ अग्ने जातान् प्रणुदानः सपत्नान् प्रत्यजातान्नुद जातवेदः ॥ अधिनो ब्रूहि सुमनाऽअहेडँस्तव स्याम शर्मंस्त्रिवरूथ उद्भौ ॥ १ ॥ सहसा जातान् प्रणुदानः सपत्नान् प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व ॥ अधिनो ब्रूहि सुमनस्यमानोवय१७ स्याम प्रणुदानःसपत्नान् ॥ २ ॥ रुचं नोधेहि ब्राह्मणेषुरुच १७ राज सुनस्कृधि ॥ रुचंविश्येषुशूद्रेषुमयि धेहि रुचा रुचम् ॥ ३ ॥

अथ राज्ययोग्यदेशराजधानी दुर्गं च ।

चतुर्थस्तबकमें प्रथम राज्ययोग्य देश राजधानी और किलेकी रीति कहते हैं ।

भूगुणैर्वर्द्धते राष्ट्रं तद्वृद्धिर्नृपवृद्धये ॥
तस्माद्गुणवतीं भूमिं भूत्यै भूपस्तु कारयेत् ॥ १ ॥

अर्थ–भूमिके उत्तम गुणोंसे राज्यकी वृद्धि होती है और वह राज्य (प्रजा) की वृद्धि राजाकी वृद्धिके निमित्त सदा समर्थ होती है (अर्थात् अच्छी उपजनेवाली भूमिके प्रभावसे प्रजाकी वृद्धि होती है और प्रजाकी वृद्धि होनेसे राजाका ऐश्वर्य बढता है) इस कारण राजा अपने ऐश्वर्य बढानेके निमित्त प्रथम भूमिको अनेक गुणोंसे युक्त करै अर्थात् पदार्थ विद्याके प्रभावसे भूमिकी उर्वरा आदि अनेक प्रकारकी शक्तिको बढाता रहै ॥ १ ॥

सस्याकरवती पण्यखनी द्रव्यसमान्विता ॥
गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता ॥ २ ॥

रम्या सकुंजरवना वारिस्थलसमन्विता ॥
अदेवमातृका चेति शस्यते भूविंभूतये ॥ ३ ॥

अर्थ—बहुत अन्न आदिको उपजानेवाली, सुवर्ण—चांदी—ताम्र लोहा आदिकी खानोंवाली, अनेक प्रकारके व्यापर योग्य पदार्थोंको उपजानेवाली, हीरे—पन्ने आदिकी खानोंसे संपन्न, गाय, भैंस, बैल, अश्व आदिके निमित्त हित करनेवाली, बहुत जलाशयोंसे परिपूर्ण, और अच्छे अच्छे पवित्रदेशोंसे समावृत, अत्यंत शोभायमान, हाथियोंकी उत्पत्तिवाले वनोंसे युक्त जल तथा स्थल (समभूमि) से वा जल तथा स्थलके मार्गोंसे संयुक्त, मेघके विनाभी नदियों तथा नहरोंसे अन्न आदिको उपजानेवाली ऐसी भूमिही राजाके ऐश्वर्य बढानेमें प्रशस्त कही गई है ॥ २ ॥ ३ ॥

सशर्करा सपाषाणा साटवी नित्यतस्करा ॥
रूक्षा सकंटकवना सव्याला चेति भूरभूः ॥ ४ ॥

अर्थ—बहुत रेतीवाली, बहुत पाषाणवाली, बहुत जंगलवाली, नित्य बहुतसे चोरोंके रहने योग्य स्थानवाली, रूक्ष (बेनिपजाऊ वा कम जलवाली) बहुतसे कंटीले वृक्षोंकी झाडीवाली, और बहुतसे सिंह सर्प आदि हिंसक जानवरोंसे संयुक्त, ऐसी भूमि हानिकारक होती है ॥ ४ ॥

स्वाजीव्यो भूगुणैर्युक्तः सारूपः पर्वताश्रयः ॥
शूद्रकारुवणिक् प्रायोमहारंभः कृषीवलः ॥५॥
सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः ॥
नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी ॥६॥
ईदृक् जनपदः शस्तो मूर्खव्यसनिनायकः ॥
तं वर्द्धयेत् प्रयत्नेन तस्मात्सर्वं प्रवर्द्धते ॥ ७ ॥

अर्थ-जिसमें खेती वाणिज्य आदिसे बहुत लाभ होता हो और कहे हुए भूमिके गुणोंसे युक्त हो, अत्यंत रमणीक हो जिसकी सीमाके ऊपर अच्छे अच्छे पर्वत (अर्थात् विकट पर्वत) हों, जिसमें नौकरी करनेवाले शूद्र और शिल्प आदिके अच्छे कारीगर निवास करते हों, और व्यापार करनेवाले वैश्योंके बहुत समुदाय निवास करते हों, और जहां खेतीके बडे बडे आरंभ करनेवाले कृषक हों, और जिसमें राजाके अनुरागी मनुष्य निवास करते हों, और अपने स्वामीके शत्रुका द्वेषी हों और दुर्भिक्ष तथा शत्रुजन्य बाधा आदिकी पीडाको तथा ऋण आदिके खेदको दूर करनेके निमित्त राजाकी लगाई हुई विशेष लगानको सहन करनेमें समर्थ हो, और बहुत विस्तारवाला हो, व्यापार आदि आजीविकाके निमित्त नाना प्रकारके देशोंके मनुष्योंसे भले प्रकार संयुक्त हो, धार्मिक हो, हाथी-घोडे-ऊंट-गाय-बैल आदि पशुओंसे पूर्ण हो, अच्छा धनाढ्य हो ऐसा देश राजधानीके अर्थ सदा श्रेष्ठ होता है, राजाको उचित है कि मूर्ख मनुष्योंकी संगति तथा मृगया आदि दुर्व्यसनोंको छोडके बहुत सावधानी पूर्वक उक्त लक्षणोंसे संपन्न देशको सदा नाना प्रकारकी उन्नति देकर बहुत यत्नपूर्वक बढावे, क्योंकि प्रजाकी वृद्धि होनेहीसे राजाका सब ऐश्वर्य बढता है ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम् ॥
रम्यमानतसामंतं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ८ ॥

अर्थ-जिसमें अन्न आदि बहुत उत्पन्न होते हों, फल पुष्प तरु लता आदिसे संपन्न हो, वेदविहित धर्मावलंबी मनुष्योंसे पूर्ण हो, रोग वा अधर्म आदिसे वर्जित हो, तडाग (तलाव) बाग बगीचे नदी सडकें आदिसे मनोहर हो, बहुतसी नम्रतायुक्त सामंत आदिसे संयुक्त हो, कृषी-वाणिज्य आदिका केंद्र हो, ऐसे देशमें राजधानी बनावै ॥ ८ ॥

अथ राजधानी ।

नानावृक्षलताकीर्णे पशुपक्षिगणावृते ॥
सुबहूदकधान्ये च तृणकाष्ठसुखं सदा ॥ ९ ॥
आसिंधुनौगमाकूले नातिदूरं महीधरे ॥
सुरम्ये समभूदेशे राजधानीं प्रकल्पयेत् ॥ १० ॥

अर्थ-राजा अपनी राजधानी ऐसी जगह बनावे जहां नाना प्रकारके वृक्ष और लता आदिसे संकीर्ण (सघन) हो, नाना प्रकारके पशु और पक्षियोंके समूहसे संयुक्त हो, अच्छा स्वादिष्ठ जल और धान्य आदि बहुत हों, तृण तथा काष्ठका जहां सदा अत्यंत सुख हो, समुद्रपर्यंत नौ (जहाज आदि) से जानेका जहां श्रेष्ठ मार्ग हो, जहां पर्वतभी अत्यंत दूर न हों, जहांकी भूमि अत्यंत मनोहर हो, और भूमिका स्थल भी सम चौरस हो ऐसे देशमें राजधानी बनावै ॥ ९ ॥ १० ॥

पृथुसीममहाखातमुच्चप्राकारगोपुरम् ॥
समावसेत् पुरं शैलसरिद्वनवनाश्रयम् ॥ ११ ॥

अर्थ-राजाको उचित है कि पर्वत, नदी तथा जल और वनका आश्रय लेके राजधानीके निमित्त नगर बसावै और उस नगरकी सीमा लंबी रक्खै, और चारों तरफ गहरी, चौडी अच्छी खाई बनावे, कोट, तथा दरवाजेभी अच्छे ऊंचे बनावै ॥ ११ ॥

अर्द्धचंद्रां वर्तुलां वा चतुरस्रां सुशोभनाम् ॥
सप्राकारां सपरिखां ग्रामादीनां निवेशिनीम् ॥ १२ ॥
सभामध्यां कूपवापीतडागादियुतां सदा ॥
चतुर्दिक्षु चतुर्द्वारां सुमार्गारामवीथिकाम् ॥ १३ ॥
दृढसुरालयमठ पांथशालाविराजिताम् ॥
कल्पयित्वा वसेत्तत्र सुगुप्तः सप्रजो नृपः ॥ १४ ॥

अर्थ-राजधानीकी नगरीको अर्द्धचंद्रमाके समान आकारवाली वा वर्तुल (गोल) आकारवाली, वा चौरस, अच्छी शोभायमान और कोट, प्रकोट, परिखा (खाई) से युक्त, और समीपवर्त्ती ग्रामवालोंके प्रवेशके निमित्त दरवज्जोंके सिवाय सुंदर खिडकियोंसेभी संयुक्त बनावै सभा (सायर) जिसके मध्यमें हो कुआ-बावडी-ताल आदिसे सदा संयुक्त हो चारोंही दिशाओंमें जिसके चार दरवाजे हों सुंदर सडकैं बगीचे-गलियोंसे युक्त हो अच्छे दृढ देवालय और पाठशाला, धर्मशाला, आदिसे सुंदर विराजमान हो इस प्रकार अपने रहनेके निमित्त नगरीकी कल्पना करके अच्छे रक्षा करने योग्य योद्धोंसे रक्षित राजा अपनी प्रजासहित निवास करै ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

अथ दुर्गं ।

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ॥
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ १५ ॥

अर्थ-दुर्ग (किला) ६ प्रकारका होता है धन्वदुर्ग (अर्थात् जिसके चारों ओर दश कोश तक जल रहित रेती भूमि हो) २ महीदुर्ग (अर्थात् किलेके चौतरफ प्रकोटा मृत्तिकासे ऐसा घिरा हुआ हो कि उस मृत्तिकाके प्रभावसे किलेके गोला आदि कदापि न लग सकैं अथवा पत्थर वा ईंट चूनेसे मजबूत बनाहुआ बारह हाथका ऊँचा छः हाथका चौडा और युद्धके निमित्त फिरने योग्य परिधि और रोक युक्त झरोखों (तीरखसों) से युक्त प्रकोटसे घिरा हुआ हो ३ अब्दुर्ग (अर्थात् चारों ओर अगाध जलसे घिरा हुआ हो) वार्क्ष (अर्थात् बाहरसे चारों ओर चार चार कोशतक बडे बडे कंटीले वृक्ष और लता गुल्म आदिसे घिरा हुआ हो) ५ नृदुर्ग (अर्थात् चारों ओर हाथी, घोडे, रथ, पैदल, आदि चतुरंगिणी सेनासे अच्छी रीतिपूर्वक रक्षा किया हुआ हो) ६ गिरिदुर्ग (अर्थात् बडी कठिनतासे चढने योग्य पहाडपर ओच्छे मार्गोंसे युक्त और भीतर ताल वा झरना आदिके जलोंसे सजल और बहुत अन्नके उपजाउ

खेतोंसे युक्त हो) इन दुर्गोंमेंसे किसी भी दुर्गका आश्रय लेके राजा अपनी राजधानीका नगर बसावै ॥ १५ ॥

दुर्गेषु षट्सु नीतिज्ञा नूनं हि नृपनंदनाः ॥
मन्यंते नरदुर्गं वा गिरिदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ १६ ॥

अर्थ–हे राजकुमारों ! नीतिके जाननेवाले इन छः प्रकारके किलोंमें नरदुर्ग अथवा गिरिदुर्गको ही निश्चय सुदुस्तर (कठिनताईसे जीतनेयोग्य) मानते हैं ॥ १६ ॥

सर्वेणैव प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत् ॥
एषां हि बाहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ १७ ॥

अर्थ–इन सब दुर्गोंके बीच पहाडी किलेका गुण अतिशय अधिक है इस कारण सब प्रयत्नोंसे सर्वदा पहाडी किलेका आश्रय लेनाही श्रेष्ठ है क्योंकि प्रथम तौ इसमें शत्रु कठिनतासे चढसकता है और दूसरे थोडेसे मनुष्यभी भीतरसे यत्नपूर्वक चलाई हुई शिला आदिके प्रभावसे शत्रुकी बहुतसी सेनाको मार सकते हैं इत्यादि अनेक गुण होनेहीसे गिरिदुर्गकाही आश्रय लेवै ॥ १७ ॥

अदुर्गो विषयः कस्य नारेः परिभवास्पदम् ॥
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत् ॥ १८ ॥

अर्थ–किलेसे रहित राजधानी किस शत्रुके तिरस्कार करनेमें नहीं आती (अर्थात् जिस राज्यमें किला नहीं है उस राज्यको हरकोई शत्रु जीत लेता है) और जिस राजाके किला नहीं और बलवान् राजाका आश्रयभी नहीं वह राजा समुद्रमें चलती हुई नावसे गिरे हुए मनुष्यके समान समझा जाता है ॥ १८ ॥

---

१ यवन सम्राटोंके राज्यशासनमें चित्रकूट-उदयपुरके महाराणाओंने गिरिदुर्गहीकी सहायतासे अपनी स्वतन्त्रता न खोई ॥

दंष्ट्राविरहितः सर्पो मदहीनो यथा गजः ॥
सर्वेषां जायते वश्यो दुर्गहीनस्तथा नृपः ॥ १९ ॥

अर्थ–जैसे विना दाढोंका सर्प और मदहीन हाथी सबके वशीभूत हो जाता है इसी प्रकार दुर्गहीन राजाभी शत्रुओंके वशीभूत हो जाता है ॥ १९ ॥

न गजानां सहस्रेण न च लक्षेण वाजिनाम् ॥
तत् कर्म सिध्यते राज्ञां दुर्गेणैकेन यद्रणे ॥ २० ॥

अर्थ–रणके समयमें राजाओंका जो कार्य संपत्तियुक्त एक किलासे सिद्ध होता है वह कार्य दुर्गहीन राजाके हजार हाथी और लक्ष घोडोंसे भी सिद्ध नहीं होता ॥ २० ॥

दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ॥
संयंत्रं सजलं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ॥ २१ ॥

अर्थ–इस कारण राजा वडी अगाध खाईवाला और वडी ऊँची ऊँची दिवारोंसे युक्त प्रकोटावाला, अच्छे अच्छे यंत्रोंसे युक्त, और जल, पर्वत, नदी निर्जल देश कँटीले वृक्षोंका वन इनमेंसे किसीका आश्रय लेके किला बनावै ॥ २१ ॥

विस्तीर्णतातिवैषम्यं रसधान्येध्मसंग्रहः ॥
प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसंपदः ॥ २२ ॥

अर्थ–१ फैलाव, २ अतिविषमता (अर्थात् जिसका अत्यंत चढाव उतार वा जिसका मार्ग अत्यन्त कठोर हो) ३ लवण आदि रस, ४ अन्न, ५ इंधनके संग्रहके स्थान, ६ प्रवेश और ७ निकालके निमित्त गुप्त द्वार ये सातही किलेकी संपत्ति कही है ॥ २२ ॥

स्वोच्छ्रायस्यार्द्धमूलो वा प्राकारः सममूलकः ॥
तृतीयांशकमूलो वा ह्युच्छ्रायार्द्धप्रविस्तरः ॥ २३ ॥

अर्थ-किलेका प्रकोटा ऐसा बनाना चाहिये कि कोटकी ऊँचाईसे आधा अथवा बराबर अथवा तृतीय हिस्से चौडा हो, और आधे विस्तारवाला तौ अवश्य होनाही चाहिये ॥ २३ ॥

उच्छ्रितस्तु यथा कार्यो दस्युभिर्न विलंघ्यते ॥
यामिकै रक्षितो नित्यं नालिकास्त्रैश्च संयुतः ॥ २४ ॥

अर्थ-किला और राजधानी आदिके नगरोंका कोट, प्रकोटा ऐसा ऊँचा होना चाहिये कि जो चौर आदिसे कदापि ऊलांघा न जाय और चौकीदारोंसे सदा यत्नपूर्वक रक्षित हो और नालिकास्त्रों (तोपों) से संयुक्त हो (अर्थात् किलाके कोट प्रकोटाकी बुरजोंपर अच्छी तोपें और चौकीदार रक्खै) ॥ २४ ॥

सुबहुदृढगुल्मश्च सुगवाक्षप्रणालिकः ॥
स्वहीनप्रतिप्राकारो ह्यसमीपमहीधरः ॥ २५ ॥

अर्थ-सेनाकी रक्षाके निमित्त जिसमें अच्छी अत्यंत दृढ बुरजें हों और वायुके संचारार्थ अथवा शत्रुओंको दूरसे देखनेको जिसमें अच्छे झरोंके हों और शस्त्रास्त्र चलानेके निमित्त जिसमें अच्छे तीरखस हों कोटसे विस्तार आदिमें हीन ऐसा प्रकोटा हो और किलाके समीप कोट आदिको शत्रुओंसे हानि पहुँचानेवाला पर्वत नहीं हो (अर्थात् किलाके किसी पर्वतकी लाग न हो) ॥ २५ ॥

परिखा च ततः कार्या खाताद्द्विगुणविस्तरा ॥
नातिसमीपप्राकारा ह्यगाधसलिला शुभा ॥ २६ ॥

अर्थ-राजधानीका नगर तथा किलाके प्रकोटेके चारों ओर कोटसे किंचित् दूर, अगाध जलसे पूर्ण अत्यंत शोभायमान, और गहरी (ऊंडी) से द्विगुण (दूणी) चौडी ऐसी परिखा (खाई) बनावै २६

प्रगंडीं कारयेत् सम्यगाकाशजननीस्तथा ॥
आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ॥ २७ ॥

अर्थ–राजधानीका नगर तथा किलाके कोट प्रकोटाके फरणी बनावै और युद्ध आदिके समयमें शत्रुकी सेनापर अस्त्र आदि फेंक-नेके निमित्त कोट प्रकोटेकी फरणियोंमें स्थित मनुष्योंकी रक्षाके अर्थ अस्त्र आदि फेंकनेके छिद्रोंसे युक्त बडी ऊँची दीवार बनावे और स्थाणुं, नक्र, झष आदिसे पूर्ण ऐसी परिखाको जल वा शत्रुके विनाशकारी अनेक प्रकारके कीलक (कंटक) आदिसे पूर्ण करै ॥ २७ ॥

संकटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च ॥
तेषां च द्वारवद्गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ २८॥

अर्थ–राजधानीके नगर तथा किलाके दरवाजोंके सिवाय प्रवेश और निकासके निमित्त गुप्त द्वारभी बनावे और उन गुप्त द्वारोंकी दरवाजोंके समान बहुत सावधानीपूर्वक सदा रक्षा करता रहै ॥ २८ ॥

द्वारेषु च गुरूण्येव यंत्राणि स्थापयेत् सदा ॥
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥२९ ॥

अर्थ–किलाके तथा नगरके दरवाजों पर अच्छे बडे बडे यंत्रोंको स्थापन करै और किला तथा राजधानीके नगरके दरवाजोंकी बुरजों पर अच्छी अच्छी तोपें स्थापन करै उनका प्रबंध अपनेही आधीन रक्खै ॥ २९ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ॥
शतं शतसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥ ३० ॥

अर्थ–किलामें स्थित एकभी धनुषधारी बाहरके सौ शत्रुओंसे युद्ध कर सकताहै और सौ धनुषधारी बाहरके लक्ष मनुष्योंसे लड सकते हैं इस कारण राज्यरक्षाके निमित्त दुर्गका विधान कहा है (अर्थात् दुर्ग अवश्य बनावै) ॥ ३० ॥

---

१ स्थाणु तीखे मुँहवाले काष्ठके खभोंको कहते हैं और नक्र (नाका-मगर) झष (बडे मच्छों) को कहते हैं ।

तत् स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः ॥
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ३१ ॥

अर्थ-वह किला तरवार बंदूक आदि नाना प्रकारके शस्त्रास्त्ररूप आयुध, सुवर्ण आदि विविध प्रकारके द्रव्य, यव गोधूम आदि नाना प्रकारके अन्न, घोडे हाथी आदि वाहन, मंत्रशक्तियुक्त ब्राह्मण, शस्त्र अस्त्र आदि और दीवार आदि बनानेवाले कारीगर, विविधयंत्र, घास, जल, इन समृद्धिसे संपन्न होना चाहिये ॥ ३१ ॥

युद्धसाधनसंभारैः सुयुद्धकुशलैर्विना ॥
नश्रेयसे दुर्गवासो राज्ञः स्याद्बंधनाय सः ॥ ३२ ॥

अर्थ-युद्धके साधन जो शस्त्र, अस्त्र, सोर, गोले आदि और युद्ध-विद्यामें कुशल ऐसे शूरवीरयोद्धोंके विना किलेका निवास राजाको श्रेष्ठ नहीं कारण कि उक्त साधनोंके विना किलेका निवास बंधनका हेतु होता है ॥ ३२ ॥

विशीर्णयंत्रप्राकारपरिखात्वमशस्त्रता ॥
क्षीणवासेंधनान्नत्वं दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ ३३ ॥

अर्थ-यंत्र, कोट, खाई, टूटे फूटे होना, और युद्धके साधन जो शस्त्र अस्त्र आदि हैं उनका न होना, घास, इंधन, अन्न आदि क्षीण हो जाना, ये किलेके दोष कहे हैं ॥ ३३ ॥

अकालसहमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ॥
अगुप्तं भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ ३४ ॥

अर्थ-बहुत कालपर्यंत तोप आदिकी लडाईको सहन करनेमें समर्थ नहीं होना अत्यंत छोटा होना नीति आदि विद्यासे हीन अज्ञानी मृग-यादि दुर्व्यसनोंके सेवनमें आसक्त ऐसा मनुष्य किलेका स्वामी होना और किलेकी रक्षाके निमित्त प्रकोटा खाई नहीं होना किलेमें युद्ध कर-नेवाले डरपोक होना येभी किलाके दोष हैं ॥ ३४ ॥

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कंदस्तीव्रपौरुषम् ॥
दुर्गस्य लंघनोपायाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

अर्थ–भेद पटकना, बहुत दिनोंतक चारों ओर घेरा रखना, धावा करना, तीव्र पुरुषार्थ करना, ये चारोंही किलेको उल्लंघन करनेका उपाय कहा है ॥ ३५ ॥

यद्यद्धि व्यसनं प्रोक्तं दुर्गस्य शास्त्रवेदिभिः ॥
तत्तदेव व्यपोह्याशु दुर्गं कुर्याद्धिताय वै ॥ ३६ ॥

अर्थ–शास्त्रोंके ज्ञाताओंने किलेका जो जो दोष कहा है उस दोषको निश्चय त्यागके राजा अपने हितके निमित्त अच्छा किला बनावे ॥ ३६ ॥

अथ राजभवनानि ।

दुर्गविधिनिरूपणके अनंतर राजाके रहनेयोग्य भवन कहते हैं ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः ॥
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षैः समन्वितम् ॥ ३७ ॥

अर्थ–कहे हुए श्रेष्ठ लक्षणोंसे युक्त किलेमें सुपर्याप्त (रणवास) देवालय, शस्त्रशाला, अग्निशाला, पाकशाला, कोषागार, अश्वशाला इत्यादि पृथक् पृथक् स्थानोंसे युक्त, और कोट प्रकोटा आदिसे रक्षित, सर्व ऋतुओंमें सुख देनेवाला, चंद्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल, और कूप–बावडी–ताल, हौज, फुव्वारे–आदि जलके स्थानोंसे तथा अनेकविध पुष्पोंके वृक्षलता आदिसे समन्वित ऐसा महल राजा अपने रहनेको बनावै ॥ ३७ ॥

राजगृहं सभामध्यं गवाश्वगजशालिकम् ॥
प्रशस्तवापीकूपादिजलयंत्रैः सुशोभितम् ॥ ३८ ॥

अर्थ–सभा (राजाका सभास्थान) जिसके मध्यमें हो गौ अश्व गज इनकी शाला और प्रशस्त (अच्छे नामी) बावडी कूप आदि

और जलके अनेक यत्रोंसे सुशोभित ऐसे महल राजा अपने निवास करनेको बनावै ॥ ३८ ॥

शरदिंदुकराभासं स्फटिकादिभिरंचितम् ॥
अत्युच्चं सर्वशोभाढ्यं प्रतिभासादिचित्रितम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—वह राजभवन शरदके पूर्णचंद्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल और स्फटिक आदिसे जडा हुआ और अत्यंत ऊँचा और संपूर्ण प्रकारकी शोभासे सुशोभित और चित्र आदि अनेक प्रकारके चित्र-विचित्र पदार्थोंसे सजा हुआ हो ॥ ३९ ॥

सर्वतः स्यात् समभुजं दक्षिणोच्चमुदङ्नतम् ॥
शालां विना नैकभुजं तथा विषमबाहुकम् ॥ ४० ॥

अर्थ—जिसकी चारों भुजा सम हों दक्षिणकी ओर ऊँचा और उत्तरको नीचा हो और शालाके विना एक भुज तथा विषम भुज नहीं हो ॥ ४० ॥

प्रायः शाला नैकभुजा चतुःशालं विना शुभा ॥
शस्त्रास्त्रधारिसंयुक्तं प्राकारं सुष्टुयंत्रकम् ॥ ४१ ॥
सत्रिकक्षं चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु सुशोभितम् ॥
दिवा रात्रौ सशस्त्रास्त्रैः प्रतिकक्षासुगोपितम् ॥ ४२ ॥

अर्थ—क्योंकि चतुःशाल (चौपाड) के विना एक भुजावाली शाला निश्चय शुभ नहीं होती और शस्त्र अस्त्रके धारण करनेवाले योद्धाओंसे संयुक्त और जिसका प्रकोटा उत्तम यंत्रोंसे युक्त हो 'जिसके चारों दिशाओंमें अच्छे शोभायमान तीन तीन कक्षाओंसे' युक्त चार द्वार हों और शस्त्र अस्त्रके धारण करनेवाले योद्धाओंसे दिन रात्रि प्रत्येक कक्षाके विषे रक्षित हो (अर्थात् सब दरवाजोंपर शस्त्रास्त्रयुक्त सिपाही खडा पहरा देते रहें) ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

चतुर्भिः पंचभिः षड्भिर्यामिकैः परिवर्त्तकैः ॥
नानागृहोपकार्याढ्यसंयुतं कल्पयेत् सदा ॥ ४३ ॥

अर्थ—उक्त कक्षा (दरवाजा) ओंमें चार, पांच, छः पहरेवाले अपने नियत कालमें सावधानीसे पहरा देके पलटते हुए सदा स्थित रहने चाहिये ऐसे राजभवनमें राज्ययोग्य परिग्रहसे युक्त नाना प्रकारके स्थान यथायोग्य बनवावे ॥ ४३ ॥

भांडागारायुधागारान्योद्धागारांश्च सर्वशः ॥
अश्वागारान् गजागारान् बलाधिकरणानि च ॥ ४४ ॥

अर्थ—द्रव्य आदिका भंडार, आयुधशाला, सर्व सामंतोंके निवासार्थ शाला, अश्वशाला, गजशाला, सेनाकी स्थितिके स्थान इत्यादि सब यथोक्त रीतिसे बनावे ॥ ४४ ॥

स्नानागारं दिशि प्राच्यामाग्नेय्यां पाचनालयम् ॥
याम्यायां शयनागारं नैर्ऋत्यां शस्त्रमंदिरम् ॥४५ ॥

अर्थ—पूर्व दिशामें स्नान करनेका स्थान, अग्निकोणमें पाकशाला, दक्षिणदिशामें शयनका स्थान और नैर्ऋतकोणमें शास्त्रास्त्रशाला ये क्रमपूर्वक बनावे ॥ ४५ ॥

प्रतीच्यां भोजनागारं वायव्यां पशुमंदिरम् ॥
भांडकोशं चोत्तरस्यामीशान्यां देवमंदिरम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—पश्चिम दिशामें भोजनशाला, वायुकोणमें अश्व आदि पशु-शाला, उत्तरदिशामें भंडार आदि संचयशाला, ईशानकोणमें, देवता-ओंका स्थान ये सब निकट वा दूर यथाक्रमसे बनावै ॥ ४६ ॥

वस्त्रादिमार्जनार्थं च स्नानार्थं यजनार्थकम् ॥
भोजनार्थं च पाकार्थं पूर्वस्यां कल्पयेद्गृहान् ॥ ४७ ॥

अर्थ—अथवा वस्त्रादिकोंके मार्जनके अर्थ स्नानके अर्थ, यजमानके अर्थ, भोजनके अर्थ, पापके अर्थ, पूर्व दिशामें गृहोंको बनावै ॥४७॥

निद्रार्थं च विहारार्थं पानार्थं रोदनार्थकम् ॥
धान्यार्थं घरटाद्यर्थं दासीदासार्थमेव च ॥ ४८ ॥
उत्सर्गार्थं गृहान् कुर्याद्दक्षिणस्यामनुक्रमात् ॥
गोमृगोष्ट्रगजाद्यर्थं गृहान् प्रत्यक् प्रकल्पयेत् ॥ ४९ ॥

अर्थ-शयन, क्रीडा, पानगोष्ठी, अन्नआदिके संग्रह, घरट, दास-दासियोंके और शौचादिके निमित्त उक्तगृह दक्षिणदिशामें अनुक्रमसे बनावै, और गौ, मृग, ऊँट, हाथि आदिके अर्थ पश्चिम दिशामें गृह बनावै ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

रथवाज्यस्त्रशस्त्रार्थं व्यायामायामिकार्थकम् ॥
वस्त्रार्थकं तु द्रव्यार्थं विद्याभ्यासार्थमेव च ॥ ५० ॥
उदग्गृहान् प्रकुर्वीत सुगुप्तान् सुमनोहरान् ॥
यथासुखानि वा कुर्याद्गृहाण्येतानि वा नृपः ॥ ५१ ॥

अर्थ-रथ, अश्व, अस्त्र, शस्त्र, व्यायाम (कसरत) आयाम, (टहलना) वस्त्रसंग्रह, द्रव्यसंग्रह (कोश) विद्याभ्यास (पढनेका स्थान) इन उक्त स्थानोंको उत्तरदिशामें क्रमसे बनावै ये सब स्थान अत्यंत मनोहर और सुरक्षित होने चाहिये अथवा इन सर्व गृहोंको राजा अपनी इच्छाके अनुकूल बनावै (अर्थात् इन स्थानोंके निमित्त दिशाका नियम नहीं) ॥ ५० ॥ ५१ ॥

धर्माधिकरणं शिल्पशालां कुर्यादुदग्गृहात् ॥
पंचमांशाधिकोच्छ्रायाद्भित्तिविस्तारतो गृहे ॥ ५२ ॥

अर्थ-धर्माधिकरण (कचहरियें) और शिल्पशाला, इन स्थानोंको राजगृहसे उत्तरदिशामें बनावै और गृहके विस्तारसे भित्ति (दीवार) पंचम भाग ऊँची बनावै ॥ ५२ ॥

कोष्ठविस्तारषष्ठांशस्थूला सा च प्रकीर्त्तिता ॥
एकभूमेरिदं मानमूर्द्धमूर्द्धं समांशतः ॥ ५३ ॥

अर्थ-कोष्ठके विस्तारसे छठे भाग भित्ती चौडी बनावै यह नियम एकभूमि (एक मंजले) स्थानका है इसके आगे स्थानकी भूमि (मंजल) के अनुकूल दिवारको भी बनावै ॥ ५३ ॥

अथ महानसम् ।

राजभवनके अनंतर पाकशाला (रसोईका स्थान) की स्थिति कहते हैं ॥

आग्नेय्यां दिशि कर्त्तव्यमावासस्य महानसम् ॥
गवाक्षवालमार्गाढ्यमर्द्धभित्त्युपलेपितम् ॥ ५४ ॥

अर्थ-राजा भवनके अग्निकोणमें रसोईका स्थान बनावै वह स्थान झरोखे, गोखे, मोखे, आले, अलमारी आदिसे युक्त और गोमय तथा सुंदर मिट्टी (सपेदी) आदिसे आधी आधी भींत लीपी पोती हो ऐसा परम रमणीक बनावै ॥ ५४ ॥

अग्नेः स्थानं यतस्तत्र भोक्तुरन्नं तु वर्द्धते ॥
चूल्लिस्तत्र प्रकर्त्तव्या पूर्वपश्चिममायता ॥ ५५ ॥

अर्थ-वह अग्निकोण अग्निहीका स्थान होनेसे वहां भोजन करनेवालेके दिन दिन अन्न आदिकी वृद्धि होती है उस उक्त स्थानको अग्निकोणमे पूर्वपश्चिमको विस्तृत ऐसी चुल्ही (चुलहा-भट्टी) बनवानी चाहिये ॥ ५५ ॥

मृन्मयादीनि भांडानि क्षालितानि च वारिणा ॥
तेषु यत् पच्यते द्रव्यं गुणवत् सर्वसंमतम् ॥ ५६ ॥

अर्थ-उस रसोईके स्थानमें मृन्मय (मृत्तिका आदिके) तथा सुवर्ण आदि धातुओंके पात्रोंको जल मिट्टी खटाई आदिसे शुद्ध करके स्वच्छतापूर्वक जलसे प्रक्षालन करके रक्खै क्यों कि अच्छे शुद्ध किये हुए पात्रोंमें पकाया हुआ अन्न आदि पदार्थ अत्यंत गुणकारी और सबके संमत (भक्षण करनेमें संतोष जनक) होता है ॥ ५६ ॥

मृद्भावे पचेल्लोहे चक्षुरर्शोविकारनुत् ॥
कांस्यजे पाचितं बाढं हितं मतिदं शुचि ॥ ८७ ॥

अर्थ–जहां उत्तम मिट्टीके पात्रोंका अभाव हो तहां उत्तम लोहेके पात्रोंमें अन्न आदिको पकावे क्योंकि लोहेके पात्रमें पकाया हुआ अन्न नेत्रपीडा और बवासीर आदि रोगोंको दूर करता है जो कांसीके पात्रमें पकाया जाय वह अन्न अत्यंत हितकारी, उत्तम बुद्धिका देनेवाला और पवित्र होता है ॥ ८७ ॥

यत्तु ताम्रमये सिद्धमरुच्यमम्लपित्तकृत् ॥
सौवर्णे राजते पाच्यमाढ्ये भूमिभृतां गृहे ॥ ८८ ॥

अर्थ–जो तांबेके पात्रमें सिद्ध किया हुआ अन्न है वह अरुचि और अम्लपित्तको करता है (इस दोषकी निवृत्तिके निमित्त तांबे पीतलके पात्रोंमें कलई करानेकी परिपाटी प्रशस्त है) राजा महाराजा और धनाढ्योंके घरोंमें तो सब पात्रोंको छोडके सुवर्ण तथा चांदीके पात्रोंमें अन्न पकाने चाहिये क्यों कि अन्य सब धातुओंसे सुवर्ण और चांदी गुणकारी होते हैं ॥ ८८ ॥

मृत्पात्रं सर्वदोषघ्नं धिषणोत्सवदं सदा ॥
संकीर्णे पात्रसंभारे मार्गे वा ग्रामवर्जिते ॥ ८९ ॥

अर्थ–मृत्तिकाका पात्र सर्व दोषको नाश करता है और बुद्धिको सदा प्रफुल्लित रखता है जहां उत्तम पात्र न हो और मार्गमें उत्तम ग्रामभी न हो ऐसे समयमें वहां साधारण मृत्तिकाके पात्रमें भी पाक बनाना उत्तम कहा है ॥ ८९ ॥

स्थापयेद्गुणवत् सूदः सिद्धान्नं पात्रकांतरे ॥
भक्तं स्वपात्रके स्थाप्यं कथिता पात्रकांतरे ॥ ९० ॥

अर्थ–बुद्धिमान् पाककारी (रसोईदार) को उचित है कि पकाये हुए अन्न आदिको अन्य पात्रमें स्थापन करै और भातको तो जिस

पात्रमें पकाया हो उसीमें रक्खै और कढीको भी दूसरेही पात्रमें रक्खै ॥ ६० ॥

घृतं काष्ठायसे स्थाप्यं मांसं मांसरसौ पुनः ॥
स्थापयेद्राजते हैमे पात्रे लौहेऽथ काष्ठजे ॥ ६१ ॥

अर्थ—घृतको काष्ठ तथा लोहेके पात्रमें रक्खै मांस तथा मांसके शोरवेको सोना, चांदी, लोहा वा काष्ठके पात्रमें रक्खै ॥ ६१ ॥

पत्रादि षड्विधं शाकं स्थाप्यं काष्ठाश्मलोहजे ॥
पक्कान्नपिष्टजं भक्ष्यं स्थाप्यं कांस्येऽथ दारुजे ॥ ६२ ॥

अर्थ—पत्र आदि छः प्रकारकी शाकको काष्ठ, पत्थर, अथवा लोहेके पात्रमें स्थापन करै पक्कान्न (लड्डू, गूंजा, जलेबी आदि) पिष्टज (पूडी कचौरी आदि) को कांसे अथवा काष्ठके पात्रमें स्थापन करै ॥ ६२ ॥

शृतं क्षीरं स्थापनीयं पात्रे काष्ठस्य वा मृदः ॥
पानीयं पायसं तक्रं मृन्मयेष्वेव धारयेत् ॥ ६३ ॥

अर्थ—औटाये हुए दूधको काष्ठ अथवा मृत्तिकाके पात्रमें ठंढा करना चाहिये जल, क्षीर, तक्र इन सबको स्वच्छ मृत्तिकाके पात्रमें रखना चाहिये ॥ ६३ ॥

कांचने स्फाटिके वाथ वैडूर्यादिविचित्रिते ॥
धारयेत्सर्वदा पात्रे रागषांडवसक्तुकान् ॥ ६४ ॥

अर्थ—मुरब्बा, पन्ने, चटनी, सीखरन, अमरस और सत्तू ऐसे पदार्थोंको सोने स्फटिक (काच अथवा बिल्लोरी पत्थर आदि) अथवा वैडूर्यमणि आदिसे जडे हुए पात्रोंमें रखना चाहिये ॥ ६४ ॥

एतेषु स्थापितं द्रव्यं पात्रेषु गुणदं भवेत् ॥
सर्वदा सुखदं हृद्यमन्यथा दोषकारकम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—कहे हुए इन पात्रोंमें उक्त क्रमके अनुकूल पदार्थोंको स्थापन करनेसे गुणकारी और सर्वकालमें सुखके देनेवाले और चित्तको प्रसन्न

रखनेवाले होते हैं अन्यथा (अर्थात् विपरीत क्रमसे) धरे तो विकारकारी होते हैं ॥ ६५ ॥

वस्तूनि भोजनार्हाणि विविधानि पुनः पुनः ॥
सर्वाणि गुणयुक्तानि स्थापितानि महानसे ॥ ६६ ॥

अर्थ-रसोइयाको चाहिये कि भोजनके योग्य नाना प्रकारके गुणकारी सर्व पदार्थोंको रसोईके समयमें चूल्हेके समीप स्थापन करै॥६६॥

पितृपैतामहो दक्षः शास्त्रीयो मिष्टवाचकः ॥
शौचवानतिभक्तश्च सूपकारः स उच्यते ॥ ६७ ॥

अर्थ-जिसके कुलमें परंपरासे रसोई करनेका व्यवहार चला आता हो, रसोई बनानेमें बहुत चतुर हो (अर्थात् जो वस्तु एक बार देखी व सुनी हो उसको कर लेवे) और सूपशास्त्रके ग्रंथों (नलपाक, भीमपाक, भोजपाक, वीरपाक आदि) को श्रेष्ठ रीतिसे जानता हो, मीठे वाक्योंका बोलनेवाला हो (अथवा 'मिष्टपाचकः' यानि रुचिकारी पदार्थोंको पकानेवाला हो अर्थात् ऐसा न हो कि किसीमें नोन किसीमें मिरच और किसीमें खटाई अधिक हो) और स्नान, वस्त्र आदिसे बहुत पवित्र रहता हो अपने स्वामीका अत्यंत भक्त हो ऐसे पुरुषको सूपकार (रसोईया) बनावै ॥ ६७ ॥

पुत्रपौत्रगुणोपेतः शास्त्रज्ञो मिष्टपाचकः ॥
शूरश्च कठिनश्चैव सूपकारः स इष्यते ॥ ६८ ॥

अर्थ-बेटे, पोते आदि कुटुंबसे युक्त हो (अर्थात् बेटे पोते धन धान्य आदि समृद्धिवाला हो) और नलपाक आदि शास्त्रोंका ज्ञात हो, रुचिकारी पदार्थोंके पकानेवाला हो कायर न हो (अर्थात् किसीके डरानेसे अपने स्वामीका अपकार करनेको उद्यत न हो) दृढ मनवाला हो (अर्थात् किसीके धन आदिके लोभ देनेसे भी पाकमें व्यत्यय करनेवाला न हो अथवा स्वामीके निमित्त किये हुए पदार्थों-

मेंसे किसी प्रकार चुरा लेनेवाला न हो) ऐसे मनुष्यको उत्तम सूपकार कहा है ॥ ६८ ॥

भवेयुर्धार्मिकाः स्निग्धाः सूपकाराः क्रमागताः ॥
धृतोष्णीषाश्च शुचयस्तथा वैद्यवशे स्थिताः ॥ ६९॥

अर्थ–धर्मनिष्ठ, और कोमल स्वभाववाले, परंपरासे रसोंई बनानेवाले अच्छे स्वच्छ पगडी आदि वस्त्रोंको धारण करनेवाले, स्नान आदि क्रियाओंसे शुद्ध रहनेवाले और राजवैद्यके कथनानुसार पथ्यभोजनको पकानेवाले मनुष्यही राजाके पाककार (रसोइये) होने चाहिये ॥ ६९ ॥

नृपामित्रद्विषो दक्षा बलिष्ठाः कुलसंभवाः ॥
सर्वपाकेषु निष्णाता दयावंतो विचक्षणाः ॥ ७० ॥

अर्थ–राजाके शत्रुओंसे द्वेष रखनेवाले, बडे विचक्षण, अच्छे बलिष्ठ, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, संपूर्ण प्रकारके पाक बनवानेमें कुशल, अच्छे दयावान् अदृष्ट पाक आदिके बनानेमें भी उद्यत ऐसे मनुष्यही पाककारी होने चाहिये ॥ ७० ॥

अन्येपि तत्र ये केचिच्चरंति परिचारकाः ॥
तेपि चैवंविधा योज्यास्तदध्यक्षोपि तादृशः ॥ ७१ ॥

अर्थ–उस पाकशालामें जो कोई अन्य नोकर (जल भरनेवाला पात्र आदि स्वच्छ करनेवाला इत्यादि) भी रक्खा जावै वेभी सूपकारोंके समान कुलीन आदि होने चाहिये और पाकशालाका अध्यक्षभी सूपकारोंके सब गुणोंसे संपन्न होना चाहिये ॥ ७१ ॥

सूपकारपतिस्तत्र प्रायो वैद्यगुणान्वितः ॥
क्षणं न विश्वसेत्तांस्तु तत्त्वज्ञस्तत्प्रशासनः ॥ ७२ ॥

अर्थ–उक्त पाकशालाका अध्यक्ष (अधिकारी) अतिशय वैद्यके गुणोंसे युक्त हो (अर्थात् ऋतुआदिके अनुकूल भक्ष्य तथा अभक्ष्य पदार्थोंको जाननेवाला हो) और पाककारियोंके उक्त गुणोंसे

युक्त होनेपर भी उनका क्षणमात्रभी विश्वास न करै (अर्थात् पाककी श्रेष्ठता आदिमें सदा परीक्षा करता रहै) और देखनेसेही पाकके स्वाद आदिको जाननेवाला हो और क्षणक्षणमें पाककारियोंको शिक्षा देने-वाला हो ऐसे पुरुषको पाकशालाका अध्यक्ष बनावै ॥ ७२ ॥

जीवनं जीविनामन्नमृतूक्तं विधिपाचितम् ॥
तदेवाविधिना भुक्तं परिणामे विषोपमम् ॥ ७३ ॥

अर्थ–जो जो पदार्थ जिस जिस ऋतुमें सेवन करने योग्य कहा है उसी ऋतुके अनुकूल विधिपूर्वक पचाया हुआ अन्न जीवोंका जीवन है (अर्थात् विधिपूर्वक पकाये हुए अन्नके भक्षण करनेसे आयुर्बल और बुद्धिकी वृद्धि होती है) वहही अन्न ऋतुके विपरीत अविधिसे पका हुआ और अविधिसे भोजन किया हुआ पचनेके उपरांत विषके तुल्य (अर्थात् आयुर्बल और बुद्धिका नाशक) होता है ॥ ७३ ॥

ऋतूणां लक्षणं ज्ञात्वा ततस्तद्विधिमाचरेत् ॥
इहामुत्र प्रसिद्ध्यर्थं भोजने यत्नवान् भवेत् ॥ ७४ ॥

अर्थ–इस कारण राजाको उचित है कि प्रथम ऋतुके लक्षणोंको जानके तदनंतर ऋतुके अनुकूल भोजनविधिको आचरण करै इस लोक और परलोककी सिद्धिके अर्थ बुद्धिमान्को सदा भोजनमें यत्न-वान् होना चाहिये (अर्थात् ऋतुके विपरीत अपथ्यकारी और अप-वित्रतासे पके हुए अन्नके भक्षण करनेसे इस लोकमें आयुर्बल और बुद्धिका नाश होता है और अपवित्र पुरुषोंके हाथसे अविधिपूर्वक पका हुआ अन्न आचार और धर्मके नाशक होनेसे परलोकमें नर-कका कारण होता है) ॥ ७४ ॥

अथ भोजनशाला ।

भोजन करने योग्य स्थान कहते हैं ॥

स्वच्छं व्यवकरं लिप्तं गोमयाद्यैर्मनोहरम् ॥
सुधाधवलितं सम्यक् प्रतिमाद्यैर्विचित्रितम् ॥ ७५ ॥

गीतैः कलपदैर्जुष्टं पुष्पवृक्षैः सुशोभितम् ॥
अगुरुचंदनाभ्यां वै कर्पूरेण सुधूपितम् ॥ ७६ ॥
सिक्तं पुष्परसैः सम्यक् सर्वतः समलंकृतम् ॥
दुष्टशब्दादिरहितं तच्छस्तं भोजनालयम् ॥ ७७ ॥

अर्थ–साफ (निर्मल) और मलीन पदार्थोंसे वर्जित, गोमयको आदि लेके अच्छे उत्तम पदार्थोंसे लिपा हुआ, जिसके देखनेहीसे मन प्रसन्न हो जाय, बाह्य और भीतर खडी तथा कल्लीसे पुता हुआ, परमेश्वरके अवतार तथा महत् पुरुषोंके विविध प्रकारके चित्र और अनेक प्रकारके चित्रकारी पदार्थोंसे सजा हुआ, सुंदर मनोहर ध्वनियुक्त अनेकविध गान और वादित्रकी ध्वनियोंसे संयुक्त, नाना प्रकारके पुष्पोंसे संयुक्त वृक्षोंके गमलोंसे चारों ओर अत्यंत शोभायमान, अगुरु, चंदन, कपूर आदि नाना प्रकारके सुगंधित पदार्थोंकी धूपसे सुगंधित और गुलाब आदिके जलोंसे भले प्रकार छिडका हुआ, संपूर्ण ऋतुओंके अनुकूल पदार्थोंसे सजा हुआ, जहां दुष्ट पुरुष तथा स्त्रियोंकी दृष्टि और व्यथाजनक शब्दोंका संचारभी नहीं हो सकता हो ऐसे स्थान राजाओंके भोजन करनेमें आनंददाई होते हैं ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

भोक्तारं विजने रम्ये निःस्वांते च शुभे शुचौ ॥
सुगंधिपुष्परचिते समे देशे च भोजयेत् ॥ ७८ ॥

अर्थ–जिस स्थानमें दुष्ट जनोंका संसर्ग न हो, अत्यंत रमणीय हो, अंधकारसे वर्जित हो, सब इंद्रियों और मनको आनंददायी हो, अच्छा पवित्र हो, अच्छे सुगंधित पदार्थ तथा पुष्पोंके गुच्छोंसे अलंकृत हो, ऐसे स्थानके सम देशमें, राजाओंको भोजन करना योग्य है ॥ ७८ ॥

आहारं विजने कुर्यान्निर्हारमपि सर्वदा ॥
उभाभ्यां लक्ष्म्युपेतः स्यात् प्रकाशे हीयते श्रिया ७९॥

अर्थ–बुद्धिमान्‌को चाहिये कि दुष्टजनरहित एकांतस्थानमें भोजन करै और मलमूत्रका त्यागभी सर्वदा जनरहित एकांत स्थानहीमें करै क्योंकि इन बातोंको एकांतमें करनेसे ऐश्वर्य प्राप्त होता है और सबके समक्ष प्रगट करनेसे लक्ष्मीरहित होता है ॥ ७९ ॥

आहारनिर्हारविहारयोगाः सदैव सद्भिर्विजने विधेयाः ॥
शास्त्रोक्तरीत्या विमलप्रदेशे लक्ष्म्या यतस्ते खलु सेवनीयाः ॥ ८० ॥

अर्थ–श्रेष्ठ मनुष्योंको उचित है कि आहार (भोजन) निर्हार (मलमूत्रका त्याग) और विहार (स्त्रीसंग आदि) शास्त्रोक्त रीतिके अनुकूल मलरहित एकांतस्थानमें करने चाहिये क्योंकि इन बातोंको विमल एकांतस्थानहीमें करनेसे निश्चय लक्ष्मीके सेवन करने योग्य होते हैं (विमलपदका अभिप्राय यह है कि निर्हारभी कदापि गंधेले स्थानमें न करै कारण कि गंधेले स्थानके कारण अनेकविध शारीरिक हानि होती है) ॥ ८० ॥

अथ भोजनसमयः ।

भोजन करनेका समय कहते हैं ॥

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत् ॥
याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद्बलक्षयः ॥ ८१ ॥

अर्थ–प्रथम प्रहरके भीतर भोजन न करै और दो प्रहरको उल्लंघन न होनेदे क्योंकि प्रथम यामके मध्य रसकी उत्पत्ति होती है और दो प्रहरको उल्लंघन करनेसे बलकी हानि होती है (प्रथम प्रहरमें रसकी उत्पत्ति होती है इस कारण प्रथम प्रहरमें कियां हुआ भोजन अच्छी रीतिसे परिपक्व नहीं होता) ॥ ८१ ॥

क्षुत् संभवति पक्वेषु रसदोषमलेषु च ॥
काले वा यदि वाकाले सोऽन्नकाल उदाहृतः ॥८२॥

अर्थ-रस, दोष, मल इनके पक्व होनेसे प्राणिमात्रको भूख लगती है वह क्षुधा जिस किसी समयमें लगै उसी समयको भोजनकाल कहा हैं (अर्थात् जिस समयमें भूख लगे उसी समयमें भोजन करै) ॥ ८२ ॥

यथोक्तगुणसंपन्नमुपसेवेत भोजनम् ॥
विचार्यदोषकालादीन् कालयोरुभयोरपि ॥८३॥

अर्थ-दोष, काल आदिके बलाबलको यथार्थ रीतिसे विचारके प्रभात और सायंकालके समयमें आयुर्वेदोक्त गुणोंसे संपन्न भोजनको सेव न करै (अर्थात् आयुर्वेदोक्त रीतिके अनुकूल भोजन करै) ॥८३॥

सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिनोदितम् ॥
नांतरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥ ८४ ॥

अर्थ-मनुष्योंको प्रातःकाल और सायंकालमें भोजन करनेके निमित्त वेदोंकी आज्ञा है उक्त दोनों समयके विना बीचमें भोजन न करै क्योंकि भोजनकी विधिभी अग्निहोत्रके समान कही है (अर्थात् जैसे अग्निहोत्र यथोक्त कालमेंही करते हैं वैसेही भोजनके समयमेंही भोजन करना चाहिये) ॥ ८४ ॥

आहारकाले संप्राप्ते यो न भुंक्ते बुभुक्षितः ॥
तस्य सीदति कायाग्निर्निरिंधन इवानलः ॥ ८५ ॥

अर्थ-भोजनका समय प्राप्त हो जानेपरभी जो मनुष्य अत्यंत क्षुधित होकेभी भोजन नहीं करता उस मनुष्यके आहाररूप इंधन क्षीण हो जानेसे जठराग्नि क्षीण हो जाती है, जैसे बाह्य अग्नि काष्ठके विना स्वयंही शीतल हो जाती है (अर्थात् वक्तपर काष्ठ नहीं मिलनेसे अग्नि स्वयं नष्ट हो जाती है वैसेही क्षुधित होनेपर भोजन नहीं मिलनेसे जठराग्निभी नष्ट होजाती है) ॥ ८५ ॥

स्नात्वा प्रक्षाल्य पादौ च स्रग्दामालंकृतः शुचिः ॥
पंचयज्ञावशिष्टं च यो भुंक्ते सोऽमृताशनः ॥ ८६ ॥

अर्थ–नित्य आह्निक क्रिया करनेके अनंतर यदि किसी अस्पृश्य जातिसे स्पर्श हो जानेका संदेह हो जावे तो स्नान करै और ऐसी संभावना नहीं होवै तो पादप्रक्षालनादि करके पुष्पमाला आदिको धारण करके सुंदर अलंकृत होकर पवित्रतापूर्वक जो मनुष्य पंचयज्ञोंके अवशेष अन्नको भक्षण करता है वह प्रतिदिन अमृत भोजन करता है (अर्थात् बलिवैश्वदेव करके जो मनुष्य अवशेष भोजन करता है वह साक्षात् देवभोजन कहाता है) ॥ ८६ ॥

पादुकास्थो न भुंजीत पर्यंके संस्थितोऽपि वा ॥
शुना चांडालदृष्टो वा भोजनं परिवर्ज्जयेत् ॥ ८७ ॥

अर्थ–बुद्धिमान्‌को चाहिये कि पावडी, तथा जूता, पहनके कदापि भोजन न करै और पर्यंक (पलंग) पर बैठकेभी भोजन न करै और श्वान तथा चांडाल आदि और अन्यभी अंत्यजातियोंके देखते कदापि भोजन न करै ॥ ८७ ॥

हीनदीनक्षुधार्त्तानां पापपाखंडरोगिणाम् ॥
कुक्कुटाहिशुनां दृष्टिर्भोजने नैव शोभना ॥ ८८ ॥

अर्थ–हीन मनुष्य, भिखारी, बुभुक्षित, पापी, पाखंडी, रोगिष्ठ, कुक्कुट, सर्प, श्वान इनकी भोजनपर दृष्टि पडनेसे अशुभ कहते हैं। इस कारण बुद्धिमान्‌को उचित है कि, इनकी दृष्टिको बचाके भोजन करै बिल्ली, घुग्घू तथा शत्रु इनकी दृष्टिभी शास्त्रोंमें अशुभ कही है ८८॥

पितृमातृसुहृद्वैद्यपाककृद्धंसबर्हिणाम् ॥
सारसस्य चकोरस्य भोजने दृष्टिरुत्तमा ॥ ८९ ॥

अर्थ–माता, पिता, सुहृद (भाई मित्र और संबंधी) वैद्य, रसोइया, हंस, मयूर, सारस और चकोर इनकी दृष्टि भोजनपर उत्तम कही है परंतु बहुत भूखे हो तौ इनकी दृष्टिका भी निषेध है ॥ ८९ ॥

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्य्यैः परिचारकैः ॥
सुपरीक्षितमन्नाद्यमद्यान्मंत्रैर्विषापहैः ॥ ९० ॥

अर्थ–वहां भोजनशालामें अपने समान भोजनके समयको जानने-वाले सुहृदोंसे और किसी प्रकार भेदको प्राप्त नहीं होनेवाले परिचार-कोंसे तथा विष आदि दोषोंको दूर करनेवाले मंत्रोंसे सुंदर परीक्षा किये हुए अन्नादि पदार्थोंको राजा भोजन करै ॥ ९० ॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत् ॥
विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा ॥ ९१ ॥

अर्थ–राजाके भोजनार्थ बने हुए सब द्रव्योंको प्रथम विषादिकोंके दोषोंको दूर करनेवाली औषधियोंसे संयोजन करै और राजाको भी उचित है कि विष आदिसे जनित दोषोंको दूर करनेवाले रत्नों (मणियों) को सदा धारण करै ॥ ९१ ॥

विषदोषभयादन्नं विमृश्य कपिकुक्कुटैः ॥
हंसाःस्खलंति कूजंति भृंगा नृत्यंति माथुराः ॥९२॥

अर्थ–यदि किसी प्रकार विषादि देनेकी शंका हो तो कपि (वानर) तथा कुक्कुट आदिसे राजा प्रथम अपने सामने अन्नादि पदार्थोंकी परीक्षा करावै, क्योंकि जहरीले अन्नको खातेही हंस अपनी गतिको भूल जाता है और भ्रमर अत्यंत बोलने लगता है और मयूर नृत्य करने लगता है ॥ ९२ ॥

विरौति कुक्कुटो मत्तः क्रौंचो वै रेचते कपिः ॥
हृष्टरोमा भवेद्बभ्रुः सारिका वमते तथा ॥ ९३ ॥

अर्थ–विषमिश्रित अन्नके भक्षण करनेसे कुक्कुट अत्यंत बोलने लगता है और क्रौंचपक्षी उन्मत्त हो जाता है वानर विलाप करने लगता है अथवा विरेचन कर देता है और नकुल अत्यंत हर्षित होता है सारिका (मैना) वमन कर देती है ॥ ९३ ॥

हंसाः स्खलंति गतिषु प्रसभं चकोरो
धत्ते विरक्तिमाचिरेण विलोक्य जग्ध्वा ॥

अन्नादिषणे कलितादुत एव तेभ्यो
दत्त्वाऽल्पमन्नमथ पात्रगतात्ततोऽद्यात् ॥ ९४ ॥

अर्थ-हंस विष मिले अन्नके भक्षण करनेसे अपनी गति भूल जाता है चकोर विषमिश्रित अन्नको देखके तथा खाके तत्काल अत्यंत विरक्त हो जाता है इसी कारण राजाको चाहिये कि थालमें परोसे हुए अन्नमेंसे किंचित् अन्न कहे हुए जीवोंको देकर परीक्षा करनेके अनंतर आप भोजन करै ॥ ९४ ॥

भक्तं पर्युषितोपमं विषयुतं सूपो हरित् फेनिलो
मांसं नीरसनीलराजि झटिति व्याशुष्याति व्यंजनम् ॥
क्षीराद्यं तु पिशंगपीतातियुतं पुष्पं विगंध्यं वरम्
श्यामं चांबुनि चान्यदेवमुदितं वैरस्यवैवर्ण्ययुक् ९५ ॥

अर्थ-विष मिलनेसे ताजा भातभी बासीके समान हो जाता है और विष मिलनेसे दालमेंभी हरे झाग आ जाते हैं विष मिलनेसे ताजा मांसभी तत्काल रसहीन और नीली रेखाओंसे व्याप्त हो जाता है और विष मिलनेसे आर्द्र व्यंजन (साग) भी सूख जाता है दूध आदि पदार्थोंमें विष मिलनेसे कुछ पीला अथवा हलदीके समान पीली रेखाओंसे व्याप्त हो जाते हैं फूलोंमें विष मिलनेसे उत्तम फूलभी दुर्गंधीसे युक्त हो जाता है और जलमें विष मिलनेसे श्याम तथा अस्वादिष्ठ हो जाता है इसी प्रकार सूखे अन्न, पान बीडी, फल आदिमें विष मिलनेसे स्वाद और वर्ण बिगड जाता है ॥ ९५ ॥

दृष्ट्वैव सविषं चान्नं तस्माद्भोज्यं परीक्षयेत् ॥
भुंजीत षड्रसं नित्यं न द्वित्रिरससंकुलम् ॥ ९६ ॥

अर्थ-विषमिश्रित अन्नको देखके उक्त रीतिसे भोजनकी परीक्षा करै राजाको उचित है कि नित्यप्रति छः रसोंसे बने हुए पदार्थोंका भोजन करै दो तीन रसोंसे मिश्रित भोजन न करै ॥ ९६ ॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने ॥
स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च ॥ ९७ ॥

अर्थ—इसी प्रकार वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान अनुलेपन और सब प्रकारके अलंकार आदिमें विषकी यत्नपूर्वक परीक्षा करे ॥९७॥

समाप्य चाह्निकं कृत्स्नं समाहितमना नृपः ॥
प्रविशेद्भोजनार्थं च स्त्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ ९८ ॥

अर्थ—राजा बहुत सावधानीसे संपूर्ण दिनकृत्यको नियत कालपूर्वक समाप्त करके रात्रिके प्रथम याम (पहर) के समयमें भोजन करनेके निमित्त रानियोंके साथ अपने अंतःपुरमें जावे ॥ ९८ ॥

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषैः प्रहर्षितः ॥
संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ ९९ ॥

अर्थ—अंतःपुरमें भोजन करके फिर किंचित्कालपर्यंत नाना प्रकारके मनोहर वाद्यों (बाजों) की मीठी मीठी सुंदरध्वनियोंसे आनंदित होके नियमित कालमें शयन करे और रात्रिके पश्चिम याममें गतश्रम होके उठै ॥ ९९ ॥

अथ राजसभा ।

राजसभाके योग्य स्थान कहते हैं ।

राज्ञा राजसभा कार्या सुगुप्ता सुमनोरमा ॥
त्रिकोष्ठैः पंचकोष्ठैर्वा सप्तकोष्ठैः सुविस्तृता ॥ १०० ॥

अर्थ—राजा अपने राज्यसंबंधी कार्योंको करनेके निमित्त ऐसी राजसभा बनावे जो अत्यंत गुप्त और मनोहर हो और तीन, पांच अथवा सात कमरोंके विस्तारसे युक्त हो ॥ १०० ॥

दक्षिणोदक्तथा दीर्घा प्राक्प्रत्यग्द्विगुणाथवा ॥
त्रिगुणा वा यथाकाममेकभूमिर्द्विभूमिका ॥ १०१ ॥

त्रिभूमिका वा कर्त्तव्या सोपकार्या शिरोगृहा ॥
परितः परिकोष्ठेषु वातायनविराजिता ॥ १०२ ॥

अर्थ—दक्षिण उत्तरको तथा पूर्व पश्चिमको अपनी इच्छाके अनुकूल द्विगुणी अथवा त्रिगुणी (तीन गुणी) लंबी और एक मंजली अथवा दो मंजली तथा तीन मंजली बनावै और जिसके ऊपरका गृह राज्ययोग्य विविध शस्त्रास्त्र आदि तथा अनेक प्रकारके चित्र आदिसे सुसज्जित हो और चारों ओरके कोष्ठों (कमरों) में अच्छे सुंदर गवाक्ष (गोखे) बनाये गये हों ॥ १०१ ॥ १०२ ॥

पार्श्वकोष्ठात्तु द्विगुणो मध्यकोष्ठस्य विस्तरः ॥
पंचमांशाधिकं त्वौच्चं मध्यकोष्ठस्य विस्तरात् ॥ १०३ ॥

अर्थ—पार्श्व (पसवारे) के कमरोंसे बीचके कमरेका विस्तार दूना हो और बीचके कमरेकी ऊँचाई अपने विस्तारसे पंचम भाग अधिक हो ॥ १०३ ॥

विस्तारेण समं त्वौच्चं पंचमांशाधिकं तु वा ॥
जलोर्द्ध्वपातियंत्रैश्च युता सुस्वरयंत्रकैः ॥ १०४ ॥

अर्थ—अथवा सब कमरे अपने विस्तारके समान तथा विस्तारके पंचम भागसे अधिक ऊँचे हों फव्वारे और मीठी आवाजवाले बाजोंसे युक्त हो ॥ १०४ ॥

वातप्रेरकयंत्रैश्च यंत्रैः कालप्रबोधकैः ॥
प्रतिष्ठिता च स्वादर्शैस्तथा च प्रतिरूपकैः ॥ १०५ ॥

अर्थ—वायुके चलानेके यंत्र (कलके पंखे) और समयके बोध करानेवाले यंत्र जगौनी (घडियें) और उत्तम आदर्श (शीशे) और विविध प्रकारकी तस्वीरोंसे अत्यंत शोभायमान हो ॥ १०५ ॥

एवंविधा राजसभा मंत्रार्था कार्यदर्शने ॥
तथाविधामात्यलेख्यसभ्यादिकृतशालिका ॥ १०६ ॥

अर्थ-राज्यसंबंधी यावन्मात्र कार्योंकी सम्मति (सलाह) करनेके निमित्त तथा न्यायके अर्थ राजा इस प्रकारकी राजसभा बनावे और तहसील, दफतर, फौजदारी, आदिकी शाला (कचहरियें) भी इसी प्रकार पृथक् पृथक् बनावे और तहसील आदिकी शालाओंको अपने अपने अधिकारियोंके अधिकारमें कर दे ॥ १०६ ॥

कर्त्तव्याश्च पृथक्त्वेतास्तदर्थाश्च पृथक् पृथक् ॥
शतहस्तमितां भूमिं त्यक्त्वा राजगृहात् सदा १०७॥

अर्थ-इन तहसील आदिकी शालाओंको राजसभासे पृथक् पृथक् बनावे और इनके कार्यभी पृथक् पृथक् होते रहैं और राज्यगृहसे सौ हाथ भूमिको छोडके उक्त सब सभाओंको बनावे ॥ १०७ ॥

राजमार्गास्तु कर्त्तव्याश्चतुर्दिक्षु नृपगृहात् ॥
उत्तमो राजमार्गस्तु त्रिंशद्धस्तमितो भवेत् ॥ १०८॥
मध्यमो विंशतिकरो दशपंचकरोऽधमः ॥
पण्यमार्गास्तथा चैते ग्रामादिषु स्थिताः ॥ १०९ ॥

अर्थ-राजगृहसे चारों दिशाओंमें राजमार्ग (सडक) बनावै जो तीस हाथका चौडा राजमार्ग है वह उत्तम और बीस हाथका चौडा मध्यम और पन्द्रह हाथका चौडा हीन कहलाता है और पुर, ग्राम, आदिके विषयमें उक्त तीनोंप्रकारके मार्ग (बाजार आदि) में भी उत्तम, मध्यम, और अधमसंज्ञक कहाहै ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

करत्रयात्मिका पद्या वीथिः पंचकरात्मिका ॥
मार्गो दशकरः प्रोक्तो ग्रामेषु नगरेषु च ॥ ११० ॥

अर्थ-ग्राम (कसबे) और नगर (शहरों) में तीन हाथके मार्गको पद्या (पगदंडी) और पांच हाथके मार्गको वीथिः (गली) और दश हाथ चौडे मार्गको मार्ग कहते हैं (अर्थात् बाजारको छोडके ग्राम आदिमें इन मार्गोंको यथायोग्य स्थापन करै बाजारका मार्ग पन्द्रह हाथसे कहीं भी कम न करै) ॥ ११० ॥

प्राक् पश्चाद्दक्षिणोदक् तान् ग्राममध्यात्प्रकल्पयेत् ॥
पुरं दृष्ट्वा राजमार्गान् सुबहून् कल्पयेन्नृपः ॥ १११ ॥

अर्थ—ग्रामके मध्यभागसे पूर्व, और पश्चिमको, वैसेही दक्षिण, और उत्तरको सीधे मार्ग बनावै (अर्थात् चौपडके समान सडकैं बनावै) राजा ग्रामको देखके ग्रामके अनुकूल बहुतसे राजमार्गोंकी कल्पना करै (अर्थात् शहरके अनुकूल बहुतसे चौपड बनावे) ॥ १११ ॥

न वीथीं न च पद्यां वै राजधान्यां प्रकल्पयेत् ॥
कूर्मपृष्ठा मार्गभूमिः कार्या ग्राम्यैः सुसेतुका ॥ ११२ ॥

अर्थ—राजधानीके शहरमें पांच हाथ और तीन हाथका चौडा मार्ग कदापि न बनावै (अर्थात् राजधानीके शहरमें पगदंडी, और गली कहींभी न बनावै) मार्गकी भूमि कछुवेके मोरां (पीठ) के समान और सुंदर सडकवाली ग्रामनिवासियोंसे बनावै (अर्थात् मार्गकी सडकका खर्च ग्रामवासियोंसे लेवे ॥ ११२ ॥

कुर्यान्मार्गान् पार्श्वखातान् निर्गमार्थं जलस्य च ॥
नित्यं संमार्जितान् सिक्तान् दंडहस्तैः सुगोपितान् ११३

अर्थ—ग्रामके मार्गोंकी सडकोंके दोनों पार्श्व (बाजू) जल निकालनेकी नालियें बनवावै और सडकोंको नित्य साफ रक्खै और जलका छिडकावभी दिलावे और दंडेवाले सिपाहियोंसे मार्गोंको सुंदर रक्षित करै (अर्थात् ग्रामकी रक्षाके निमित्त सडकोंपर पुलीसके सिपाहियोंको नियत करै) ॥ ११३ ॥

मार्गान् सुधाशर्करैर्वा घटितान् प्रतिवत्सरम् ॥
अभियुक्तैर्निरुद्धैर्वा कुर्याद्ग्राम्यजनैर्नृपः ॥ ११४ ॥

अर्थ—राजा अपने राज्यके ग्रामोंकी सडकोंपर अभियुक्त (मजूर) तथा निरुद्धों (कैदियों) से वर्षवर्षके प्रति चूना और कंकरोकी कुटाई करावै ॥ ११४ ॥

अथ राष्ट्रसंग्रहः ।

इसके अनंतर राज्यरक्षाका विधान कहते हैं ।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ॥
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥ ११५ ॥

अर्थ—अपने राष्ट्रकी रक्षा करनेके निमित्त राजा इस विधानका नित्य प्रचार करै क्योंकि नीतिपूर्वक राज्यकी रक्षा करनेवाला राजा विना श्रमके अनेक सुखोंको भोगता है ॥ ११५ ॥

द्वयोस्त्रयाणां पंचानां मध्ये गुल्मं प्रतिष्ठितम् ॥
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥ ११६ ॥

अर्थ—दो २ या तीन २ या पांच २ ग्रामोंके ऊपर देशानुसार प्रतिष्ठित पुरुषोंसे युक्त गुल्म (थाना) नियत करै और वैसेही सौ २ ग्रामोंके ऊपर एक तहसील नियत करै ॥ ११६ ॥

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा ॥
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ ११७ ॥

अर्थ—राज्यरक्षाके निमित्त एक २ ग्राममें एक २ अधिप पुरुषको नियत करै और उन दश ग्रामोंपर एक दूसरा अधिप नियत करै और वैसेही उन बीस ग्रामोंपर तीसरा एक प्रतिष्ठित पुरुष और उनही सौ ग्रामोंपर चौथा एक प्रतिष्ठित और उनही हजार ग्रामोंपर पांचवां एक प्रतिष्ठित पुरुष नियत करै जैसे एक एक ग्राममें एक एक पटवारी और उनही दश ग्रामोंमें एक थाना और उन दो थानोंपर एक बडा थाना और उन पांच थानोंपर एक तहसील और उनही दश तहसीलोंपर एक जिला इस क्रमसे नियत करै ॥ ११७ ॥

अधिकृतो दशग्रामे नायकः स च कीर्तितः ॥
अधिनायकमेवाहुर्विंशतीशं विचक्षणाः ॥ ११८ ॥

अर्थ-दश ग्रामापर जो अधिपति नियत किया जाय उसको नायक (नायब) कहते हैं और बीस ग्रामोंपर जो एक अधिप नियत किया जाय उसको बुद्धिमान् अधिनायक (हाकिम) कहते हैं ॥ ११८ ॥

शतग्रामे चाधिकृतोऽनुसामंतो नृपेण सः ॥
अधिकृतः सहस्रे तु स वै सामंतसंज्ञकः ॥ ११९ ॥

अर्थ-राजाने सौ ग्रामोंपर जिसको अधिप किया हो वह अनुसामंत कहाता है और हजार ग्रामोंपर जिसको अधिप किया हो वह सामंतसंज्ञक कहाता है ॥ ११९ ॥

आशापालोऽयुतग्रामभागभाक्च सुराडपि ॥
अधिराट् स च विज्ञेयः प्रयुतग्रामभागभाक् ॥१२०॥

अर्थ-दश हजार ग्रामोंपर जो अधिप नियत किया गया हो वह आशापाल या सुराट् कहाता है और लक्ष ग्रामोंपर जो अधिप हो वह अधिराट् कहलाता है ॥ १२० ॥

ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ॥
शंसेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ १२१ ॥

अर्थ-एक ग्रामका अधिकारी ग्राममें जो चौर आदिकोंका उपद्रव हो उसका शासनके निमित्त तत्काल दशग्रामके अधिपको स्वयं जाके या पत्रद्वारा नित्य सूचित करै और दश ग्रामका अधिप अपने अधिकारमें स्थित दश ग्रामोंके उपद्रव आदि दोषोंकी नित्यप्रति बीस ग्रामोंके अधिपको पत्रद्वारा सूचना दे ॥ १२१ ॥

विंशतीशस्तु तत् सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ॥
शंसेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ १२२ ॥

अर्थ-बीस ग्रामोंका अधिप उनही बीस ग्रामोंके वर्त्तमान कार्यकी नित्यप्रति अनुसामंतको तत्काल सूचना देवै और अनुसामंतभी अपने अधिकारस्थ सौ ग्रामोंके वर्त्तमान कार्यकी नित्यप्रति सामंतको तत्काल

सूचना देवै इस प्रकार प्रबंध करनेसे राज्यरक्षा उत्तम रीतिसे होती है (अर्थात् इन क्रमसे सूचना देनेसे सार्वभौमकोभी भूगोलका सब समाचार नित्य प्रति ज्ञात हो जाता है) ॥ १२२ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ॥
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतंद्रितः ॥ १२३ ॥

अर्थ–उन ग्रामाधिपतियोंके किये हुए ग्रामसंबंधी कृत्याकृत्य तथा अन्यभी कृत्याकृत्यको स्पष्ट करनेके निमित्त राजाका विश्वासपात्र ऐसा एक कुलीन धर्मात्मा न्यायपरायण सभाध्यक्ष नियत करना चाहिये कि जो आलस्य छोडके सदा उन कार्योंको देखा करै और एक ऐसी सभा नियत करै कि जो उक्त ग्रामोंके अधिपोंके कृत्याकृत्यकी अपील सुना करै ॥ १२३ ॥

नगरे नगरे चैकं कुर्यात् सर्वार्थचिंतकम् ॥
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२४ ॥

अर्थ–बडे २ नगरोंमें एक २ राजा प्रजाके हितार्थ विचार करनेवाली सभा ऐसी बनावै जो सुंदर ऊँची और विशाल हो जैसे नक्षत्रोंके मध्य चंद्रमा हो और वह स्थान हाथी घोडे पैदल फौज आदिके समूहसे अन्यायकारियोंको भय देनेवाला हो (अर्थात् अच्छे २ नगरोंमें राजा प्रजाके सकलहितार्थचिंतनके निमित्त सज्जन पुरुषोंसे अधिष्ठित ऐसी सभा नियत करै जिसका अधिप सर्वदा दौरा किया करै और प्रजा तथा न्यायाधीशोंके कृत्याकृत्यको गुप्त चारोंके द्वारा जाना करै ॥ १२४ ॥

स तानु परिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ॥
तेषां वृत्तं परिणयेत् सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १२५ ॥

अर्थ–जो सर्वार्थचिंतक सभाका अधिप है वह ग्रामाधिप आदिकोंकी सहायताके निमित्त या उनके कृत्याकृत्य (अच्छे बुरे

कामों) को जाननेके अर्थ अपने सहायक पुरुषोंसहित सदा दौरा किया करे और अपने अधीन गुप्त चार (गुप्त पुलीस) के द्वारा उन ग्रामाधिप आदिकोंके सब कामोंको जानके दुराचारियोंका दंड और न्यायपरायणोंको मान देता रहै ॥ १२५ ॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ॥
भृत्या भवंति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १२६ ॥

अर्थ–प्रजाकी रक्षाके निमित्त नियत किये गये जो राजाके ग्रामाधिपति आदि भृत्य हैं उनमें वहुतसे भृत्य निश्चय मूर्ख परधन हरनेवाले होते हैं इस कारण उन दुष्टोंसे सर्वार्थचिंतकसभाके पुरुषोंद्वारा राजा प्रजाकी रक्षा करै ॥ १२६ ॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ॥
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात् प्रवासनम् ॥ १२७ ॥

अर्थ–जो पापिष्ठ राजपुरुष (राजाका नौकर ग्रामाधिप आदि) वादी प्रतिवादियोंसे गुप्त रीतिपूर्वक धन लेके अन्याय कर दें तौ राजा उन दुष्टोंके सर्वस्व हरण करके अपने देशसे निकाल दे (अर्थात् घूंस लेनेवाले वा धोखा देके प्रजासे धन लेनेवाले दुष्ट भृत्योंको निर्धन करके राजा अपने देशसे निकाल देवे क्योंकि अपने भृत्योंको दण्ड नहीं देनेसे अन्याय बढ जाता है) ॥ १२७ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ॥
तमाहुः सर्वलोकस्य समस्तमलहारकम् ॥ १२८ ॥

अर्थ–जो राजा प्रजाकी रक्षा नहीं करता और प्रजासे वार्षिक लगान तथा धान्य आदिसे छठे भाग आदिको लेता है उस राजाको मनु आदि धर्मशास्त्रोंके कर्त्ताओंने सब जगत्के समस्त पापोंका लेनेवाला कहा है ॥ १२८ ॥

यो रक्षन् बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः ॥
प्रतिभागं च दंडं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ १२९ ॥

अर्थ—जो राजा प्रजाकी रक्षा करनेके विनाही प्रजासे धान्यआदिके छठे भाग आदिको और पुर, तथा ग्रामवासियोंसे प्रतिमासके नियमानुसार तथा भाद्रपद (भादवा) या पौषके नियमसे राजाके लेने योग्य पदार्थ और जल तथा थलके मार्गसे वाणिज्यके निमित्त लाये हुए पदार्थोंकी रक्षाके प्रतिकूल शुल्क (महसूल) को ग्रहण करता है और फल, मूल, पत्र तथा तृण आदिसे भाग लेता है तथा व्यवहारोंमें हारे हुए पुरुषोंसे धनरूप दंड इत्यादि ले लेता है वह राजा मरके तत्काल नरकोंमें प्राप्त होता है ॥ १२९ ॥

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ॥
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान् ॥१३०॥

अर्थ—यह पदार्थ जहां लिया गया वहां कितना मूल्य लगा और यहां किस भाव विकता है और यह पदार्थ कितनी दूरसे आया है और इसके लानेमें भोजन आदिका व्यय तथा मार्गमें रक्षा आदिके निमित्त कितना द्रव्यव्यय (खर्च) हुआ है और यहां वेचनेमें कितना लाभ होगा इन बातोंको भली प्रकार विचार कर वाणिज्य करनेवालोंसे कर (महसूल) ग्रहण करै ॥ १३० ॥

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ॥
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत् सततं करान् ॥ १३१॥

अर्थ—जैसे प्रजाके धन आदिकी रक्षा करनेसे राजाभी रक्षाके अनुकूल धन आदिको प्राप्त हो जाय और कृषि तथा वाणिज्य आदि करनेवालेभी अपने कार्यके अनुकूल धन आदिकी वृद्धिको प्राप्त हो जाय ऐसा विचार करके राजा अपने राज्यमें निरन्तर कृषि, व्यापार आदिमें कर (लगानों) को स्थापन करै (अर्थात् लगान ऐसी लगावे कि, जिससे खेती करनेवालोंको तथा व्यापार आदि करनेवालोंको हानि न पहुँचे और राज्यमेंभी सदा लाभ होता रहे)॥१३१॥

यथाल्पाल्पमदंत्याद्यं वार्योकोवत्सषट्पदाः ॥
तथाल्पाल्पो गृहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।१३२॥

अर्थ—जैसे जोक, वत्स (बछडा) भँवरा, ये प्रथम अपने अपने भोग्यपदार्थ (रुधिर, दुग्ध, सुगंधी,) को थोडे २ अंगीकार करते हैं वैसेही राजाभी अपनी प्रजासे थोडा २ वार्षिक कर अंगीकार करै (अर्थात् जैसे जोक थोडे २ रुधिरको खैंचती हुई किसीको पीडाकारि प्रतीत नहीं होती और शनैः २ अपनी तृप्ति कर लेती है वैसेही अल्प २ लगानोंके द्वारा राजा प्रजासे शनैः २ धनको लेवे)॥१३२॥

नवीनकरशुल्कादेर्लोक उद्विजते भृशम् ॥
वार्त्ताया जायते ह्रासस्ततः कोशक्षयो भवेत् ।१३३॥

अर्थ—अत्यंत नवीन कर और शुल्क (महसूल आदि) के लगानेसे प्रजा दुःखित होके राजासे विपरीत हो जाती है व्यापार तथा कृषी आदिको हानि पहुँचती है और व्यापार और कृषिकी हानिसे राजाका खजाना नष्ट हो जाता है (अर्थात् राजाको उचित है कि अपने भंडारकी समृद्धिके निमित्त व्यापार और कृषि आदिको उन्नति देवै) ॥ १३३ ॥

कच्चित्स्वनुष्ठिता तात वार्त्ता ते साधुभिर्जनैः ॥
वार्त्तायां संश्रितस्तात लोकोयं सुखमेधते ॥ १३४ ॥
कच्चिन्नबीजंभक्तंचकर्षकस्यावसीदति ॥
पादिकंचशतंवृद्ध्यादादास्यृणमनुगृहम् ॥ १३५ ॥

अर्थ—देवर्षिनारद महाराज राजा युधिष्ठिरको कहते हैं कि हे राजन् ! आपके राज्यमें अच्छे २ उत्तम मनुष्य एकत्र होके व्यापार और कृषि आदिके कारखानोंको उत्तम रीतिसे करते हैं या नहीं क्योंकि व्यापार और कृषि आदिकी उन्नति होनेहीसे लोगोंको सुख होता है अर्थात् जिस राज्यमें श्रेष्ठ मनुष्य एकत्र होके श्रेष्ठ रीतिसे व्यापार

और खेती आदि करते हैं वह राज्य अन्न धन आदिसे पूर्ण हो जाता है) और कृषक (कास्तकार) लोगोंको खानेके निमित्त अन्न और बोनेके अर्थ बीज उत्तम रीतिसे मिलता है या नहीं और अनुग्रहपूर्वक ऋणभी दिये जाते हैं या नहीं (अर्थात् जहां दंड महसूल आदि अत्यंत नहीं लिये जाते वहा व्यापारआदिकी वृद्धिसे सब प्रजा सुख पाती है) ॥ १३४ ॥ १३५ ॥

पंचाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ॥
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥ १३६ ॥

अर्थ–पशु और सुवर्णके मूलसे पचासवां भाग राजा लेवे और धान्य आदिकी उपजमेंसे आठवां या छठा या बारहवां भाग लेवे अर्थात् भूमिके अनुकूल खेती करनेवालोंकी मिहनतको देखके भागको लेवै ॥ १३६ ॥

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ॥
गंधौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च ॥ १३७ ॥
पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च ॥
मृन्मयानां च भांडानां सर्वस्याश्ममयस्य च ॥ १३८ ॥

अर्थ–वृक्ष १ मांस २ शहद ३ घी ४ गंध ५ औषधि ६ रस (गुडादयः) ७ पुष्प ८ मूल ९ फल १० पत्र ११ शाक १२ तृण १३ चर्म १४ बांसके पात्रादि १५ मृत्तिका आदिके पात्र १६ और पत्थरकी यावन्मात्र वस्तुएं १७ इन सतरह पदार्थोंके लाभसे छठा भाग राजा लेवै ॥ १३७ ॥ १३८ ॥

यत्किंचिदपि वर्षस्य दापयेत् करसंज्ञितम् ॥
व्यवहारेण जीवंतं राजा राष्ट्रे पृथक् जनम् ॥ १३९ ॥

अर्थ–राजा अपने राज्यमें शाक आदि स्वल्प पदार्थोंके लेन देन करनेवाले लघु मनुष्योंसे बारह महीनोंमें लाभालाभके अनुकूल एकही नियत समयपर लगान लेवै ॥ १३९ ॥

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ॥
एकैकं कारयेत् कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १४० ॥

अर्थ-चित्रकार, लोहार, खाती, सलावट, शूर्पकार आदि और अन्यभी मजदूरी करके जीवननिर्वाह करनेवाले शूद्रोंसे महीने महीनेमें एक एक दिन विना वेतन काम लेवै या महीनेके महीने एक एक दिनकी वेतनके हिसाबसे द्रव्य ले लिया करै ॥ १४० ॥

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया ॥
उच्छिंदन् ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् १४१ ॥

अर्थ-प्रजापर अत्यंत स्नेहयुक्त होके न्यायपूर्वक सदैव प्रचलित कर आदिकेभी न लेनेसे अपना मूलच्छेदन (खजानेको खाली) न करै और अत्यंत लोभके आश्रय होके नवीन दंड आदिके लगानेसे प्रजाका मूलच्छेदन (निर्धन) न करै क्योंकि अपना मूलच्छेदन (खजाना खाली) होनेसे अपनेको और प्रजाको विविध पीडा होती है और प्रजाका मूलच्छेदन होनेसेभी प्रजाको और राजाको अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं ॥ १४१ ॥

कूपवापीपुष्करिण्यस्तडागाः सुगमास्तथा ॥
कार्याः खातद्वित्रिगुणविस्तारपद्धानिकाः ॥ १४२ ॥
यथा तथा ह्यनेकाश्च राष्ट्रे स्याद्विपुलं जलम् ॥
नदीनां सेतवः कार्या विबंधाः सुमनोहराः ॥ १४३ ॥
नौकादिजलयानानि पारगाणि नदीषु च ॥
येन येन प्रजाशर्म तत्तत् कुर्यादतंद्रितः ॥ १४४ ॥

अर्थ-कूप (कूवा), वापी (बावडी), पुष्करिणी (छोटी छोटी तलाइयें) और अगाध जलोंसे पूर्ण कृषिकी सींचाईमें सुगमतायुक्त ऐसे तालाव और गहरेसे दूने, तिगुने, चौडे ऐसे कुंड आदि बनावें जैसे तैसे अपने राज्यमें जलकी वृद्धि हो वैसे नहर आदिभी अनेक

बनावै और नदी आदिकोंके पार उतरनेके निमित्त सेतु (पुलें) बांधे और राज्यमें जलकी विपुलताके निमित्त अच्छे मनोहर विबंध (बंधे) बांधै और नदी आदिकोंके पारंगत होनेके अर्थ नाव जहाज धूमपोत आदि जलयान बनावै जिस जिस कार्यके करनेसे अपनी प्रजाको सुखकी प्राप्ति होवै उस उस कार्यको बहुत सावधानीसे करे ॥ १४२ ॥ १४३ ॥ १४४ ॥

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहंति च ॥
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्दैवमातृका ॥ १४५ ॥

अर्थ—नारदऋषि राजा युधिष्ठिरको कहते हैं कि हे राजन् ! आपने अपनी प्रजाके हितार्थ राज्यमें अगाध जलोंसे पूर्ण बडे २ तालाव विभागपूर्वक बनवाये या नहीं और कृषि केवल वृष्टिहीके आधार तो नहीं (अर्थात् वर्षा नहीं बरसनेपरभी आपके राज्यभरमें तालाव नहर आदिसे खेती हो सकती है या नहीं) ॥ १४५ ॥

स्वधर्मनिरतो नित्यं परस्त्रीषु पराङ्मुखः ॥
वक्तोहवाँश्चित्रकथः स्यादकुंठितवाक्सदा ॥ १४६ ॥

अर्थ—राजा सदैव अपने प्रजापालनरूप धर्ममें तत्पर रहै और पराई स्त्रियोंसे कदापि भोगकी इच्छा न करै और अपनी वाणीसे सबका यथायोग्य सत्कार करै सदा विचारतत्पर रहै और सभा आदिमें विचित्रवाक्य बोलै और जिसके वाक्य धाराप्रवाह हो (अर्थात् स्खलित न हो) ॥ १४६ ॥

चिरं संशृणुयान्नित्यं जानीयात् क्षिप्रमेव च ॥
बह्वार्थाल्पाक्षरं ब्रूयात्संल्लापं कार्यसाधकम् ॥ १४७ ॥

अर्थ—सदैव अपनी प्रजाकी वार्त्ता (सुख दुःख आदि) को चित्त लगाके बहुत देरतक सुनै और उनके अभिप्रायको शीघ्र ही जान लव और सदैव वाक्य ऐसे बोलै कि जिसकी सब प्रशंसा करैं और जिसमें

अर्थ बहुत हो और अक्षर थोडे हो और जिस वाक्यके कहनेसे कार्यभी तत्काल सिद्ध हो जाय ऐसा श्रेष्ठ वाक्य सदैव कहै ॥ १४७ ॥

पुण्यात् षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन् ॥
सर्वदानाधिकं यस्मात् प्रजानां परिपालनम् ॥ १४८॥

अर्थ–न्यायपूर्वक प्रजाकी रक्षा करनेसे राजाको प्रजाकृतपुण्यका छठा भाग प्राप्त होता है इसी कारण प्रजाका पालन करनाही राजाके निमित्त संपूर्ण दानोंसे अधिक फलदायी कहा है ॥ १४८ ॥

अरक्ष्यमाणाः कुर्वंति यत्किंचित्किल्बिषं प्रजाः ॥
तस्मात्तु नृपतेरर्द्धं यस्माद्गृह्णात्यसौ करान् ॥ १४९ ॥

अर्थ–राजाके धर्माधर्मके विचारशून्य होनेसे प्रजा निर्भय होके जा किंचित् भी चोरी और परस्त्रीगमन आदि पापोंको करती है उन पापोंके आधे भागका भागी राजा होता है क्योंकि राजा प्रजाकी रक्षाहीके निमित्त अनेकविध दंड (महसूल आदिको) लेता है इस कारण पुण्य और पापका भागी भी होताही है ॥ १४९ ॥

ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम् ॥
साधून् संमानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत् ॥ १५०॥

अर्थ–राज्यरक्षाके निमित्त नाना प्रकारके अधिकारोंपै नियत किये हुए अधिकारियोंकी चेष्टा (कृत्याकृत्य) को गुप्त चारोंके द्वारा जानके श्रेष्ठ अधिकारियोंको दान मानसे संमानित करै और अन्यायकारियोंको न्यायके अनुकूल दंड देके अधिकारसे अलग करदेवै ॥ १५०॥

उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत् ॥
सदानमानसत्कारान् श्रोत्रियान्वासयेत्सदा ॥ १५१ ॥

अर्थ–प्रजासे घूंस लेनेवाले अधिकारियोंको द्रव्यसे हीन करके अपने राज्यसे निकाल दे और अच्छे विद्यावान् धर्मात्मा न्यायपरायणोंको सदैव दानमान और सत्कारपूर्वक अपने राज्यके अधिकारोंपर नियत करे या अपने राज्यमें वसावै ॥ १५१ ॥

अन्यायेन नृपो राष्ट्रात् स्वकोशं योऽभिवर्द्धयेत् ॥
सोचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबांधवः ॥ १५२ ॥

अर्थ–जो राजा प्रजाको कष्ट देके अन्यायसे अपने कोशको बढाता है वह अल्पही समयमें धनहीन होके बांधवोंसहित राज्यलक्ष्मीसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १५२ ॥

प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः ॥
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणाँश्चादग्ध्वा न निवर्तते ॥ १५३ ॥

अर्थ–अन्यायवर्ती राजाके राज्यशासनमें अधिकारिगण या चौर आदिकी पीडासे उत्पन्न हुए प्रजापीडनसंतापसे प्रगट हुआ पापरूप अग्नि राजाके कुटुंब, लक्ष्मी और प्राणोंको दहन किये विना कदापि शांत नहीं होती ॥ १५३ ॥

य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥
तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन् ॥ १५४ ॥

अर्थ–न्यायपूर्वक अपने राज्यकी रक्षा करनेसे राजाको जो प्रजाकृत पुण्यका छठा भाग प्राप्त होताहै उस संपूर्ण प्रजाकृत धर्मके छठे हिस्सेको राजा परराष्ट्रको अपने वशीभूत करनेसे प्राप्त होताहै॥ १५४॥

यस्मिन् देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः ॥
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः ॥ १५५ ॥

अर्थ–यदि परराज्य अपने वशमें हो जावे तौ उस देशमें अपने देशका आचरण प्रवर्त्त न करै क्योंकि जिस देशमें जैसा आचार और जैसा व्यवहार और जैसी कुलमर्यादा पहलेसे चली आती हो वैसेही उन सब आचार आदिको पालन करै ॥ १५५ ॥

यस्मिन् देशे पुरे ग्रामे त्रैविध्ये नगरेपिऽवा ॥
यो यत्र विहितो धर्मस्तत्र तं हि समाचरेत् ॥ १५६ ॥

अर्थ–जिस देश, पुर, गाम और तीन प्रकारके नगरोंमें अपने

राज्यके पहली जो शास्त्रविहित या शिष्टपुरुषोंका स्थापन किया हुआ धर्म चला आता है वहां उसी धर्मका पालन करना चाहिये ॥ १५६ ॥

अथ सामंतादयः ।

लक्षकर्षमितो भागो राजतो यस्य जायते ॥
वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडनैः ॥ १५७ ॥
सामंतः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि ॥
तदूर्द्ध्वं दशलक्षांतो नृपो मांडलिकः स्मृतः ॥ १५८ ॥

अर्थ–जिस भूपालके राज्यमें मनुके कथनानुसार भूमिके अनुकूल धान्य आदिकोंके छठे, आठवें, बारहवें विभागको अंगीकार करनेपर भूमिके भागसे वर्षवर्षमें सदैव प्रजापीडनके विना एक लक्ष रुपियोंसे लेके तीन लक्षपर्यंतकी आय (आमदनी) होती हो वह नृप सामंत कहाताहै और इसके उपरांत दशलक्षपर्यंतकी आयवाला भूमिपाल मांडलीक कहाता है ॥ १५७ ॥ १५८ ॥

तदूर्द्ध्वं तु भवेद्राजा यावद्विंशतिलक्षकः ॥
पंचाशल्लक्षपर्यंतो महाराजः प्रकीर्त्तितः ॥ १५९ ॥

अर्थ–दशलक्षके उपरांत बीस लक्षपर्यंतकी आयवाला राजा राजा कहाता है और बीस लक्षके उपरांत पचास लक्षपर्यंतकी आयवाला राजाको महाराजा कहते हैं ॥ १५९ ॥

ततस्तु कोटिपर्यंतः स्वराट् सम्राट् ततः परम् ॥
दशकोटिमितो यावद्विराट् तु तदनंतरम् ॥ १६० ॥
पंचाशत् कोटिपर्यंतं सार्वभौमस्ततः परम् ॥
सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत्सदा ॥ १६१ ॥

अर्थ–पचास लक्षके अनंतर करोड पर्यंतकी आयवाला राजा स्वराट् कहाता है और करोडके उपरांत दश करोड पर्यंतकी आय-

वाला राजा सम्राट् कहाता है तदनंतर पचास करोडपर्यंतकी आयवाला राजा विराट् कहाता है इसके उपरांत सप्त द्वीपोंसे युक्त संपूर्ण भूमंडल जिसके सदैव वशमें हो वह राजा सार्वभौम कहाता है॥ १६०॥ १६१ ॥

सामंतादिसमा ये तु भृत्या अधिकृता भुवि ॥
तेऽनुसामंतसंज्ञाः स्यू राजभागहराः क्रमात्॥ १६२ ॥
सामंतादिपदभ्रष्टास्तत्तुल्यभृतिपोषिताः ॥
महाराजादिभिस्ते तु हीनसामंतसंज्ञकाः ॥ १६३ ॥
शतग्रामाधिपो यस्तु सोऽपि सामंतसंज्ञकः ॥
शतग्रामे चाधिकृतोऽनुसामंतो नृपेण सः ॥ १६४ ॥

अर्थ–भूमिपर राज्यकी रक्षाके निमित्त राजाके भागको लेनेवाले सामंत आदिके समान जो अधिकारी किये हुए भृत्य हैं वे भी क्रमसे अनुसामंत आदिक होते हैं अर्थात् लक्षसे तीन लक्षपर्यंतकी आयपर नियत किया हुआ भृत्य अनुसामंत और तीन लक्षके उपरांत दश लक्षपर्यंतकी आय पर नियत किया हुआ भृत्य अनुमांडलीक और तदनंतर बीस लक्षपर्यंत अनुराजा और बीस लक्षके उपरांत पचास लक्षपर्यंत अनुमहाराजा और इसके उपरांत करोड पर्यंत अनुस्वराट् और एक करोडके उपरांत दशकरोड पर्यंत अनुसम्राट् और तदनंतर पचास करोड पर्यंत अनुविराट् कहाता है। महाराजादिकोंने जिनोंको सामंत आदिके पदसे हीन करके सामंत आदिके तुल्य भृतिसे पोषित किये हो वे भी हीनसामंत आदि कहाते हैं अर्थात् सामंतको सामंतके अधिकारसे और मांडलीकको मांडलीकके अधिकारसे और राजाको राजाके अधिकारसे और महाराजाको महाराजाके अधिकारसे हीन कर दिया हो परंतु उन्होंके निर्वाहके निमित्त अपने अपने अधिकारके अनुकूल वेतन मिलता हो वे क्रमसे हीनसामंत आदि कहाते हैं। जो सौ ग्रामोंका अधिपति हो वह भी सामंत कहाता है और सौ

ग्रामोंके अधिकारपर राजाका जो अधिकारी नियत हो वह भी अनुसामंत कहाता है ॥ १६२ ॥ १६३ ॥ १६४ ॥

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः ॥
ब्रह्मणा स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा ॥ १६५ ॥

अर्थ—अपना भागरूप वेतनके स्वीकार करनेसे प्रजाओंका दास्यत्वमें और सदैव पालन करनेके अर्थ ब्रह्माने राजाको सबका स्वामिरूप नियत किया है ॥ १६५ ॥

अथ सामंतादीनां वाहनादिः ।

दशग्रामिशतानीकौ परिचारकसंयुतौ ॥
अश्वस्थौ विचरेयातां ग्रामपा ह्यपि चाश्वगाः ॥ १६६ ॥
साहस्रीकः शतग्रामी चैकाश्वरथवाहनौ ॥
सहस्रग्रामपो नित्यं नरैश्च ह्यश्वयानगः ॥ १६७ ॥

अर्थ—दश ग्रामोंके अधिपति और सौ सैनिकोंका अधिप ये, दोनों ही अश्वपर बैठके अपने नोकरोंको संग लेकर राजधानीके शहरमें विचर सकते हैं और एक ग्रामका अधिपति घोडेपर बैठके राजधानीके शहरमें विचरते समय नोकरीको संग नहीं रख सकता । हजार सैनिकोंका अधिप और सौ ग्रामोंका अधिपति ये दोनोंही एक घोडेकी बग्धीमें बैठके राजधानीके शहरमें विचर सकते हैं और हजार ग्रामोंका अधिपति सदैव नरयान (शिबिका) और दो घोडेकी बग्घीमें बैठके विचर सकता है ॥ १६६ ॥ १६७ ॥

आयुतिको विंशतिभिः सेवकैर्हास्तिना व्रजेत् ॥
अयुतग्रामपः सर्वयानैश्च चतुरश्वगैः ॥ १६८ ॥
पंचायुतिसेनपोपि संचरेद्बहुसेवकः ॥
यथाधिकाधिपत्यं तु वीक्ष्याधिक्यं प्रकल्पयेत् १६९॥

अर्थ–दश हजार सैनिकोंका अधिप हाथीपर बैठके बीस सेवकोंके साथ विचर सकता है और दश हजार ग्रामोंका अधिपति संपूर्ण यान और चार घोडोंकी बग्घीमें बैठके विचर सकता है और पचास हजार सेनाका अधिपभी बहुत सेवकोंके साथ विचर सकता है । राजाको उचित है कि जिसका जैसा जैसा अधिक अधिकार हो उसके निमित्त वैसा वैसा अधिक यान (वाहन) की भी कल्पना करै १६८॥१६९॥

कल्पयेच्च यथाधिक्यं धनिकेषु गुणिष्वपि ॥
श्रेष्ठो न मानहीनः स्यान्न्यूनो मानाधिकोपि न १७०॥

अर्थ--अपने राष्ट्रमें निवास करनेवाले और अन्यत्रके धनवान् और गुणवानोंकेभी अधिक मान्य करै कारणकी इन दोनों प्रकारके मनुष्योंके अधिक आदर करनेसे देशमें धनवान् और गुणवानोंकी वृद्धि होती है और देशकी उन्नतिभी इन दोनोंकेही आधार पर है राजा उत्तम मनुष्यकी मानहानि न करै और हीन मनुष्यको अधिक मान न दे १७०॥

अथ ग्रामादीनां संज्ञाः ।

भवेत् क्रोशात्मको ग्रामो रूप्यकर्षसहस्रकः ॥
ग्रामार्द्धकं पल्लिसंज्ञं पल्यर्द्धं कुंभसंज्ञकम् ॥ १७१ ॥

अर्थ–जिसकी बस्ति एक कोशका प्रमाणमें हो और एकहजार रुपियोंका जिसमें राजाका भाग हो (अर्थात् जिसमें एक हजार रुपिये मालगुजारीके आते हों) वह ग्राम कहाता है ग्रामकी आधी वस्ती को पल्ली (पाल) कहते हैं और पल्लीके आधेको कुंभ कहतहैं१७१॥

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च ॥
घोषान् व्रजान् सशिबिराण्याकरान्खेटखर्वटान्१७२॥

अर्थ–जिसमें बाजार आदि नहीं हो वह ग्राम कहाता है और जिसमें व्योपारके निमित्त बाजार आदि हो वह पुर (कसबा) कहाता है और जिसमें बहुत मनुष्योंकी वस्ती हो वह पत्तन (शहर)

कहाता है और दुर्ग अगम्य स्थानको कहते हैं और घोष करसान लोगोंकी वस्तीको कहते हैं और व्रज गुजर जातीके लोगोंकी वस्तीका नाम है और शिविर सेनाके निवासको कहते हैं आकर सुवर्ण आदिके उत्पत्तिस्थानको कहते हैं खेट छोटे छोटे ग्रामोंका नाम है (अर्थात् जिसको खेडा कहते हैं) और खर्वट पर्वतीवस्तीका नाम है यह श्रीमद्भागवत चतुर्थस्कंधकी अठारहवीं अध्यायमें लिखाहै ॥ १७२ ॥

अथ कोशादीनां संज्ञा ।

करैः पंचसहस्रैर्वा क्रोशः प्रोक्तः प्रजापतेः ॥
हस्तैश्चतुःसहस्रैर्वा मनोः क्रोशस्य विस्तरः॥ १७३ ॥

अर्थ–प्रजापति (ब्रह्मा) के मतानुसार कोश पांच हजार हाथका लंबा होता है और मनुके मानसे चार हजार हाथका लंबा कहा है १७३

यवोदरैरंगुलमष्टसंख्यैर्हस्तोंगुलैः षड्गुणितैश्चतुर्भिः ॥
हस्तैश्चतुर्भिर्भवतीह दंडः क्रोशः सहस्रद्वितयेन
तेषाम् ॥ १७४॥ स्याद्योजनं क्रोशचतुष्टयेन तथा
कराणां दशकेन वंशः॥ निवर्तनं विंशतिवंशसंख्यैः
क्षेत्रं चतुर्भिश्च भुजैर्निबद्धम् ॥ १७५ ॥

अर्थ–लीलावतीकार श्रीभास्कराचार्यने इस तरह लिखा है कि आठ (८) यव (जौओं) के पेटे मिलानेसे एक (१) अंगुल होती है और चौवीस (२४) अंगुलोंका एक (१) हाथ होता है और चार (४) हाथका एक (१) दंड होता है दो हजार (२०००) दंडोंका अर्थात् आठ हजार हाथोंका एक कोश होता है और चार (४) कोशोंका एक (१) योजन होता है और दश (१०) हाथका एक (१) बाँश और बीस बांशकी लंबाईको निवर्तन कहते हैं उन चार निवर्तनोंसे बंधी हुई चतुरस्र भूमिको क्षेत्र कहते हैं अर्थात् बीस बांश लंबी और बीस बांश चौडी ऐसी चौकोर भूमिको क्षेत्र कहते हैं यह भास्कराचार्यके समयका मान है ॥ १७४ ॥१७५ ॥

मध्यमामध्यमं पर्व दैर्घ्यं यच्च तदंगुलम् ॥
यवोदरैरष्टभिस्तद्दैर्घ्यं स्थौल्यं तु पंचभिः ॥ १७६ ॥

अर्थ—नीतिशास्त्रके कर्त्ता महर्षि शुक्राचार्यने लिखा है कि मध्यमा अँगुलीके बीचले पेरुवेकी दीर्घताको अंगुल कहते हैं वह दीर्घता (अर्थात् लंबाई) आठ यव (जौओं) के पेटे मिलानेसे होती है और उसीही मध्यमा अंगुलीके बीचले पेरुवेकी स्थूलता (अर्थात् चौडाई) पाँच यवोंको मिलानेसे होती है उसको भी अंगुलही कहते हैं ॥ १७६ ॥

चतुर्विंशत्यंगुलैस्तैः प्राजापत्यकरः स्मृतः ॥
स श्रेष्ठो भूमिमाने तु तदन्यास्त्वधमाः स्मृताः ॥ १७७ ॥

अर्थ—आठ यवोंकी अंगुलके प्रमाणसे प्रजापतिके मतानुसार चौबीस अंगुलोंका एक हाथ होता है। भूमिके मान (अर्थात् नापने) में वह हाथही श्रेष्ठ कहा है और इससे अन्य (इतर) मापको अधम कहते हैं ॥ १७७ ॥

चतुःकरात्मको दंडो लघुः पंचकरात्मकः ॥
तदंगुलं पंचयवैर्मानवं मानमेव तत् ॥ १७८ ॥

अर्थ—प्रजापतिके मानसे चार हाथका एक दंड होता है और मनुके मतानुसार दंड पाँच हाथका होता है इस दंडके मापमें अंगुल पाँच यवोंका कहा है उसीसे यह दंड लघुदंड कहाता है (अर्थात् प्रजापतिके नापमें अंगुल आठ जौओंका और मनुके नापमें अंगुल पाँच जौओंका प्रजापतिका दंड चार हाथका और मनुका दंड पांच हाथका होता है तदपि मनुका दंड प्रजापतिके दंडसे छोटा होता है ॥ १७८ ॥

वसुषण्मुनिसंख्याकैर्यवैर्दण्डः प्रजापतेः ॥
यवोदरैः षट्शतैस्तु मानवो दंड उच्यते ॥ १७९ ॥

अर्थ—सात सौ अडसठ (७६८) यवोंके पेटे मिलानेसे प्रजापतिका दंड होता है और छः सौ (६००) यवोंके पेटे मिलानेसे मानव (अर्थात् मनुका) दंड कहा है ॥ १७९ ॥

पंचविंशतिभिर्दंडैर्भुजः स्यात्परिवर्त्तने ॥
करैरयुतसंख्याकैः क्षेत्रं तस्य प्रकीर्त्तितम् ॥ १८० ॥

अर्थ—परिवर्तन (भूमिका नाप) में एक एक भुज पचीस पचीस दंडोंका लंबा होताहै उस चतुरस्र भूमिके नापसे दश हजार (१००००) हाथका क्षेत्रफल होता है अर्थात् प्रजापतिके नापसे सौ (१००) हाथ लंबी और सौ (१००) हाथ चौडी ऐसी चतुरस्र भूमिके दश हजार हाथ भूफलको क्षेत्र कहते हैं ॥ १८० ॥

चतुर्भुजैः समं प्रोक्तं कृष्टभूपरिवर्त्तनम् ॥
प्राजापत्येन मानेन भूभागहरणं नृपः ॥ १८१ ॥
सदा कुर्याच्च स्वापत्तौ मनुमानेन चान्यथा ॥
लोभात्संकर्षयेद्यस्तु हीयते सप्रजो नृपः ॥ १८२ ॥

अर्थ—हाँकी (जोती) हुई भूमिका नाप चारों ओरसे समानही कहा है (अर्थात् पचीस दंड लंबी और पचीस दंडही चौडी भूमिका प्रजापतिके और मनुके मानसे एक बीघा होता है) राजा प्रजापतिके नापके परिमाणसे भूमिके विभागको स्वीकार करे (अर्थात् प्रजापतिके मतानुसार सौ हाथकी डोरीसे भूमिको नापके हाँसिल लेवे) और अपनेमें आपत्ति आ पडे तौ मनुके मतानुसार भूमिको नापके भूविभागको स्वीकार करे अन्यथा नहीं करे। जो राजा अपने लोभके निमित्त प्रजाको अधिक भूभाग आदिकी पीडासे कर्षित करता है वह राजा अपनी प्रजासहित हीनताको प्राप्त हो जाता है ॥१८१॥१८२॥

पंचविंशतिभिर्दंडैरुभयोस्तु निवर्तनम् ॥
त्रिंशच्छतैरंगुलैर्यैश्चि ::चमहस्रकैः ॥ १८३ ॥

सपादशतहस्तैश्च मानवं तु निवर्त्तनम् ॥
ऊनविंशतिसाहस्रैर्द्विशतैश्च यवोदरैः ॥ १८४ ॥
चतुर्विंशशतैरेव ह्यंगुलैश्च निवर्त्तनम् ॥
प्राजापत्यं तु कथितं शतैश्चैव करैः सदा ॥ १८५ ॥

अर्थ–प्रजापति और मनु इन दोनोंके निवर्त्तन तौ पचीस २ दंडोंकाही होता है परंतु उन दोनोंमें मनुका निवर्त्तन अंगुलोंके मानसे तीन हजार (३०००) अंगुलोंका और यवोंके मानसे पंद्रह हजार (१५०००) यवोंका और हाथोंके मानसे एक सौ पचीस (१२५) हाथका होता है (अर्थात् मनुके मानसे एक दंड पाँच २ हाथका होनेसे पचीस दंडोंके तीन हजार अंगुल होते हैं तौ एक निवर्त्तन तीन हजार अंगुलोंका हुआ और पाँच यवोंका एक अंगुल होताहै तौ तीन हजार अंगुलोंके पंद्रह हजार यव होनेसे पंद्रह हजार यवोंका एक निवर्त्तन हुआ और पाँच यवोंका एक अंगुल होनेसे एक सौ वीस अंगुलोंका एक हाथ होताहै तौ पंद्रह हजार यवोंके एकसौ पचीस हाथ होनेसे एकसौ पचीस हाथका एक निवर्त्तन हुआ यह निवर्तन एक सौ पचीस हाथका होनेपर भी प्रजापतिके निवर्त्तनसे छोटा होता है और प्रजापतिका निवर्त्तन यवोंके मानसे उन्नीस हजार दो सौ (१९२००) यवोंका और अंगुलियोंके मानसे दो हजार चार सौ (२४००) अंगुलोंका और हाथोंके मानसे सौ (१००) हाथका होताहै (अर्थात् प्रजापतिके मानसे आठ २ यवोंका एक अंगुल होनेसे पचीस दंडके (१९२००) यव होते हैं और छानवें (९६) अंगुलका एक दंड होनेसे एक निवर्त्तनके पचीस दंडोंके दो हजार चार सौ (२४००) अंगुल होते हैं और चार हाथका एक दंड होनेसे पचीस दंडोंके एक निवर्त्तनका सौ (१००) हाथ हुए ॥ १८३ ॥ १८४ ॥ १८५ ॥

अथ सभाप्रकरणम् ।

इसके अनंतर सभाकी स्थिति कहते हैं ॥

सुहृद्भिर्भ्रातृभिः सार्धं सभायां पुत्रबांधवैः ॥
सामंतैः सेनपैश्चापि सभ्याद्यैः संविशेत् सदा ॥ १८६ ॥

अर्थ—मित्र, भाई, पुत्र, बंधु, सामंत, सेनापति और सभासद आदि इन सबके साथ राजा सदैव सभामें विराजमान होवै ॥ १८६ ॥

उत्सवे चैव सप्तांगे रूपाजीवादिसंवृतः ॥
चामरैर्वीज्यमानश्च छत्रादिभिः सुसेवितः ॥ १८७ ॥

अर्थ—उत्सव आदिके समयमें राज्यके सप्तांग और रूपाजीवा (वेश्या) आदिकोंसे संवृत राजा चामर, मोरछल छत्र, आदि राज्यचिह्नोंसे सुशोभित होकर सभामें विराजमान होवे ॥ १८७ ॥

सभायां प्रत्यगर्द्धस्य मध्ये राजासनं स्मृतम् ॥
सामंतादक्षसंस्था वा निजोक्तवामतः क्रमात् ॥ १८८ ॥

अर्थ—सभाके पश्चिम अर्द्धके मध्यभागमें राज्यासनकी स्थिति कही है और सामंत (उमराव आदि) दक्षिण या वामभागमें अपनी नियत स्थितिपूर्वक क्रमसे बैठे ॥ १८८ ॥

भ्रातरो भागिनेयाश्च पुत्राः पौत्राः स्वपृष्ठतः ॥
दौहित्रा दक्षभागात्तु वामसंस्थाः क्रमादिमे ॥ १८९ ॥
पितृव्याः स्वकुलश्रेष्ठाः सभ्याः सेनाधिपास्तथा ॥
स्वाग्रे दक्षिणभागे तु प्राक्संस्थाः पृथगासनाः ॥ १९० ॥

अर्थ—भाई, भानजे, पुत्र, पौत्र, दौहिता ये सब अपने पृष्ठभागमें दक्षिण भागसे वाम भागमें क्रमसे बैठें, काका अपने कुलके बडे और श्रेष्ठ २ सेनापति ये सब अपने आगे दक्षिणभागमें पृथक् २ आसनोंपर पूर्वकी ओर बैठें ॥ १८९ ॥ १९० ॥

मातामहकुलश्रेष्ठा मंत्रिणो बांधवास्तथा ॥
श्वशुराश्चैव श्यालाश्च वामाग्रे चाधिकारिणः ॥१९१॥

अर्थ—माताके कुलमें श्रेष्ठ, मंत्री, बंधु, श्वशुर, शाला ये सब वामभागमें अग्रभागके अधिकारी हैं ॥ १९१ ॥

वामदक्षिणपार्श्वस्थौ जामाता भगिनीपतिः ॥
स्वसदृशः समीपे वा स्वार्द्धासनगतः सुहृत् ॥१९२॥

अर्थ—जमाई और बेहनोई क्रमसे वाम और दक्षिणकी ओरमें बैठें अपने तुल्य ऐश्वर्यवाला मित्र अपने समीप (पास) तथा अपने आधे आसनपर (बराबर) बैठे ॥ १९२ ॥

यथा पिता तथाचार्यः समश्रेष्ठासनास्थितः ॥
पार्श्वयोरग्रतः सर्वे लेखका मंत्रिपृष्ठगाः ॥ १९३ ॥

अर्थ—वेद विद्याका पढानेवाला गुरु पिताके समान समझा जाता है इस कारण बराबर जुदे श्रेष्ठ आसनपर बैठे और दोनों ओर अग्रभागमें मंत्री और उनके पीछे लिखदार बैठें ॥ १९३ ॥

परिचारगणाः सर्वे सर्वेभ्यः पृष्ठसंस्थिताः ॥
स्वर्णदंडधरौ पार्श्वे प्रवेशनतिबोधकौ ॥ १९४ ॥

अर्थ—चपरासी आदि संपूर्ण नोकर सबके पीछे खडे रहैं (अर्थात् राजाके सामने दूरपर स्थित रहैं) और सभाके आने जानेवालोंकी प्रणाम आदिका राजाको बोध करानेके निमित्त दोनों पसवाडोंमें सोनेके छडी घोटे रखनेवाले चोबदार आदि खडे रहैं ॥ १९४ ॥

सम्मुखे गणिका दूरे तदनु वाद्यजीविनः ॥
मागधाद्याश्च तदनु गानवाद्यपरायणाः ॥ १९५ ॥

अर्थ—राजाके सन्मुख दूरपै वेश्या बैठे और वेश्याके पीछे उसके साजंदे बैठें और उनके पीछे गाने बजानेमें तत्पर ऐसे कलावंत गवय्ये आदि बैठें ॥ १९५ ॥

विशिष्टचिह्नयुग्राजा स्वासने प्रविशेत् सुखम् ॥
सुभूषणः सुकवचः सुवस्त्रो मुकुटान्वितः ॥ १९६ ॥

अर्थ–सबसे श्रेष्ठ चिह्नोंको धारण करके राजा अच्छे आभूषण, कवच, अच्छे वस्त्र और मुकुट आदि अलंकारोंसे अलंकृत होकर सुंदर आसनपर सुखपूर्वक विराजमान होवै ॥ १९६ ॥

सर्वस्मादधिको दाता शूरस्त्वं धार्मिको ह्यसि ॥
इति वाचं न शृणुयाच्छ्रावका वंचकास्तु ये ॥१९७॥

अर्थ–राजाको उचित है कि सभामें बैठके आप सबके अधिप सबसे अधिक दाता, सबसे अधिक शूरवीर और सबसे बढके धार्मिक हो, ऐसे झूठे वाक्योंको कदापि न सुनै और जो ऐसे झूठ वाक्य सुनाते हैं वे प्रत्यक्ष ठग होते हैं ॥ १९७ ॥

वंचकांस्ताडयेन्नित्यं वृद्धसेवी भवेत्सदा ॥
प्रजासंरंजनाद्राजा परत्रेह सुखी भवेत् ॥ १९८ ॥

अर्थ–जो व्यर्थ झूठ बोलके ठगाई करनेवाले वंचकलोग हैं उनको नित्य ताडना दे और यथार्थवादी, विद्यावृद्ध आदिको सदैव अपनी सभामें रक्खै क्योंकि यथार्थवादी, विद्यावृद्धोंकी संगतिसे राजा नीतिके मार्गको नहीं छोड सकता और जो राजा नीतिके मार्गमें चलता है उस राजासे प्रजा प्रसन्न रहती है और प्रजाकी प्रसन्नतासेही राजा इस लोक और परलोकमें सुख भोगता है ॥ १९८ ॥

समासतः समाख्याता सभासंस्थितिरुत्तमा ॥
प्रयाणं चैव भूपानां संक्षेपेणेह चोच्यते ॥ १९९ ॥

अर्थ–सभाकी उत्तम संस्थिति संक्षेपतासे कही अब राजाओंकी सवारीका क्रम इस ग्रंथमें संक्षेपतासे कहते हैं ॥ १९९ ॥

अथ राजप्रयाणम् ।

इसके अनंतर राजप्रयाण (असवारी) की रीति कहते हैं ॥

वक्ष्ये प्रयाणं भूपानां बलाङ्गसहितं पुरे ॥
उद्धर्षे सर्वदा कार्यं विधिनाऽनेन राजभिः ॥ २०० ॥

अर्थ—सेना और सेनाके अंगों सहित अपनी राजधानीमें राजाओंकी असवारी निकालनेकी रीति कहते हैं राजाओंको उचित है कि महोत्सव आदिमें सदैव आगे कही विधिके अनुसार असवारी करै ॥ २०० ॥

मुखे तु वैजयंतिः स्यान्नागेंद्रोपरि संस्थिता ॥
तत्पृष्ठे तु मनांस्येव द्विषां भिंदंश्च दुंदुभिः ॥ २०१ ॥
स्वनेन मेघकल्पेन कुलीनाश्वोपरि स्थितः ॥
ततो ध्वजा हयस्था तु स्वस्वचिह्नेन चिह्निता ॥ २०२ ॥

अर्थ—सवारीमें सबके आगे अच्छे गजराजपै शोभायमान ऐसी विजयपताका चलै और उसी विजयपताकाके हाथीके पीछे मेघके समान गंभीर शब्दसे शत्रुओंके मनोंको त्रास देनेवाला दुंदुभि (नक्कारा) अच्छे कुलीन घोडेपर चलै उस नक्काराके घोडेके पीछे अपनी अपनी राजधानीके चिह्नोंसे युक्त ऐसी ध्वजा (निसान) घोडेपर चलै ॥ २०१ ॥ २०२ ॥

मर्यादार्थानि चिह्नानि स्वर्णरत्नभवानि च ॥
गजास्थितानि सर्वाणि ध्वजामनु यथाविधि ॥ २०३ ॥

अर्थ—सुवर्ण और रत्न आदिके बने हुए राजधानीकी मर्यादाके निमित्त जो जो राजाओंके चिह्न हैं वे सब ध्वजा (निसान) के पीछे हाथियोंके ऊपर यथाविधि चलै ॥ २०३ ॥

ततो वाद्यं च सेनायाः पदातीनां ततः क्रमात् ॥
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा पंक्तितो गमनं सदा ॥ २०४ ॥

तुल्यचेष्टाक्रमाणां च तुल्यशस्त्रास्त्रवाससाम् ॥
तत्पृष्ठे तु मयस्थानि मध्यमनालिकानि च ॥ २०५ ॥

अर्थ—उन राज्यचिह्नोंके पीछे सेनाके बाजे और वाद्योंके पीछे दो २ या तीन २ या चार २ की पंक्तिसे एकसी चेष्टापूर्वक एकसे चलनेवाले और एकसे शस्त्र अस्त्रोंको धारण किये हुए और एकसे वस्त्र पहने हुए ऐसे पैदल सेनाके सैनिक (सीपाई) उक्त क्रममे चलैं उन पदातियोंके पीछे ऊँटोंपै मध्यमनालिक अर्थात् जूजरवे चलैं ॥ २०४ ॥ २०५ ॥

स्वलंकृता वा सन्नद्धास्ततो राज्ञः कुटुंबिनः ॥
सभासदादयो वापि विशिष्टचिह्नयुक् ततः ॥ २०६ ॥
युवराजश्च तत्पृष्ठे नरयानानि यानि तु ॥
ततः स्वलंकृताश्वाश्च उपवाहनसंज्ञकाः ॥ २०७ ॥

अर्थ—उन मध्यम नालिकास्त्रोंके ऊँटोंके पीछे सुंदर अलंकारोंसे अलंकृत और शस्त्र आदिसे सन्नद्ध ऐसे राजाके कुटुंबी और सभासद् आदि चलैं और उन सभासद् आदिकोंके पीछे राजकुमारके योग्य विशेष चिह्नोंसे युक्त युवराज चलै और युवराजके पीछे पालकी आदि जो जो नरयान हैं वे चलैं और नरयानके पीछे सुंदर अलंकारोंसे युक्त उपवाहन घोडे चलैं ॥ २०६ ॥ २०७ ॥

ततो नानाविधान्येव वाद्यानि मंगलस्वनाः ॥
तत्पृष्ठे लघुनालास्त्रधारिणो ह्यंगरक्षकाः ॥ २०८ ॥

अर्थ—उन उपवाहनोंके पीछे नाना प्रकारके बाजे और विविध मंगलशब्दोंको उच्चारण करनेवाले चलैं और उन मंगलीकशब्दोंके बोलनेवालोंके पीछे राजाके अंगरक्षक बंदूकोंको धारण किये हुए पैदल (अरदलीके) सैनिक चलैं ॥ २०८ ॥

अनुचरास्तथा चारा नतिस्थाननिबोधकाः ॥
ततः करिवरारूढः किरीटादिस्वलंकृतः ॥ २०९ ॥

बिसस्ूत्राभयोर्मध्ये चलच्चामरयोर्द्वयोः ॥
स्थितः पृष्ठासनेऽमात्यमुख्यो गच्छेत्तु भूमिपः ॥२१०॥

अर्थ–उन अंगरक्षकोंके पीछे अंगके नौकर तथा हलकारे तथा प्रणाम आदि करने योग्योंका बोध करानेके निमित्त चोबदार आदि चलैं और तदनंतर उत्तम गजराजके ऊपर विराजमान और उत्तम अलंकारोंसे अलंकृत सुंदर शोभायमान और कमलके तंतुओंके समान उज्ज्वल ऐसे चलायमान चामरोंके बीच विराजमान और हाथीके हौदेके पिछले आसनपर चमर लिये हुआ मुख्य प्रधान स्थित हो ऐसी रीतिसे राजा चलै ॥ २०९ ॥ २१० ॥

तत्पृष्ठेत्वातपत्रं स्यादुद्दंडधवलं शुभम् ॥
अन्यानि राजचिह्नानि सूर्यमुख्यादिकानि च ॥२११॥

अर्थ–दीर्घदांडीवाला, चंद्रमाकी किरणोंके समान उज्ज्वल अत्यंत शोभायमान ऐसा छत्र और सूर्यमुखीको आदि लेके अन्यभी जो राजचिह्न होवैं वे सब राजाके पीछे चलैं ॥ २११ ॥

ततः केचित्तु सामंता ह्यनुसामंतकास्ततः ॥
तत्पृष्ठे सादिनश्चम्वा द्वौ द्वौ वा तु त्रयस्त्रयः॥२१२॥
संहृता वापि चत्वारो गच्छेयू राजशासनात् ॥
पश्चात्तु हास्तिकं तेषां भद्रमंद्रादिमंडितम् ॥ २१३ ॥

अर्थ–उन राजचिह्नोंके पीछे कितनेक सामंत चलैं और सामंतोंके पीछे अनुसामंत चलैं और अनुसामंतोंके पीछे सेनाके असवारोंकी[1] दो २ या तीन २ या चार २ की पंक्ति होके सेनापतिकी आज्ञाके अनुसार चलैं उन असवारोंके पीछे भद्र, मंद्र, मृग, संकीर्ण आदि जातीसे शोभायमान ऐसा हाथियोंका समूह चलै ॥ २१२ ॥ २१३ ॥

तत्पृष्ठे चाष्टकं रम्यं रूपाजीवास्ततः परम् ॥
चक्रयानसमारूढाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ २१४ ॥

---

१ संस्कृतशब्द अश्ववारका हिंदीमें असवार और ऊर्दुमें सवार होताहै।

पिकस्वरास्त्यक्तलज्जा लोकरंजनतत्पराः ॥
केचिद्वदंति सर्वेषामग्रे वारांगनाः स्मृताः ॥ २१५ ॥
वैतालिकादयः पश्चात् प्रयाणं सम्यगीरितम् ॥
अथ स्वदेशयात्रैव समासेनैव कथ्यते ॥ २१६ ॥

अर्थ–इन हाथियोंके पीछे ऊँटोंका समूह चलै और संपूर्ण आभूषणोंसे भूषित, कोकिलके समान कंठध्वनिवाली, लज्जारहित, सबको हर्षित करनेमें तत्पर ऐसी अनेक वेश्या रथोंमें बैठी हुई ऊँटोंके पीछे चलैं कितनेक नीतिज्ञ ऐसाभी कहते हैं कि यह रथ जहां असवारी जानेका स्थान हो उस स्थानपर असवारीके पहलेही पहुँच जाने चाहिये और वेश्याओंके पीछे अर्थात् सब असवारीके निकल जानेके पश्चात् बहुरूपा आदि चलैं असवारीकी रीति भले प्रकारसे कहके अनंतर संक्षेपरीतिसे स्वदेशयात्रा कहते हैं ॥२१४–२१६॥

अथ स्वदेशयात्रा ।

अपने देशकी संभालके निमित्त दौरा करनेकी विधि कहते हैं ॥

ग्रामान् पुराणि देशांश्च स्वयं संवीक्ष्य वत्सरे॥
अधिकारिगणैः काश्च रंजिताः काश्च कर्षिताः २१७॥

अर्थ–ग्राम (जिसमें चार वर्ण निवास करते हों) पुर (जिसमें अनेक प्रकारकी कारिगरीके कारखाने और अनेक प्रकारका व्यापार होता हो) और अपने अधीन देश इन सबको राजा प्रतिवर्ष स्वयं जाके देखै और अपने नियत किये हुए अधिकारियोंने कैसे प्रजाका पालन किया और कैसे प्रजाको कष्ट दिया इनका भी स्वयं निरीक्षण करै ॥ २१७ ॥

प्रजास्तासां तु भूतेन व्यवहारं विचिंतयेत् ॥
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥ २१८ ॥

अर्थ-उस प्रजाका नियत वर्त्तावसे व्यवहारका चिंतन करै और प्रजाको दुःख देनेवाला भृत्यका पक्षपात कदापि न करै सदा अपनी प्रजाकी भलाईको ही अंगीकार करै ॥ २१८ ॥

प्रजाशतेन संद्विष्टं संत्यजेदाधिकारिणम् ॥
अमात्यमपि संवीक्ष्य सकृदन्यायगामिनम् ॥ २१९ ॥
एकांते दंडयेत् स्पष्टमभ्यासागस्कृतं त्यजेत् ॥
अन्यायवर्त्तिनां राज्यं सर्वस्वं च हरेन्नृपः ॥ २२० ॥

अर्थ-जिस अधिकारीसे अनेक प्रजा द्वेष करती हो उस अधिकारीको राजा त्याग दे (अर्थात् जिस अधिकारीके अन्यायसे प्रजा अप्रसन्न होके राजासे वैर करने लग जाय उस अधिकारीको राजा अधिकारसे अलग कर दे क्योंकि प्रजाका रंजन करनेहीसे राजा कहलाता है) और मंत्रीको एकभी वार अन्यायकारी देख ले तौ शिक्षाके निमित्त एकांतमें छुपके धन आदिका दंड दे और जो मंत्री दुवारे प्रगट अन्यायकारी दीखै तौ उसको प्रगट दंड देके जन्मभरके निमित्त त्याग दे और अपने अधीनमें जो सामंत आदि हैं वह अन्यायवर्ती हो जावें तो उनके राज्य और सर्वस्वको राजा छीनले ॥ २१९॥ २२० ॥

जितानां विषये स्थाप्यं धर्माधिकरणं सदाः ॥
भृतिं दद्यान्निर्जितानां तच्चारित्र्यानुरूपतः ॥ २२१ ॥

अर्थ-अपने अधिकारमें आये हुए देशोंके जो राजा हैं उनके राज्योंमें राजाका कृत्याकृत्यकी सुनाईके निमित्त अपनी ओरसे सदा एक २ न्यायालय स्थापन करै और अन्यायगामी होनेसे जो राजा राज्याधिकारसे अलग कर दिये जांय उन राजाओंको उनकी योग्यताके अनुकूल मासिक खर्चके निमित्त वेतन देवै ॥ २२१ ॥

यो न संचरते देशान् यो न सेवेत पंडितान् ॥
तस्य संकुंचिता बुद्धिघृतबिंदुरिवांभसि ॥ २२२ ॥

अर्थ-जो राजा देशदेशांतरोंमें भ्रमण नहीं करता और अच्छे २ उत्तम कुलीन बुद्धिमानोंकी संगति नहीं करता उस राजाकी बुद्धि शीतल जलमें पडी हुई घृतबिंदुके समान संकुचित हो जाती है (अर्थात् उसकी बुद्धि कार्याकार्यके मर्मको नहीं जान सकती) ॥ २२२ ॥

भ्रमन् सन् पूज्यते राजा भ्रमन् सन् पूज्यते द्विजः ॥
भ्रमन् सन् पूज्यते योगी स्त्री भ्रमंती विनश्यति २२३ ॥

अर्थ-प्रजाकी रक्षाके निमित्त देशदेशांतरोंमें भ्रमण करता हुआ राजा राज्यको वढा सकता है और धर्मोपदेश आदिके निमित्त देश-देशांतरोंमें भ्रमण करता हुआ ब्राह्मणभी सबका पूज्य होता है और एकत्र स्थित नहीं रहनेवाला योगीभी सिद्धिको प्राप्त होता है और भ्रमण करनेवाली स्त्रीका पातिव्रत्य अवश्य नष्ट हो जाता है (अर्थात् भ्रमण करनेमें अनेक गुण होनेसे राजाको उचित है कि राज्यवृद्धिके निमित्त अपने राज्यमें सदा दौरा करै) ॥ २२३ ॥

अथ द्वीपांतरयात्रा ।

इसके अनंतर द्वीपांतरकी यात्रा कहते हैं ॥

कामो दाता कामः प्रतिगृहीता कामः समुद्रमाविवेश १
मनोनुविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥२॥
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ३ ॥
अथर्व कांड ४ अनुवाक् ८.

अर्थ-कामके निमित्तही दान आदि देते हैं और कामनाके निमित्त ही लेनेवाला अंगीकार करता है और विविध कामनाके निमित्तही मनुष्य समुद्रके मध्यवर्ती द्वीपोंमें प्रवेश होते हैं ॥ १ ॥ हे मनुष्यो ! जहां मन चाहै वहांही निवास करो जिस देशमें भूमिजन्य आदि पदार्थोंसे तुमको लाभ होवै वहां जाओ ॥ २ ॥ हे परमेश्वर ! जैसे वायु सर्वत्र विचरता है वैसेही हम लोगभी अनेकविध शिल्पव्यापार आदिके

आरंभ करते हुए स्वाचारमें तत्पर होके सब देशोंमें विचरैं ॥ ३ ॥ यह अथर्ववेदका मंत्र है ॥

इति श्रुतेः प्रामाण्यात्सर्वदेशानां मध्ये गम्यागम्य-शंका नो विधेया ॥

अर्थ—इस प्रकार वेदके प्रमाण होनेसे सब देशोंमें जाने आनेकी शंका नहीं करनी चाहिये ॥

नन्वहो प्राज्ञमानिभिर्जातसंभ्रमैस्त्वधुनातनैर्भारतस्थैर्नरैर्द्वीपांतरगमनमेव विहायार्यावर्त्तांतरगतानामप्यंगवंगकलिङ्गादीनां मध्येपि गमनागमनं त्वङ्गवंगकलिंगेष्वित्यादिभिर्निषिद्ध्यतेतराम् ॥

अर्थ—निश्चय बुद्धिके द्वारा शास्त्रोंको नहीं देखनेसे उत्पन्न हुआ संदेह जिनके ऐसे प्राज्ञाभिमानी आधुनिक भारतवासी मनुष्योंने द्वीपांतरोंकी यात्राको छोडके आर्यावर्त्तके अंतर्गत (मध्यवर्त्ती) भी अंग, वंग, कालिंग आदि देशोंमें जानेआनेको अत्यंत निषेध किया है ॥

ननु पूर्वोक्तदेशेषु तीर्थयात्रां विना गच्छंतो ये च गमिष्यंति ते पुनः संस्कारार्हा भविष्यंतीति शास्त्रव्याजेन धूर्त्तैर्वासुज्ञैः किमर्थं किंवदंती प्रसारितेति चात्र विद्वद्भिर्विचारो विधेयः विचारे कृते च पुरुषार्थदौर्बल्यमेव शरणं वा भ्रममूलमेव भात्यहो ॥

अर्थ—उपरोक्त देशोंमें तीर्थयात्राके विना जो जाते हैं और जावेंगे वे निश्चय फिर संस्कार करने योग्य हो जावैंगे इस प्रकार शास्त्रके वाक्यरूप कपटसे धूर्त्तोंने या विद्वानोंने किस कारण ऐसी लोकमें किंवदंती फैलाई इस निमित्त इस विषयमें विद्वानोंको विचार करना चाहिये यदि विचार करके देखा जावे तौ पुरुषार्थकी दुर्बलताकाही शरण लेना होता है वा केवल भ्रममात्रही प्रतीत होता है ॥

एवं नोचेद्धर्मपरैः पूर्वतनैर्मनुप्रभृतिभी राजर्षिभि-
स्त्वधुनातनैर्विक्रमार्कप्रभृतिभी राजभिःस्वधर्मका-
मैर्दिग्विजयव्यापारतया समुद्रयानम्लेच्छविषयाभि-
गमनतद्विषयपर्यटनतद्भाषणादिकं च कथमुररीकृ-
तमप्यतो नूनं ज्ञायते तराम् । हूणचीनतातारगां-
धारतारुष्कादिदेशेषु धार्मिकैः स्वाचारतत्परैर्द्विजा-
तिभिर्धर्मोपदेशदेशरक्षणार्थं व्यापारार्थं च गंतव्यमे-
वाप्यतो धार्मिकाग्रयाप्यर्ज्जुनभीमसेनादिपंडुनंद-
नानां राजसूयमहोत्सवौपायिकदिग्विजयप्रस्तावे ॥

अर्थ–जो ऐसे नहीं होता तौ स्वधर्ममें तत्पर प्राचीन समयमें होने वाले मनुमहाराज आदि राजर्षि और आधुनीक समयमें उत्पन्न हुए विक्रमार्क आदि राजाओंने अपने स्वधर्ममें तत्पर होके दिग्विजयरूप व्यवहारके निमित्त समुद्रयान (समुद्रयात्रा) और म्लेच्छजातिके राज्योंमें-गमन और म्लेच्छ राजाओंके राज्योंमें निरंतर भ्रमण और म्लेच्छ जातिके राजाओंसे संभाषणको कैसे अंगीकार करते इसीसे निश्चय होता है कि हूण, चीन, तातार, गांधार, (कंधार) तारुष्क (तुर्कीस्तान) आदि देशोंमें अपने आचारमें तत्पर रहकर धार्मिक द्विजातियोंने धर्मोपदेशके निमित्त तथा देशरक्षाके निमित्त और व्यापार आदि-व्यवहारोंके निमित्त अवश्य पर्यटन करना चाहिये और देखो इसी कारणसे धर्मात्माओंमें अग्रगण्य राजा पंडुके पुत्र–भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेवने राजा युधिष्ठिरके राजसूययज्ञके महोत्सवमें पृथ्वीभरके राजाओंसे कर लेनेके निमित्त और दिग्विजय करनेको म्लेच्छ विषयोंमें सर्वत्र भ्रमण किया ॥

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ॥ २२४ ॥

प्रतीची नकुलो राजन् सव्यसाची परंतपः ॥ २२५ ॥
विजित्य शाकलं द्वीपं प्रतिविंध्यं च पार्थिवम् ॥
शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ॥ २२६ ॥
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलो भवत् ॥
सकिरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषाभवत् ॥२२७॥

अर्थ-राजा युधिष्ठिरके राजसूयमहायज्ञमें उत्तरदिशाको अर्जुनने और पूर्वदिशाको भीमसेनने और दक्षिणादिशाको सहदेवने और पश्चिमदिशाको नकुलने विजय किया शत्रुओंको तपानेवाले अर्जुनने शाकलद्वीपको जीतके प्रतिविंध्य राजाको अपने आधीन करलिया और शाकलद्वीपके पास सप्तद्वीपोंमें रहनेवाले राजाओंसे अर्जुनके सैनिकोंने तुमुलसंग्राम किया तदनंतर किरातों सहित चीनदेशको जीतके किरात और चीनियोंसे संयुक्त होकर प्राग्ज्योतिष अर्थात् ईशानकोणके देशोंके अधिप राजा भगदत्त आदिपर चढाई की ॥ ॥२२४ ॥ २२५ ॥ २२६ ॥ २२७ ॥

अन्यैश्चबहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥
वशेचक्रे महातेजा दंडकांश्च महाबलः ॥ २२८ ॥

अर्थ-भीमसेनने पूर्वदिशाको जीतके पूर्वसमुद्रके मध्यवर्ती द्वीपोंमें निवास करनेवाले अन्य बहुतजातिके योद्धाओंको जीते और महातेजस्वी बलिष्ठ सहदेवने दंडकदेशोंको अपने वशमें किये ॥ २२८ ॥

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन्म्लेच्छयोनिजान् ॥
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानि च ॥२२९ ॥
ये च कालमुखा नाम नरा राक्षसयोनयः ॥
कृष्णं कोलगिरिं चैव सुरभिपट्टनं तथा ॥ २३० ॥
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रोमकं तथा ॥

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥२३१॥
तान् सर्वान्स्ववशे चक्रे शासनादेव पांडवः ॥
ततःसागरकुक्षिस्थान्म्लेच्छान्परमदारुणान् ॥ २३२॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान्यवनान् शकान् ॥

अर्थ–दक्षिणसमुद्रके मध्यवर्ती द्वीपोंमें निवास करनेवाले निषाद, पुरुषाद, कर्ण, प्रावरण इन जातियोंके म्लेच्छोंमें उत्पन्न हुए राजाओं-को और जो कालमुखनामसे प्रसिद्ध मनुष्य जातिके राक्षस हैं उनको और कृष्णगिरि, कोलगिरि, सुरभि, पट्टन, ताम्रद्वीप, पर्वत, रोमक इन देशोंको सहदेवने अपने वशमें किये और नकुलने रामठ, हारहूण, तथा अन्यभी जो पश्चिम दिशाके राजा उन सबोंको राजा युधिष्ठि-रकी आज्ञासे अपने वशवर्त्ती (आधीन) किये और पश्चिम समुद्रके द्वीपोंमें रहनेवाले पह्लव, बर्बर, किरात, यवन, शक इन जातियोंके परमदारुण (अत्यंतलडाकु) म्लेच्छराजाओंको भी दंड देके अपने वशमें किये ॥ २२९ ॥ २३० ॥ २३१ ॥ २३२ ॥

इति प्रतीयमानाभ्यः किल महाभारतव्यक्तिभ्यः
प्रतीयततराञ्च ॥

अर्थ–इस प्रकार प्रमाणभूत महाभारतके वाक्योंसे प्राचीन राजा-ओंका द्वीपांतरोंमें जाना आना निश्चय होता है ॥

अवकाशं किलोदन्वान्रामायाभ्यर्थितो ददौ ॥
अपरांतमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ २३३ ॥
ततः पारसिकान् जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ॥

अर्थ–राजा रघुकी दिग्विजयमें लिखा है कि प्रार्थना करनेपर परशुरामजीके निमित्त समुद्रने अपने अंदर रहनेको पर्वत दिया और राजा रघुके अर्थ अपने मध्यवर्ती द्वीपोंमें रहनेवाले राजाओंके व्याज (कपट) से कर (भेट) दिया (अर्थात् रघुमहाराजने समुद्रके पारके

राजाओंसे दंड लिया) और पश्चिम समुद्रपारके राजाओंसे कर लेके रघुमहाराजने थलके मार्गसे पारसके देशोंको विजय करनेके निमित्त प्रस्थानकिया (अर्थात् समुद्रपारके द्वीपोंकी विजयके निमित्त जलमार्गसे सेनाको ले गये और पारसविजय करनेको तो थलमार्गहीसे सेनाका प्रस्थानकिया) ॥ २३३ ॥

श्रीमत्परीक्षितस्यापि दिग्विजयप्रसंगश्च भागवते–
भद्राश्वं केतुमालं च भारतं चोत्तरान् कुरून् ॥
किंपुरुषादीनि वर्षाणि विजित्य जगृहे बलिम् ॥ २३४ ॥

अर्थ–श्रीमद्भागवतमें श्रीमान् राजा परीक्षितका दिग्विजय प्रसंगमें द्वीपांतरोंका गमन ऐसा लिखा है कि भद्राश्व, केतुमाल, भारत, उत्तरकुरु, (ये चारोंही सुमेरुके चारों ओरके देश हैं जिन) को और किंपुरुष (हिमालयका उत्तरके देश) आदि सब देशोंको जीतके राजा परीक्षितने उक्तदेशोंके सब राजाओंसे कर लिया ॥ २३४ ॥

इति परमहंसानामपिमाननीयस्य श्रीमद्भागवतस्य वाक्यतो द्वीपांतरगमनं प्रतीयतेतराम् ॥ गर्गसंहितायामपि प्रद्युम्नस्य दिग्विजयप्रस्तावे–
यक्षैर्दिष्टेन मार्गेण खंडं किंपुरुषं ययौ ॥
हरिवर्षं नाम खंडं सर्वसंपत्तिसंयुतम् ॥ २३५ ॥
तस्य सीमागिरिः साक्षान्निषधो नाम पर्वतः ॥
अथ कार्ष्णिर्महाबाहुः सुमेरोरुत्तरान् कुरून् ॥ २३६ ॥

अर्थ–परमहंसों (सनकादि महर्षियों) के भी माननीय श्रीमद्भागवतके वाक्यसे द्वीपांतरोंमें गमन निश्चय प्रतीत होता है और महर्षिकृत गर्गसंहितामें भी द्वीपांतरोंके गमन विषयमें प्रद्युम्नका जाना इस रीतिसे लिखा है यक्षोंके दिखलाये हुए मार्गसे प्रद्युम्नने किंपुरुष खंड और

सर्वसंपत्तिसे संपन्न ऐसे हरिवर्षनाम खंडको विजय किया और उस हरिवर्षकी सीमारूप निषधनाम पर्वतको विजयकरके इसके अनंतर महाबाहु प्रद्युम्नने सुमेरुके उत्तरकुरुओंको विजय किया (अर्थात् प्रद्युम्नभी दिग्विजयके निमित्त सब द्वीपोंमें गये थे) ॥२३५॥२३६॥

श्रीमद्विक्रमादित्यस्यापि दिग्विजयमहोद्यमप्रसंगश्च-
यस्याष्टादशयोजनानि कटके पादातिकोटित्रयं
वाहानामयुतायुतश्च नवतेस्त्र्याकृतिर्हस्तिनाम् ।
नौकालक्षचतुष्टयं विजयिनो यस्य प्रयाणेऽभवत्
सोयं विक्रमभूपतिर्विजयते नान्यो धरित्रीधरः ॥२३७॥
यो रूमदेशाधिपतिं शकेश्वरञ्जित्वा गृहीत्वोज्जयिनीं
समाहवे॥ आनीय संभ्राम्य मुमोच यस्त्वहो स वि-
मार्कः समसह्यविक्रमः ॥ २३८ ॥

अर्थ—श्रीमान् विक्रमादित्यराजाका दिग्विजयभी इस रीतिसे लिखा है । अठारह योजनके विस्तारमें समानेवाली विक्रमार्ककी सेनामें तीन करोड पैदल और अयुतायुत घोडे और चार हजार दो सौ नौ हाथी और चार लाख जहाज जिस विक्रमके दिग्विजयकी चढाईमें एकत्र हुई ऐसा राजा विक्रम सबके ऊपर वर्त्त रहा है। पृथ्वीपर इससे अधिक कोईभी राजा नहीं । जो राजा विक्रम शक (शेख) जातिका अधिप ऐसा रूमदेश (ऐशयायी और फरंगीस्थानीरूम) के राजा-को संग्राममें जीतके अपने संग उज्जैनमें लाके सब हिंदूस्थानमें भ्रमण कराके फिर रूमहीमें भेज दिया तो ऐसे पराक्रमी राजा विक्र-मके पराक्रमको कौन सहन कर सकता है ॥ २३७ ॥ २३८ ॥

इति ज्योतिर्विदाभरणवाणिभ्यां च द्वीपांतराभिगमनं
तत्रत्यहूणयवनादिराजचक्रमहाविजयादेरुक्तत्वोपमाण-

तथा समुद्रयानम्लेच्छविषयपर्यटनपुरागमाः श्रुत्य-
नुयायिभिर्मन्वादिभिस्तदनुश्रीमद्भागवतमहाभारता-
दिभी राज्ञां सपुरोहितप्राड्विवाकादीनां निर्णीयते-
तराम् ॥ ननु यत्र सबलानां मनुमांधातृरघुपरशुराम-
रामचंद्रयुधिष्ठिरप्रभृतीनां विक्रमादित्यपर्यंतानां च
सभार्यकर्दमस्य व्यासप्रभृतिमहर्षीणां च देशावलो-
कनरक्षणार्थमेव गमनं बभूव तत्र गमने स्वाचारत-
त्परैः सांप्रतिकैः का शंका विधेयेति ॥

अर्थ—ज्योतिर्विदाभरणवाणीसे इस प्रकार द्वीपांतर यात्रा प्रतीत होती है और द्वीपांतरोंमें जाकर वहांके निवासी हूण यवन आदि जातीके राजाओंको जीतनेकी अभिलाषासे समुद्रयात्रा म्लेच्छ विषयोंमें भ्रमण करनेको वेदके अनुकूल चलनेवाले मनु आदि धर्मशास्त्रोंमें और धर्मशास्त्रोंके अनुयायी श्रीमद्भागवत महाभारत आदि पुराण इतिहासोंमें पुरोहितादिकों सहित राजाओंका जाना निश्चय प्रतीत होता है (अर्थात् मन्वादिकोंकी आज्ञासे राजाओंका द्वीपांतरोंमें जाना सिद्ध हो चुका) तौ जिन देशोंमें सेनासहित मनु, मांधाता, रघु, परशुराम, रामचंद्र और युधिष्ठिर प्रभृति विक्रमादित्य पर्यंत अनेक राजाओंने और अपनी भार्यासहित कर्दम ऋषिने तथा व्यास आदि अनेक महर्षियोंने जिन देशोंमें देशरक्षा तथा देशावलोकनके निमित्त भ्रमण किया तौ अपने सनातन धर्मप्रणीत आचारविचारमें तत्पर रहनेवाले वर्त्तमान समयके मनुष्योंको वहां जानेमें क्यों शंका करनी चाहिये ॥

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावत्स्वसंस्थया ॥
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्त्तत ॥ २३९ ॥
इति श्रीमद्भागवते ॥

मेरोर्हरेश्च द्वे वर्षे वर्षं हैमवतं ततः ॥
क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदत् ॥ २४० ॥
स देशान् विविधान् पश्यंश्चीनहूणनिषेवितान् ॥
आर्यावर्त्तमिदं देशमाजगाम महामुनिः ॥ २४१ ॥
इति श्रीमहाभारते जनकं प्रति श्रीशुकस्यागमनं
पद्भ्यामेव विधीयते ॥

अर्थ—देखो महर्षिकर्दमजी अपनी पत्नी देवहूतीको अत्यंत आश्चर्यदायी यावन्मात्र भूगोल दिखाके पत्नीसहित अपने आश्रममें चले आये यह श्रीमद्भागवतमें लिखा है । सुमेरुके पासके द्वीपोंको और हरिवर्ष, किंपुरुष आदि खंडोंको क्रमसे उल्लंघन करके शुकदेवजी महाभाग उत्तरकुरुओंसे पैदल चलते हुए भारतवर्षमें प्राप्त हुए महामुनि शुकदेवजी भारतमें प्रवेश होके भारतस्थ चीन, हूण आदि नाना प्रकारके देशोंको देखते हुए इस आर्यावर्त्तदेशमे आये इस प्रकार महाभारतमें लिखा है कि उत्तरकुरुओंसे पैदल चलते चलते शुकदेवजी राजा जनकके पास मिथिलामें आये ॥ २३९ ॥ २४० ॥ २४१ ॥

विद्यां वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक् ॥
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशांतरं हृष्टः ॥ २४२ ॥

अर्थ—जबतक मनुष्य उत्साहपूर्वक अपने देशसे देशदेशांतरोंको नहीं जाता तबतक विद्या, धन, विविध कारीगरीको भली प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता इस प्रकार पंचतंत्रमेंभी लिखा है ॥ २४२ ॥

समुद्रादिषु गमने मनोरप्याज्ञा—
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरो भवेत् ॥
नदीतीरेषु तद्विद्यात् समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥२४३॥
ब्राह्मणा लिंगिनश्चैव तदाप्यास्तारिकं तरे ॥

अर्थ—समुद्र आदिमें जानेको मनुजीकी भी आज्ञा है । दूर जानेमें देश तथा समयके अनुकूल नदी आदिके तरनेमें जो जहाजोंका किराया लिया जाता है वह समुद्रमें नहीं लिया जाता (अर्थात् नदी-आदिकी तराईमें मार्ग तथा देश और समयके अनुकूल जहाजोंका किराया कमती बढती कर दिया जाता है परंतु समुद्रकी तराई तौ सदा एकसीही ली जाती है) ॥ २४३ ॥ मनुजीका कथन है कि ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, संन्यासी आदिसे जहाज आदिका किराया न लेवै ॥

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः ॥
स्थापयंति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ २४४॥

अर्थ—समुद्रमें जहाजोंके द्वारा जाने आनेमें कुशल और देश तथा समयके अनुकूल लाभालाभको जाननेवाले मनुष्य विदेशोंसे आये हुए मालपर राजाका जो कर नियत करै वहही कर राजाको प्रमाण करना उचित है (अर्थात् किस देशमें किस समय जहाज आदिसे समुद्रमें जानेपर कितना लाभ हो सकता है और वह देश इस देशसे कितना दूर है वहांसे सामान आदि लानेमें कितना खरच लगता है इन बातोंके जाननेवाले वणिक् लोग विदेशोंसे आये हुए मालपर जो कर लगावैं उस महसूलको राजाभी प्रमाण करै मनुजीके इस प्रमाणसे तौ वणिक् आदिको भी समुद्रयात्रा प्रत्यक्ष प्रमाण होती है ॥ २४४ ॥

वणिग्यथा समुद्राद्वै यथार्थं लभते धनम् ॥
इति महाभारतेपि ॥

अर्थ—जैसे व्यापार करनेवाले वणिक्लोग समुद्रके मध्यवर्ती द्वीपोंमें जाके अनेक प्रकारकी वस्तुओंके देनलेन करनेसे यथार्थ (पूर्ण) धनको प्राप्त होते हैं महाभारतके इस प्रमाणसे भी व्यापारके निमित्त समुद्रयात्रा सिद्ध होती है ॥

इत्यादिभिः प्रतीयमानैर्महावाक्यैः शास्त्रोक्तरीत्या सर्वैर्द्विजातिभिर्जीविकार्थं प्रेक्षणार्थं च द्वीपांतरे गंत-

व्यमेव ॥ तथाप्यन्ये तु भक्ष्याभक्ष्यविषये धर्मवि-प्लवविवक्षया द्वीपांतरपर्यटनादिकं चेन्निषेधंत्येव ये प्रस्थितवंतश्चेद्बहिष्क्रियंतामित्यपरे केचिदित्याहु-स्तर्ह्यार्यप्रजा नन्वेवं पर्यायेणोच्छिन्ना भविष्यंती-त्यत्र विचार एव शरणीयः ॥

अर्थ—इत्यादि शास्त्रोक्त रीतिसे वेद, स्मृति, आदिके वाक्य समुद्रयात्रामें प्रमाण होनेसे सब द्विजातियोंको जीविकाके तथा देखनेके निमित्त भी द्वीपांतरोंमें जाना निषेध नहीं (अर्थात् जानेमें कोई क्षति नहीं) इस प्रकार वेद, स्मृति आदिके प्रमाण होनेसे भी कोई ऐसा कहते हैं कि भक्ष्याभक्ष्यके विषयमें धर्मके विप्लव हो जानेसे द्वीपांतरोंमें न जाना चाहिये और बहुतसे ऐसे भी कहते हैं कि द्वीपांतरोंमें जानेवालोंको जातिसे बाह्य कर देने चाहिये और यह भी कहते हैं कि आर्यप्रजा (चातुर्वर्ण्य विभागवाली आर्यसंतान) शनैः २ क्रमसे उच्छिन्न हो जावेगी इस कारण यहां विचार करना आवश्यक है ॥

नन्वहो द्वीपांतरमननुभवंतोप्यनाचारबहुला भूयांसो न बहिष्क्रियंते ॥ यवन-हूणाद्यनवच्छिन्नसंपार्किणो न दूरीक्रियंते ॥ अंगवंगकलिंगसिंध्वादिप्रवासिनो न जातु जातिबाह्या अनुभूयंते नैव संस्क्रियंते च ॥ तत्र गतवंतोऽद्यावधि केचिदपि संस्कृता नो श्रूयं-ते ॥ श्रीजगन्नाथपुर्यादौ श्रुतिस्मृतिप्रातिकूल्यपर-स्परोच्छिष्टभक्षणपराः सर्वे वर्णाः स्वस्वजाति-बाह्या नैव क्रियंते मांसाशिनः कान्यकुब्जाद्यो ब्राह्मणत्वेन नो हीयंते ॥ यूरोपियनयवनचैनताता-रम्लेच्छांत्यजातिभिः सह संपार्किणो धूमशकट्यां

निःशंकं भुंजमाना जातु जातिभिः कुत्रापि बहिष्कृता नो श्रूयंते ॥

अर्थ—आश्चर्य होता है कि द्वीपांतरोंमें नहीं जानेवालेभी बहुत अनाचारी असंख्य पुरुष जातिसे बाह्य नहीं किये जाते और यवन, हूण आदिसे निरंतर संगति करनेवालेभी जातिसे दूर नहीं किये जाते। और अंग, वंग, कालिंग, सिंधु आदि वर्जित देशोंमें जानेवाले कदापि जातिसे बाह्य तथा प्रायश्चित्तोंसे पवित्र नहीं किये जाते और उक्त देशोंमें जानेवाले वर्त्तमानसमयपर्यंत कोईभी संस्कार आदिसे पवित्र किये हुए नहीं सुने और श्रीजगदीशमहाराजकी पुरीमें श्रुतिस्मृतिसे निषिद्ध संपूर्ण वर्ण परस्परमें उच्छिष्ट भक्षण करनेसे भी अपनी अपनी जातिसे बाह्य नहीं किये जाते और मांसभक्षण करनेवाले कान्यकुब्ज आदि ब्राह्मण ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणपन) से हीन नहीं होते और यूरोपियन, यवन, चिनी, तातार, म्लेच्छ और अंत्य जाति इत्यादिके साथ रेलगाडीमें बैठके इनके स्पर्श करनेपर भी निःशंक भोजन करनेवाले जातिसे बाह्य किये हुए नहीं सुने ॥

नहि यवनहूणादिसंचारावासवर्ज्यं जनपदपुरतीर्थक्षेत्रादिकं किंचिदप्यसंकीर्णार्य्यमर्यादमवशिष्यते ॥ नहि तेषां वेषभाषाविचाराचारसंकलनादृते स्वकीयवेषभाषाद्युन्नतिपराः क्वचिदपि दरीदृश्यंते गृहमेधिनः ॥ नहि निजदेशाधीशाः पूर्वेषां मन्वादीनां शासनशैलीमनुपालयमाना लक्ष्यंते नैवानुपालयितुं शक्नुयुः परवशाः ॥ द्वीपांतरागतपक्वान्नमद्यादिकान्यूरीकुर्वंतोत्र न जातु जातिबाह्याः क्रियंते ॥

अर्थ—यवन, हूण आदिके संचार (आने जाने) तथा निवासके विना देश, पुर, तीर्थ, क्षेत्र आदि कोईभी नहीं दीखते और यवन आ-

दिकोंके संचार आदिसे देश, पुर, तीर्थ आदिमें आर्य संतानोंकी पारंपर्यमर्याद भी संकीर्णताके विना किंचित्भी शेष नहीं दीखती और विदेशियोंके वेष, भाषाविचार आदिमें तत्परताके विना अपने देशके वेष भाषा आदिकी उन्नति करनेमें तत्पर ऐसे देशहितैषी गृहस्थ कहींभी नहीं दीखते और भारतके अधीश (देशी राजा) भी अपने पूर्वज मनु आदिकोंकी राजनीतिका पालन करनेवाले नहीं दीखते और परवश होनेसे मनु आदिकोंकी शासनशैलीका पालन करनेमें समर्थभी नहीं हो सकते और द्वीपांतरोंसे आये हुए पक्वान्न (मिठाई) मद्य (सुरा) आदिको खानेपीनेवाले यहां जातिसे बाह्य नहीं किये जाते ॥

प्रच्छन्नपापा नो परित्यज्यंते ॥ प्रकटपापा नो प्रधर्ष्यंते ॥ तर्ह्यैवामिषभक्षणपरपाकादिकमनाद्रीयंतः स्वधर्मपराः शौर्यधैर्यगांभीर्यसौजन्याद्यंकुरितशोभनहृदया राजानो राजपुरुषा वा संप्रति देशोन्नत्य धर्मोपदेशार्थं चौपदेशिका द्वीपांतरे जिगमिषवः संति ते निःशंकागच्छेयुश्चेत्तत्र का क्षतिरिति ॥

अर्थ—गुप्त पाप करनेवाले भी दूर नहीं किये जाते और प्रगट पाप करनेवाले भी जातिसे नहीं डरते तर्हि (तौ) अब हमारा विचार यह निश्चय होता है कि मांस और अन्य देशियोंके हाथसे बने हुए [illegible]कोंको नहीं खानेवाले अपने स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाले शौर्य, धैर्य, गांभीर्य और सौजन्य आदि गुणोंसे संयुक्त ऐसे राजालोग या प्रधान आदि प्रजागण या ब्रह्मचारी आदि धर्मोपदेशक वर्त्तमान समयमें देशकी उन्नतिके निमित्त वा धर्मोपदेशके अर्थ जो द्वीपांतरोंमें जानेकी इच्छा करैं वे निःशंक जावैं स्वाचार तत्पर पुरुषोंक वह जानेमें कोई क्षति नहीं है ॥

वसन् वा यत्र कुत्रापि स्वाचारं न विवर्ज्जयेत् ॥

अर्थ—अत्रिस्मृतिमें लिखा है कि पुरुष अपनी इच्छानुसार जहां कहां निवास करै परंतु अपने कुलाचार आदिको न छोडे ॥

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे संतोपि मानवाः ॥
प्रिया भवंति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्युपस्थिताः२४५॥

अर्थ—अपने अपने कर्मोंको करते हुए दूर देशोंमें जाकर निवास करते हैं तौ भी अपने अपने कर्त्तव्य कर्मोंमें स्थित रहनेवाले मनुष्य सर्व लोकके प्रियही होते हैं (अर्थात् अपने आचार विचारमें तत्पर रहनेवाले द्वीपांतरोंमें जानेसे भी जातिसे बाह्य नहीं हो सकते) ॥ २४५ ॥

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ॥
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते ॥ २४६ ॥

अर्थ—देवयात्रा, विवाह और यज्ञ आदिमें और संपूर्ण प्रकारके शास्त्रोक्त उत्सवोंमें स्पर्शास्पर्शका दोष नहीं लगता ॥ २४६ ॥

अंगीकारेण ज्ञातीनां ब्राह्मणानुग्रहेण च ॥
पूयंते तत्र पापिष्ठा महापातकिनोपि ये ॥ २४७ ॥

अर्थ—अपनी जातिवालोंके अंगीकार करलेनेसे और ब्राह्मणोंकी अनुग्रह (कृपा) से महान् पाप करनेवाले पापिष्ठ मनुष्यभी पवित्र हो जाते हैं (अर्थात् जिसको जाति अंगीकार कर लेवै और वेदके वक्ता ब्राह्मण प्रसन्न होके प्रायश्चित्त करा देवै तौ महान् पातकी भी शुद्ध हो जाता है) ॥ २४७ ॥

इत्यत्रिवाक्येण सर्वेषूत्सवादिषु गमनागमनं कुत्रापि नो निषिध्यते स्पृष्टास्पृष्टत्वमपि नो विधीयते-अतोपरं महापातकिनोपि ब्राह्मणानां प्रसन्नतया शुद्धा भवंतीति तर्हि यत्र कुत्रापि कार्यार्थं स्वाचार-परो गत्वा पुनरागत्य ब्राह्मणान् दानमानाभ्यां संतोषयित्वा पूतो भवतीति किं चित्रम् ॥

अर्थ—इस प्रकार अत्रिस्मृतिके वाक्यसे संपूर्ण उत्सवादिकाम कहींभी आना जाना निषिद्ध नहीं होता और स्पर्शास्पर्शभी नहीं लगता और इसके उपरांत ब्राह्मणोंकी प्रसन्नतासे महापापी भी शुद्ध हो सकता है तौ अपने आचारविचारमें तत्पर रहके कार्यके निमित्त किसीभी देशमें जाकर फिर लौट आनेपर वेदके वक्ता ब्राह्मणोंको दान मानसे प्रसन्न करके पवित्र हो जानेमें क्या आश्चर्य है ॥

धर्मशास्त्ररथारूढा वेदखड्गधरा द्विजाः ॥
क्रीडार्थं चापि यद्ब्रूयुः स धर्मः परमः स्मृतः ॥२४८॥

अर्थ—धर्मशास्त्ररूप रथमें बैठे हुए और वेदरूप खड्गको धारण करनेवाले ऐसे योग्य विद्वान् ब्राह्मण क्रीडाके निमित्तभी जो वाक्य कहें वही परम धर्म समझा जाता है ॥ २४८ ॥

वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतोपरः ॥
शिष्टाचीर्णोऽपरः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः ॥२४९॥

अर्थ—जो वेदोंने सबके निमित्त धर्म कहा है वह परम धर्म कहाता है और मन्वादि धर्मशास्त्रोंने तथा सूत्रकारोंने जो धर्म कहा है वह अपर धर्म है और शिष्ट पुरुषोंने जिस धर्मका आचरण किया है वहभी अपर धर्म है उक्त तीनोंही प्रकारके धर्मोंको सनातन धर्म कहते हैं ॥ २४९ ॥

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ॥
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रुष्यति ॥२५०॥

अर्थ—जिस शास्त्रोक्त या शिष्टाचीर्ण मार्गसे जिसका पिता पितामहादि चले आते हों उसी रीतिके अनुसार श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गमें चलता हुआ मनुष्य कदापि दूषित नहीं होता ॥ २५ ॥

स्वाचारपरा बहवो राजानो द्वीपांतरे गतवंतस्तैः प्राय-
श्चित्तं कृतमिति कुत्रापि न दृष्टं नैव श्रुतं च तर्ह्यधुना

स्वाचारपराः पुनरागत्य प्रायश्चित्तं कुर्वंति ते कथं पूता नो भवंतीति विचारो विधेयः ॥

अर्थ–अपने आचारविचारमें तत्पर ऐसे बहुतसे राजा महाराजा द्वीपांतरोंमें गये उन्होंने प्रायश्चित्त किया ऐसा इतिहास ग्रंथोंमें कहींभी न देखा और न सुना तौ अपने २ आचार विचारमें तत्पर रहनेवाले इस समय द्वीपांतरोंमें जाके फिर यहां आके प्रायश्चित्त करैं तौ वे कैसे शुद्ध नहीं होते यहां सबको विचार करना चाहिये (इत्यलम्) ॥

अथ देशोन्नतिः ।

इसके अनंतर देशकी उन्नतिका प्रकरण कहते हैं ॥

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः ॥
चरंति निर्भयास्तस्य वर्द्धते विषयः सदा ॥ २९१ ॥

अर्थ–जैसे पिताके घरमें पुत्र निर्भय वर्त्तते हैं वैसेही जिस राजाके राज्यमें सब प्रजा निर्भय होके अपने अपने कर्त्तव्य कार्योंको करै (अर्थात् प्रजापर किसी तरहका अन्याय नहीं होता हो) उस राजाका राज्य सदा बढता है ॥ २९१ ॥

अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः ॥
नयापनयवेत्तारस्तस्य देशोन्नतिर्भवेत् ॥ २९२ ॥

अर्थ–जिस राजाके राज्यमें संपूर्ण राष्ट्र (राज्य) निवासी जन अपने अपने विभवको प्रगट करके व्यवहार करैं (अर्थात् धन आदिको व्यवहारके निमित्त देशदेशांतरोंसे लाने ले जानेमें किसी तरहका भय न हो) और सब प्रजा न्याय तथा अन्यायके व्यवहारोंको जानती हो उस राजाके देशकी सदा उन्नति होती है ॥ २९२॥

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ॥
तस्य तद्वर्द्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः ॥ २९३ ॥

अर्थ–जिस राजाका राज्य अपने बाहुबलसे निर्भय होके वर्तै (अर्थात् सेना आदिके बलसे जिस राजाके राज्यपर शत्रु तथा

चौर आक्रमण न कर सकैं) उस राजाका राज्य सिंचे हुए वृक्षके समान दिन २ प्रति वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ २५३ ॥

विद्यावद्भिः कलाशौण्डैः शूरैर्देशहितैषिभिः ॥
पूरितं विषयं यस्य तस्य देशोन्नतिर्भवेत् ॥ २५४ ॥

अर्थ—विद्यावान् विविध प्रकारकी कलाविद्यामें चतुर शूर वीर देशके हितकी इच्छा करनेवाले ऐसे पुरुषोंसे जिस राजाका राज्य परिपूर्ण हो उस राजाके राज्यकी सदा उन्नति होती है ॥ २५४ ॥

सोत्साहैर्व्यसनासक्तैः कृतज्ञैर्दृढसौहृदैः ॥
क्रियाविद्भिर्नयज्ञैश्च देशस्यैवोन्नतिर्भवेत् ॥ २५५ ॥

अर्थ—उत्साहपूर्वक कार्य करनेवाले दुर्व्यसनोंसे सदा बचनेवाले परोपकृत उपकारोंको जाननेवाले सबसे दृढ प्रीति रखनेवाले नाना-प्रकारकी कलाकौशल आदिको जाननेवाले नीति (कानून) के जान-नेवाले ऐसे मनुष्योंसे जो देश परिपूर्ण होता है उसी देशकी उन्नति होती ॥ २५५ ॥

यथा तेषां च मन्येत श्रेय आत्मन एव च ॥
तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्त्तयेत् ॥ २५६॥

अर्थ—जिन जिन कार्योंके करनेसे राजा अपना और अपनी संपूर्ण प्रजाका जैसे हितको मानै उन सब कार्योंकी अपने राज्यमें प्रतिदिन वृद्धि करै (अर्थात् शिल्प, विद्या, कृषि, व्यापार आदिके जिन जिन कार्योंसे प्रजाको और अपनेको लाभ हो उन सब कार्योंकी अपने राज्यमें वृद्धि करै ॥ २५६ ॥

यथादेशं यथाकालं यथाबुद्धि यथाबलम् ॥
अनुशिष्याद्यथा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः ॥ २५७॥

अर्थ—शास्त्रोक्तधर्मकी इच्छा करनेवाला राजा प्रजाके हितकारी कर्मोंके करनेमें तत्पर होके देश, काल, बुद्धि, बल इन चारोंके अनु-

कूल प्रजाको शिक्षा दै (अर्थात् देश, काल, बुद्धि, बलको देखके प्रजाको योग्य शिक्षा देवै) ॥ २५७ ॥

रक्ष्याधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ॥
मंत्रचिंतासुखं काले पंचभिर्वर्द्धते मही ॥ २५८ ॥

अर्थ–प्रजाकी रक्षाके निमित्त गुल्म (थाणा) आदि नियत करै, शत्रुओंसे युद्ध करके प्रजाको शत्रुओंके भयसे बचावै धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करै, नवीन कर आदिके लगानेमें प्रजाकी संमति लेवे, दुर्भिक्ष आदिके समयमें धनधान्यसे प्रजाकी विपदाको दूर करके सुख देवै इन पाँच प्रकारके कार्योंसे देशकी सदा वृद्धि होती है ॥ २५८ ॥

आत्मसंपद्गुणैः सम्यक् संयुक्तं युक्तकारिणम् ॥
महेंद्रमिव राजानं प्राप्य लोकोऽभिवर्द्धते ॥ २५९ ॥

अर्थ–जैसे इंद्रके वर्षनेसे लोक वृद्धिको प्राप्त होते हैं वैसेही वाग्मित्व (प्रामाणिक वाक्य) आदि अनेक प्रकारके जो राजाके आत्मगुण हैं उनसे भली प्रकार संयुक्त और नीतिशास्त्रोक्त देश, काल, बुद्धि बल, आदिके अनुकूल कार्योंके करनेवाले राजाके शासनको प्राप्त होके लोक सर्वथा वृद्धिको प्राप्त होता है ॥ २५९ ॥

---

१ वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान् नयवित् कविः ॥
प्रियवक्ता प्रमादी च धर्मज्ञो वृद्धसेवकः ॥ १ ॥

वक्ता चार और अमात्यादिकोंको अपने अपने अधिकारके योग्य कार्यकी आज्ञा देनेमें कुशल प्रगल्भः शत्रु आदिके दमन करनेमें उत्कर्षता दिखाना मेधावी तर्क करनेमें कुशल स्मृतिमान् अतीत समयमें किये हुए कार्यके लाभालाभ वा परोपकारको याद रखनेवाला नयवित् नीतिशास्त्रके अनुसार राज्यकी रक्षा करनेमें तत्पर कविः भूतभाविष्यत्वर्त्तमानके लाभालाभको जानके कार्य करनेवाला प्रियवक्ता सबसे प्रिय बोलनेवाला अप्रमादी दुर्व्य-सनोंसे बचके चलनेवाला धर्मज्ञः वेदोक्त धर्मका जाननेवाला वृद्धसेवकः विद्यावृद्ध, धनवृद्ध आयुवृद्ध इन गुणोंसे युक्त वृद्धोंकी संगति करनेवाला राजा उत्तम कहाता है और वक्तृत्व आदि राजाओंके आत्मगुणभी कहलाते हैं ॥ १ ॥

अथ विद्ययोभयलोकप्राप्तिः ।

इसके अनंतर विद्यासे उभय लोककी प्राप्ति कहते हैं ॥

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानाद्धर्षशोकौ व्युदस्यति ॥
उभौ लोकाववाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन् यथाविधि ॥ २६० ॥

अर्थ–आन्वीक्षिकीविद्याके विषय आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेसे मनुष्य हर्ष और शोकको त्याग देना है और वेदत्रयीप्रतिपाद्य धर्मको शास्त्रोक्तविधिसे सेवन करता हुआ इस लोक और परलोकको प्राप्त होता है ॥ २६० ॥

द्वे विद्ये कीर्तिते प्राज्ञैः परा चैवापरेति च ॥
परया मोक्षमाप्नोति त्रिवर्गं तु तथान्यया ॥ २६१ ॥

अर्थ–बुद्धिमानोंने परा और अपराके भेदसे दो प्रकारकी विद्या कही है उन दो प्रकारकी विद्याओंमें परा विद्या (ब्रह्मविद्या) के सेवन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और अपरा विद्या (सांग वेदविद्या) सेवन करनेसे धर्म, अर्थ, कामको प्राप्त होता है ॥ २६१ ॥

संयोजयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ॥
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ २६२ ॥

अर्थ–जैसे नीचे स्थलको बहती हुईभी नदी अपनेमें मिले हुए जलको अप्राप्य समुद्रमें मिला देती है वैसेही नीचकुलकेभी मनुष्यको प्राप्त हुई विद्या बडे ऐश्वर्ययुक्त राजासे मिला देती है इसके परे लाभा-लाभमें तौ भाग्यही प्रबल होता है (अर्थात् विद्या ऐसा पदार्थ है कि बडे बडे ऐश्वर्यशाली राजाओंसे मिला देती है परंतु धनादिकी प्राप्तिमें तौ भाग्यही प्रबल होता है) ॥ २६२ ॥

अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ॥
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ २६३ ॥

अर्थ–अनेक संदेहोंको दूर करनेवाला और जो पदार्थ नेत्र आदि

इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष (प्रगट) देखने सुननेमें नहीं आता उसको भी प्रत्यक्ष दिखलानेवाला और सर्व मनुष्योंको धर्म आदि व्यवहारोंके जनानेमें नेत्ररूप ऐसे शास्त्रको जिस पुरुषने अध्ययन नहीं किया वह मनुष्य इस संसारमें अंधा है ॥ २६३ ॥

श्रियः प्रदुग्धे विपदो रुणद्धि यशांसि सूते मलिनं प्रमार्ष्टि ॥ संस्कारशौचेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥ २६४ ॥

अर्थ-जैसे कामधेनु मनुष्योंको दूध देती है और दरिद्रता आदिको दूर करती है और वत्सोंको प्रगट करती है दुर्बलताको मिटाती है और अनेक विध कार्योंसे धनोपार्जन कराती है वैसे ही श्रमके साथ पढी हुई शुद्ध विद्यासे पवित्र हुई बुद्धि अनेकविध पूर्ण लक्ष्मीको या शोभाको प्रगट करती है और विपदाको दूरसेही रोकती है और पवित्र कीर्तिको उत्पन्न करती है दुर्व्यसनोंसे छुडाती है और संस्काररूप शौचसे परम पवित्र करती है (अर्थात् विद्याभ्याससे शुद्ध हुई बुद्धि कामधेनुके समान संपूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करती है इस कारण विद्याका अध्ययन अवश्य करना चाहिये) ॥ २६४ ॥

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते
कांतेव चापि रमयत्यपनीय खेदम् ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥ २६५ ॥

अर्थ-जैसे कल्पवृक्ष मनोगत सब कामोंको सिद्ध कर सकता है वैसेही विद्याभी मनुष्यके सब मनोरथोंको सिद्ध कर देती है जैसे माता पुत्रकी रक्षा करती है वैसेही विद्या भी मनुष्यकी अनेक प्रकारसे रक्षा करती है और पिता पुत्रको हितकारी कामोंमें प्रवर्त्त करता है वैसेही विद्याभी पुरुषको उभय लोकके हितकारी कामोंमें लगा देती है जैसे स्त्री अपने पतिके सांसारिक खेदको दूर करके आह्लादित करती है

वैसेही विद्याभी मनुष्यके त्रिविध खेदोंको दूर करके आनंदित कर देती है और लक्ष्मीको विस्तारित करती है और दश दिशाओंमें सुकीर्त्तिको फैलाती है और इस संसारमें ऐसा कौन पदार्थ है जिसको विद्या सिद्ध नहीं कर सकती ॥ २६५ ॥

हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्णाति यत् सर्वदाप्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं परम् ॥ कल्पांतेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमंतर्धनं येषां तान् प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सह स्पर्द्धते ॥ २६६ ॥

अर्थ—विद्यारूप उत्तम धन चोरोंके दृष्टिमें भी नहीं आ सकता और विद्यारूप धनको संचय करनेवाले पुरुषको वह धन सर्वदा बढाता ही रहता है और विद्याभिलाषी पुरुषोंके निमित्त दिया हुआ विद्यारूप धन अहर्निश परम वृद्धिको प्राप्त होता है और विद्यारूप धन कल्पांतों में भी नाशको प्राप्त नहीं होता हे भूमिपालो! जिनके पास ऐसा विद्यारूप उत्तम धन है उन पुरुषोंके प्रति मानको छोडके उनका आदर सत्कार करो ऐसे उत्तमधनवालोंके साथ कौन पुरुष ईर्षा करे (अर्थात् बुद्धिमानोंके साथ कोईभी ईर्षा नहीं करता) ॥ २६६ ॥

अथ विद्याकलानां वर्णनम् ।

इसके अनंतर विद्या और कलाओंका वर्णन करते हैं ॥

विद्यानां च कलानां च शिक्षार्थं विविधा नृपैः ॥
स्वकीयविषये कार्याः शाला ग्रामेषु सर्वतः ॥ २६७ ॥

अर्थ—राजाओंको उचित है कि अपने राज्यके ग्राम ग्राममें विद्या और कला आदिकी पढाईके निमित्त पाठशाला आदि बनावें ॥ २६७ ॥

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ॥
कारयंति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः ॥ २६८ ॥

अर्थ-नारदमुनि राजा युधिष्ठिरको कहते हैं कि हे राजन्! धर्मके जाननेवाले सर्वशास्त्रोंमें प्रवीण ऐसे आचार्य (विद्या पढानेवाले) आपके राज्यस्थ सर्व ग्रामोंमें बालकोंको विद्या तथा कला आदि और सैनिकोंको व्यूहाभ्यास आदिकी शिक्षा श्रेष्ठ रीतिसे देते हैं या नहीं ॥ २६८ ॥

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ॥
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥ २६९ ॥

अर्थ-हे भरतवंशेश्वर राजन् युधिष्ठिर! आपके राज्यस्थ विद्या आदिकी शालाओंमें बालकोंको विद्याभ्यासकी सुगमताके निमित्त प्रथम सर्वशास्त्रोंके सार संक्षेप रीतिसे उपदेश किये जाते हैं वा नहीं और हाथी घोडे बैल ऊँट आदिकोंके शुभाशुभलक्षण, परीक्षा, चिकित्सा, औषधि, उद्दीपन, मादन आदि प्रकारोंको प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथोंकी शिक्षा दी जाती है वा नहीं ॥ २६९ ॥

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग्गृहे ते भरतर्षभ ॥
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यंत्रसूत्रं च नागरम् ॥ २७० ॥
कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदंडश्च तेऽनघ ॥
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥ २७१ ॥

अर्थ-हे राजन्! आपके घरमें राजकुमारोंको धनुर्वेदके ग्रंथोंकी और बंदूक आदि चलाने बनानेके ग्रंथोंकी राजनीतिके ग्रंथोंकी शिक्षा दी जाती है वा नहीं और संपूर्ण प्रकारके अस्त्रोंकी, ब्रह्मदंड आदि आभिचारिक विद्याकी और शत्रुओंकी सेनाको नाश करनेवाले हालाहल आदि विषके प्रयोगोंकी शिक्षा दी जाती है वा नहीं (अर्थात् राजाको उचित है कि अपने राज्यमें सर्व प्रकारकी विद्या पढानेके निमित्त अनेक पाठशाला बनावै) ॥ २७० ॥ २७१ ॥

विद्यापारंगतानां च परीक्षार्थं कलाविदाम् ॥
पत्तने वै प्रकर्त्तव्या शाला सर्वांगसंवृता ॥ २७२ ॥

अर्थ-विद्याके पारगामियोंकी और कलाके जाननेवालोंकी परीक्षाके निमित्त राजा उत्तम शहरमें सब अंगोंसे संवृत ऐसी शाला (विश्वविद्यालय) बनावै (अर्थात् विद्या तथा कला आदिकी परीक्षाके निमित्त उत्तम विश्वविद्यालय स्थापन करै) ॥ २७२ ॥

निर्मत्सरा दयावंतः कलाविद्याविशारदाः ॥
परीक्षकाः शिक्षकाश्च सर्वोऽन्यैः परीक्षिताः ॥२७३॥

अर्थ-राजाको उचित है कि विश्वविद्यालयमें विद्या तथा कला आदिकोंकी पढाईकी परीक्षाके निमित्त अनेक बार परीक्षा किये हुए और मत्सरतासे रहित और दयालु और कला तथा विद्याओंमें पारंगत ऐसे पंडितजन परीक्षा तथा शिक्षाके निमित्त नियत करै ॥२७३॥

योऽधीतविद्यः सकलः स सर्वेषां गुरुर्भवेत् ॥
न च जात्यानधीतो यो गुरुर्भवितुमर्हति ॥ २७४ ॥

अर्थ-जो कलासहित संपूर्ण विद्याओंको जानता हो वह संपूर्णका गुरु (शिक्षक) हो सकता है जो अनपढ हो वह ब्राह्मणभी केवल जातिसे गुरु होनेको समर्थ नहीं होता (अर्थात् विद्यावान् सबका शिक्षक होता है केवल जातीसे शिक्षक नहीं हो सकता) ॥ २७४ ॥

विद्याकलानां वृद्ध्यर्थं पूजनीयाश्च तद्विदः ॥
विद्या ह्यनंताश्च कलाः संख्यातुं नैव शक्यते ॥२७५॥

अर्थ-अपने राज्यमें विद्या और कलाकी वृद्धिके निमित्त राजाको विद्यावानोंका आदर सत्कार करना चाहिये इस संसारमें विद्या और कला अनंत (अनेक प्रकारकी) हैं विद्या तथा कलाके भेदोंको कोई भी नहीं गिन सकता ॥ २७५ ॥

विद्या मुख्याश्च द्वात्रिंशच्चतुःषष्टिः कलाः स्मृताः ॥
यद्यत्स्याद्वाचिकं सम्यक्कर्म विद्याभिसंज्ञकम् ॥२७६॥

अर्थ-विद्या और कलाके अनंत भेद होनेसे शास्त्रोंमें मुख्य विद्या

बत्तीस ३२ और मुख्य कला चौसठ ६४ कही हैं और जो जो कर्म वाणीसे भले प्रकार किया जाय वह विद्या कहलाती है (अर्थात् जो २ वाणीका विषय है उसीका नाम विद्या है) ॥ २७६ ॥

शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम् ॥
उक्तं संक्षेपतो लक्ष्म विशिष्टं पृथगुच्यते ॥ २७७ ॥

अर्थ–जिसको मूक (अर्थात् गूंगा) मनुष्यभी कर सकै उस कर्मका नाम शास्त्रकारोंने कला कहा है विद्या और कलाका संक्षेप रीतिसे लक्षण कह दिया अब विद्या तथा कलाओंका विशेष लक्षण भिन्न २ कहते हैं ॥ २७७ ॥

विद्यानां च कलानां च नामानि तु पृथक् पृथक् ॥
उच्यंते राजपुत्राणां हितायेह मयाधुना ॥ २७८ ॥

अर्थ–राजकुमारोंके हितके निमित्त मैंने इस ग्रंथमें विद्या और कलाओंके नामभी पृथक् २ कहे हैं ॥ २७८ ॥

ऋग्यजुः साम चाथर्वा वेदा आयुर्धनुः क्रमात् ॥
गांधर्वश्चैव तंत्राणि ह्युपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥ २७९ ॥

अर्थ–ऋक् १ यजु २ साम ३ अथर्व ४ ये चार वेद हैं और आयुर्वेद ५ धनुर्वेद ६ गांधर्ववेद ७ तंत्रशास्त्र ८ ये चारोंही चारों वेदोंके उपवेद क्रमसे कहे हैं ॥ २७९ ॥

शिक्षा व्याकरणं कल्पो निरुक्तं ज्योतिषं तथा ॥
छंदः षडंगानीमानि वेदानां कीर्तितानि हि ॥ २८० ॥

अर्थ–शिक्षा ९ व्याकरण १० कल्प ११ निरुक्त १२ ज्योतिष १३ छंद १४ इन शिक्षा आदि छः शास्त्रोंको वेदोंके षडंग कहते हैं ॥ २८० ॥

मीमांसा तर्कसांख्यानि वेदांतो योग एव च ॥
इतिहासाः पुराणानि स्मृतयो नास्तिकं मतम् ॥ २८१ ॥

अर्थशास्त्रं कामशास्त्रं तथा शिल्पमलंकृतिः ॥
काव्यानि देशभाषावसरोक्तिर्यावनं मतम् ॥ २८२ ॥
देशादिधर्मा द्वात्रिंशदेता विद्याभिसंज्ञिताः ॥
मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनाम प्रोक्तमृगादिषु ॥ २८३ ॥

अर्थ—मीमांसा १५ न्याय १६ सांख्य १७ वेदांत १८ योग १९ इतिहास २० पुराण २१ धर्मशास्त्र २२ नास्तिकोंका मत २३ अर्थ-शास्त्र २४ काम (कोक) शास्त्र २५ शिल्पशास्त्र २६ अलंकार २७ काव्य २८ देशभाषा २९ अवसरोक्ति ३० यवनोंका मत ३१ देश आदिकोंके धर्म ३२ इन बत्तीसको शास्त्रकारोंने मुख्य बत्तीस विद्या-संज्ञक कहा है और ऋग्वेद आदि वेदोंमें मंत्र और ब्राह्मणकाभी वेद-नाम कहा है ॥ २८१ ॥ २८२ ॥ २८३ ॥

जपहोमार्चनं यस्य देवताप्रीतिदं भवेत् ॥
उच्चारान्मंत्रसंज्ञं तद्विनियोगि च ब्राह्मणम् ॥ २८४ ॥

अर्थ—जिसके उच्चारणसे जप, होम, पूजन आदि देवताओंको प्रीतिके देनेवाले हों उसको मंत्र कहते हैं और जिसमें मंत्रके विनियोग आदि हों उसको ब्राह्मण कहते हैं ॥ २८४ ॥

ऋग्रूपा यत्र ये मंत्राः पादशोऽर्धर्चशोऽपि वा ॥
येषां हौत्रं स ऋग्भागः समाख्यानं च यत्र वा ॥२८५॥

अर्थ—जहां ऋग्वेदरूप जो मंत्र हैं चाहे वे ऋचाके चतुर्थांश हो चाहे आधी ऋचाके हो परंतु जिनसे होताके करनेका कर्म होता है अथवा जिसमें इतिहास हो वह ऋग्वेदका भाग कहाता है (अर्थात् जिसमें होताके करनेका कर्म और इतिहास हो वह ऋग्वेद है) ॥२८५॥

प्रश्लिष्टपठिता मंत्रा वृत्तगीतविवर्जिताः ॥
आध्वर्यवं यत्र कर्म त्रिगुणं यत्र पाठनम् ॥ २८६ ॥

मंत्रब्राह्मणयोरेवं यजुर्वेदः स उच्यते ॥
उद्गीथं यस्य शस्त्रादेर्यज्ञे तत् सामसंज्ञितम् ॥२८७॥

अर्थ–जो मंत्र भिन्न २ पढे हैं और जिनमें वृत्तांत और गीत नहीं हो और जिनमें अध्वर्युके करनेका कर्म हो और जो तिगुना पढा जाय वह मंत्र और ब्राह्मणरूप यजुर्वेद कहा है जिसका यज्ञके विषयमें शस्त्र आदिकोंके ऊँचे स्वरसे गान है उसको सामवेद कहते हैं ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

अथर्वांगिरसो नाम ह्युपास्योपासनात्मकः ॥
इति वेदचतुष्कं तु ह्युद्दिष्टं च समासतः ॥ २८८ ॥

अर्थ–जिसमें उपास्य (पूजा करने योग्य पदार्थ) का और उपासना (पूजा करनेकी रीति) का वर्णन हो वह आंगिरसनामसे अथर्ववेद कहा है इस प्रकार चारों वेदोंका संक्षेपसे वर्णन किया है ॥२८८॥

विंदत्यायुर्वेत्ति सम्यगाकृत्यौषधिहेतुतः ॥
यस्मिन्नृग्वेदोपवेदः स चायुर्वेदसंज्ञकः ॥ २८९ ॥

अर्थ–जिसमें आकृति, औषधि, हेतु इनसे भले प्रकार अवस्थाका ज्ञान हो वह ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद (वैद्यक) कहाता है ॥ २८९॥

युद्धशस्त्रास्त्रकुशलो रचनाकुशलो भवेत् ॥
यजुर्वेदोपवेदोऽयं धनुर्वेदस्तु येन सः ॥ २९० ॥

अर्थ–जिसके पढनेसे मनुष्य युद्ध करना, शस्त्र अस्त्र आदि चलाना और सेनाकी व्यूह रचना (कवायद करना कराना) आदिमें कुशल (निपुण) हो जाय वह यजुर्वेदका उपवेद नाम धनुर्वेद (शस्त्रास्त्र चलानेकी विद्याका शास्त्र) कहाता है ॥ २९० ॥

स्वरैरुदात्तादिधर्मैस्तंत्रीकंठोत्थितैः सदा ॥
सतालैर्गानविज्ञानं गांधर्वो वेद एव सः ॥ २९१ ॥

अर्थ–जिसमें वीणा आदिके बजानेसे उत्पन्न हुए तालमूर्च्छना-

सहित उदात्तादि धर्मवाले निषाद आदि स्वरोंसे रागरागिनी आदिके पहचाननेकी रीति हो वह सामवेदका उपवेद गांधर्व वेद (संगीत) कहाता है ॥ २९१ ॥

विविधोपास्यमंत्राणां प्रयोगास्तु विभेदतः ॥
कथिताः सोपसंहारास्तद्धर्मनियमैश्च षट् ॥ २९२ ॥
अथर्वणां चोपवेदस्तंत्ररूपः स एव व हि ॥
लक्षणं चोपवेदानां कथितमृषिसत्तमैः ॥ २९३ ॥

अर्थ–जिसमें अनेक प्रकारकी उपासनाके मंत्रोंका अपने वांछित इष्टके अनुकूल पूजन करनेका प्रयोग हो और उन प्रयोगोंके धर्म और नियमोंके अनुकूल मंत्रोंका संहारभी कहा हो (अर्थात् मंत्र चलाने और मंत्रोंके आकर्षण करनेकी विधिभी कही हो) वे मुख्य छः अथर्ववेदका उपवेद (तंत्र) नामसे कहा है इस प्रकार ऋषिसत्तमोंने चारोंही उपवेदोंके लक्षण कहे हैं ॥ २९२ ॥ २९३ ॥

स्वरतः कालतः स्थानात् प्रयत्नानुप्रदानतः ॥
सवनाद्यैश्च सा शिक्षा वर्णानां पाठशिक्षणात् ॥२९४॥

अर्थ–उदात्त आदि स्वरोंसे, ह्रस्व दीर्घ प्लुत आदिके उच्चारणरूप कालसे तालु आदि स्थानसे, महाप्राण आदि प्रयत्नसे, और सवन आदिसे जिसमें वर्णोंके उच्चारण करनेकी विधि हो वह शिक्षा (वर्णोच्चारणकी रीतिका शास्त्र) कहाती है ॥ २९४ ॥

प्रयोगो यत्र यज्ञानामुक्तो ब्राह्मणशेषतः ॥
श्रौतकल्पः स विज्ञेयः स्मार्त्तकल्पस्तथेतरः॥२९५॥

अर्थ–जिसमें ब्राह्मणपाठके शेष भागसे यज्ञ करनेका विधान हो वह श्रौतकल्प कहाता है और उससे भिन्न स्मार्त्तकल्प होता है ॥ २९५॥

व्याकृताः प्रत्ययाद्यैश्च धातुसंधिसमासतः ॥
शब्दापशब्दा व्याकरणमेकाद्विबहुलिंगतः ॥ २९६ ॥

अर्थ-जिसमें प्रत्यय आदिसे और धातु, संधि, समास, एक वचन, द्विवचन, बहुवचन आदि भेदसे शुद्ध, अशुद्ध शब्दोंका विवरण हो वह व्याकरण कहाता है ॥ २९६ ॥

शब्दनिर्वचनं यत्र वाक्यार्थैकार्थसंग्रहः ॥
निरुक्तं तत्समाख्यानाद्वेदांगं श्रौतसंज्ञकम् ॥ २९७ ॥

अर्थ-जिसमें शब्दकी व्युत्पत्ति और वाक्यार्थसे एक अर्थका संग्रह कहा हो और वेदकी भली प्रकार व्याख्या होनेसे वह निरुक्त नामसे श्रौतसंज्ञक वेदका अंग कहा है ॥ २९७ ॥

नक्षत्रग्रहगमनैः कालो येन विधीयते ॥
संहिताभिश्च होराभिर्गणितं ज्योतिषं हि तत् ॥२९८॥

अर्थ-जिसमें नक्षत्र और ग्रहोंकी गति (चाल) से समयका विधान हो (अर्थात् नक्षत्र आदिकी गतिसे सत्ययुग आदिके जाने आनेका विचार हो) और संहितासे और होरासे ग्रहआदिका गणित हो वह ज्योतिष कहाता है ॥ २९८ ॥

म्यरस्तजभ्नगैर्लांतैः पद्यान्यत्र प्रमाणतः॥
कल्पांते छंदःशास्त्रं तद्वेदानां पादरूपधृक् ॥ २९९ ॥

अर्थ-मगण, यगण, रगण, सगण, तगण, जगण, भगण, नगण और गुरु लघुके प्रमाणसे जिसमें पद्य आदि श्लोकोंके रचनेकी विधि हो वह कल्पके अंतिमभागमें छंदःशास्त्रके नामसे वेदका अंग कहा है ॥ २९९ ॥

यत्र व्यवस्थिता चार्थकल्पना विधिभेदतः ॥
मीमांसा वेदवाक्यानां सैव न्यायश्च कीर्तितः॥३००॥

अर्थ-जहां अर्थकी कल्पना (विधिके भेदसे अर्थकी कल्पना) हो वह मीमांसा और वेदवाक्योंका न्याय कहाता है ॥ ३०० ॥

भावाभावपदार्थानां प्रत्यक्षादिप्रमाणतः ॥
सविवेको यत्र तर्कः कणादादिमतं च यत् ॥ ३०१ ॥

अर्थ-जिसमें भाव और अभावरूप पदार्थोंका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे विवेकसहित विचार हो वह कणाद आदि मुनियोंका मत तर्क (न्याय) शास्त्र कहाता है ॥ ३०१ ॥

पुरुषोऽष्टौ प्रकृतयो विकाराः षोडशेति च ॥
तत्त्वादिसंख्यावैशिष्ट्यात्सांख्यमित्यभिधीयते॥३०२॥

अर्थ-जिसमें ईश्वर, आठ प्रकृति, सोलह विकार, और तत्व आदिकी संख्या विशेष युक्त होनेसे वह सांख्यशास्त्र कहाता है३०२॥

ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नाना नेहास्ति किंच न ॥
मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदांतिकं मतम् ॥ ३०३ ॥

अर्थ-द्वित्वभावसे रहित एक ब्रह्महीं चराचरमें व्यापक है इस संसारमें नाना प्रकारके जो दृश्यमान पदार्थ हैं वह विचारपूर्वक देखनेसे ईश्वररूपही हैं केवल अज्ञानसे संपूर्ण मायारूप प्रतीत हो रहा है वह वेदांतियोंका मत कहा है ॥ ३०३ ॥

चित्तवृत्तिनिरोधस्तु प्राणसंयमनादिभिः ॥
तद्योगशास्त्रं विज्ञेयं यस्मिन् ध्यानसमाधितः ॥३०४॥

अर्थ-प्राण आदिके रोकनेसे चित्तकी वृत्तिको एकाग्र करना या ध्यान और समाधिसे चित्तकी वृत्तिको रोकनेका जिसमें विधान हो वह योगशास्त्र कहा है ॥ ३०४ ॥

प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः ॥
यस्मिन्स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि॥३०५॥

अर्थ-चक्रवर्ती आदि राजाओंके कर्मोंके आधारसे प्राचीन वृत्तांत (वार्त्ता) का जिसमें कथन हो वह इतिहास और पुरावृत्त कहाता है ॥ ३०५ ॥

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च ॥
वंशानुचरितं यस्मिन् पुराणं तद्धि कीर्तितम् ॥३०६॥

श्रुतिं स्मृतिं विना धर्माधर्मौ स्तस्तच्च यावनम् ॥
श्रुत्यादिभिन्नधर्मोऽस्ति यत्र तद्यावनं मतम् ॥ ३१६ ॥

अर्थ-समयके अनुकूल उचित वाणी बोलनेका नामही अवसरोक्ति कहा है और जिसमें जगत्का कारण ईश्वर सदा अदृश्यमान है और श्रुति स्मृतिके विना जो धर्म और अधर्मका वर्णन है वह यवनोंका शास्त्र कहा है और जिसमें श्रुति स्मृति आदिसे भिन्न धर्म है वह यवनोंका मत है (अर्थात् जिसमें सगुण ईश्वरका खंडन और वेद तथा धर्मशास्त्रोंसे विपरीत धर्माधर्मका वर्णन हो वह यवनोंका शास्त्र कहाता है और श्रुतिस्मृतिसे विरुद्ध धर्महीको यवनोंका मत कहा है) ॥ ३१५ ॥ ३१६ ॥

कल्पितश्रुतिमूलो वा मूले लोकैर्धृतः सदा ॥
देशादिधर्मः स ज्ञेयो देशे देशे कुले कुले ॥ ३१७ ॥

अर्थ-शिष्ट पुरुषोंका कल्पित हो तथा वेदके अनुकूल हो परंतु जिसको लोगोंने सत्य मानकर सदैव धारण किया हो उसीका नाम देशधर्म है वह देशदेशमें और कुलकुलमें भिन्न भिन्न रीतिसे प्रचलित होता है ॥ ३१७ ॥

पृथक् पृथक् तु विद्यानां लक्षणं संप्रकाशितम् ॥
कलानां न पृथङ्नाम लक्ष्म चास्तीह केवलम् ॥ ३१८

अर्थ-इस ग्रंथमें विद्याओंके नाम और लक्षण संक्षिप्ततासे पृथक् २ वर्णन किये और कलाओंके पृथक् पृथक् नामोंको छोडके केवल लक्षणमात्रही प्रकाशित करते हैं ॥ ३१८ ॥

हावभावादिसंयुक्तं नर्तनं तु कला स्मृता ॥
अनेकवाद्यविकृतौ ज्ञानं तद्वादने कला ॥ ३१९ ॥

अर्थ-हावभाव आदिसे संयुक्त होके नृत्य करनेको कला कहते हैं (१) और अनेक प्रकारके बाजोंके विकारका जो ज्ञान है और

अनेकविध वाजोंके बजानेका जो ज्ञान है उसको भी कला कहते (२) हैं ॥ ३१९ ॥

अनेकरूपाविर्भावं कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥
वस्त्रालंकारसंधानं स्त्रीपुंसोश्च कला स्मृता ॥ ३२० ॥

अर्थ—अनेक रूपोंको प्रगट करना और एक पदार्थका अनेक रूप कर लेना तथा जानना वह भी कला कहाती है (३) स्त्री तथा पुरुषके वस्त्र तथा आभूषण आदिको यथायोग्य अलंकार विधिसे धारण करने करानेको भी कला कहते हैं (४) ॥ ३२० ॥

शय्यास्तरणसंयोगे पुष्पादिग्रथनं कला ॥
द्यूताद्यनेकक्रीडाभी रंजनं तु कला स्मृता ॥ ३२१ ॥

अर्थ—शय्या (बिछौने) आदिके संयोगमें पुष्प आदिके गूंथनेको कला कहते हैं (५) और द्यूत आदि अनेक क्रीडासे जो सबको मोहित करना उसको भी कला कहते हैं (६) ॥ ३२१ ॥

अनेकासनसंधाने रतेर्ज्ञानं कला स्मृता ॥
कलासप्तकमेतद्धि गांधर्वे समुदाहृतम् ॥ ३२२ ॥

अर्थ—अनेक आसनोंके संधानसे रति (स्त्रीके संग क्रीडा आदि) के ज्ञानको भी कला कहते हैं (७) ये सात कला गंधर्ववेदमें कही हैं ॥ ३२२ ॥

मकरंदासवादीनां मद्यादीनां कृतिः कला ॥
शल्यमूढाहृतौ ज्ञानं शिराव्रणव्यधे कला ॥ ३२३ ॥

अर्थ—मकरंद (अतर आदि) आसव (आसा) आदि मद्य (सुरा) आदिको यंत्रद्वारा खैंचके अनेक प्रकारके बना देनेके ज्ञानको कला कहते हैं (८) और शल्य (शरीरके अंदर हड्डी आदिमें किसी प्रकार तीर आदिके लगनेपर घाव मिल जानेके उपरान्त शस्त्र आदिसे शरीरको चीरके तीर आदिको निकाल लेना या किसी प्रकार चोटके लगनेसे शरीरके हड्डी आदि टूट जानेपर टूटे

हुएको शस्त्रसे चीरके निकाल लेना) मूढ (स्त्रीके गर्भमें उलटा आये या मरे हुए बालकको यंत्रद्वारा खैंचके या काटके निकालना) इत्यादिके ज्ञानको और शिराव्यध (पथरी आदिको चीरके काढनेमें नसोंको भेदन करना (व्रणव्यध) भगंदर आदिके घावको चीरके स्वच्छ करना इनके ज्ञानको भी कला कहते हैं (९) ॥ ३२३ ॥

हीनाधिरससंयोगान्नादिसंपाचनं कला ॥
वृक्षादिप्रसवारोपपालनादिकृतिः कला ॥ ३२४ ॥

अर्थ—हीन और अधिक रसोंके संयोगसे अनेकविध अन्न आदिके पचानेको कला कहते हैं (१०) और वृक्ष आदिके पेडोंको लगाना पालन करना अनेक प्रकारके पुष्प फल प्रगट करना इनके ज्ञानको कला कहते हैं (११) ॥ ३२४ ॥

पाषाणादिद्रुतिर्धातोस्तद्भस्मकरणे कला ॥
यावदिक्षुविकाराणां कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥ ३२५॥

अर्थ—पत्थर आदि और धातुओंको पिघलाना तथा भस्म करनेके ज्ञानको कला कहते हैं (१२) और यावन्मात्र इक्षु (गन्ना—सांठे) के गुड, खांड आदिक विकारोंके करनेके ज्ञानको कला कहते हैं (१३) ॥ ३२५॥

धात्वौषधीनां संयोगक्रियाज्ञानं कला स्मृता ॥
धातुसांकर्यपार्थक्यकरणं तु कला स्मृता ॥ ३२६ ॥

अर्थ—धातु औषधि इनके संयोग (अर्थात् अनेक धातुओंके संयोगसे एक धातु और अनेक औषधियोंके संयोगसे एक औषधि बनाने) की क्रियाके ज्ञानको कला कहते हैं (१४) और मिली हुई अनेक धातुओंको भिन्न भिन्न कर देनेके ज्ञानको कला कहते हैं (१५) ॥ ३२६ ॥

संयोगापूर्वविज्ञानं धात्वादीनां कला स्मृता ॥
क्षारनिष्कासनज्ञानं कलासंज्ञं तु तत्स्मृतम् ॥ ३२७ ॥

अर्थ-धातु आदिके संयोगके अपूर्व विज्ञानको कला कहते हैं (१६) और क्षार (जवक्षार या शंखद्राव) आदिके निकालनेके ज्ञानको कला कहते हैं (१७) ॥ ३२७ ॥

कलादशकमेताद्धि ह्यायुर्वेदागमेषु च ॥
शस्त्रसंधानविक्षेपः पदादिन्यासतः कला ॥ ३२८ ॥

अर्थ-ये उक्त दश कला आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें कही हैं और शस्त्रको निशानेपर मिलाना और फेंकना (बंदूक आदि चलाना) और शस्त्र अस्त्र आदिके चलानेमें पैरोंको आगे पीछे या चौडा सकडा रखके शस्त्र अस्त्रके चलानेको कला कहते हैं (१८) ॥ ३२८ ॥

संध्याघाताकृष्टिभेदैर्मल्लयुद्धं कला स्मृता ॥
कलाभिर्लक्षिते देशे यंत्राद्यस्त्रनिपातनम् ॥ ३२९ ॥

अर्थ-सांधि (मिल जाना) आघात (पटकना) आकृष्टि (खींचना) इत्यादि भेदोंसे मल्लयुद्ध करनेको कला कहते हैं (१९) और कला (दुरबीन) आदिसे देखे हुए देशोंमें यंत्र आदिसे अस्त्रोंके फेंकनेको भी कला कहते हैं (२०) अर्थात् (ग्राफिगोले आदिको कला कहते हैं) ॥ ३२९ ॥

वाद्यसंकेततो व्यूहरचनादि कला स्मृता ॥
गजाश्वरथगत्यादियुद्धसंयोजनं कला ॥ ३३० ॥

अर्थ-बाजोंके संकेत (इशारों) से व्यूह (सेनाकी कवायद आदि) की रचनाको कला कहते हैं (२१) और गज अश्व रथ आदिकी गतिके द्वारा युद्धकी रचनाको कला कहते हैं (२२) ॥ ३३० ॥

कलापंचकमेताद्धि धनुर्वेदागमेस्थितम् ॥
विविधासनमुद्राभिर्देवतातोषणं कला ॥ ३३१ ॥

अर्थ-ये पांच कला धनुर्वेदके आगमों (ग्रंथों) में स्थित हैं और नाना प्रकारके आसन तथा मुद्राओंसे देवताओंको प्रसन्न कर लेनेको कला कहते हैं (२३) ॥ ३३१ ॥

सारथ्यं च गजाश्वादेर्गतिशिक्षा कला स्मृता ॥
मृत्तिकाकाष्ठपाषाणधातुभांडादिसत्क्रिया ॥ ३३२ ॥

अर्थ—सारथी (कोंचवानी) के कामको और गज अश्व आदिको फेरके श्रेष्ठ गति (चाल) की शिक्षा देनेको कला कहते हैं (२४) और मृत्तिका काष्ठ पत्थर और सुवर्ण आदिके विविध पात्र आदि बनानेकी श्रेष्ठ रीतिको कला कहते हैं (२५) ॥ ३३२ ॥

पृथक् कलाचतुष्कं तु चित्राद्यालेखनं कला ॥
तडागवापीप्रासादसमभूमिक्रिया कला ॥ ३३३ ॥

अर्थ—ये चार कला उक्त कलाओंसे भिन्न हैं और चित्र आदिके लिखनेको कला कहते हैं (२६) ताल बावडी प्रासाद और भूमिकी ऊँचाई नीचाईको जानके सम करनेको भी कला कहते हैं (२७) ॥ ३३३ ॥

घट्याद्यनेकयंत्राणां वाद्यानां च कृतिः कला ॥
हीनमध्यादिसंयोगवर्णादिरंजनं कला ॥ ३३४ ॥

अर्थ—घडी आदि अनेक यंत्र (घडी दुर्बीन अंजन आदि) बनानेको कला कहते हैं (२८) और अनेक प्रकारके बाजे बनानेके ज्ञानकोभी कला कहते हैं (२९) और अल्प मध्यम वहुत आदि रंगोंके संयोगसे चित्र विचित्र वस्त्र रंगनेको भी कला कहते हैं (३०) ॥ ३३४ ॥

जलवाय्वग्निसंयोगनिरोधैश्च क्रिया कला ॥
नौकारथादियानानां कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥ ३३५ ॥

अर्थ—जल वायु अग्नि इनके संयोगके निरोध (रोकने) से जो क्रिया की जाती है उसको कला कहते हैं (३१) (अर्थात् विमान और एञ्जन आदि जल अग्नि वायु इनके संयोगनिरोधसे चलते हैं) और नौका रथ आदि यानोंके वनानेके ज्ञानको भी कला कहते हैं (३२) ॥ १३५ ॥

सूत्रादिरज्जुकरणविज्ञानं तु कला स्मृता ॥
अनेकतंतुसंयोगैः पटबंधः कला स्मृता ॥ ३३६ ॥

अर्थ--सूत आदिसे रस्सी बनानेको और सूत आदिके विज्ञानको कला कहते हैं (३३) और अनेक तंतुओंके संयोगसे अनेकविध कपडे बनानेके ज्ञानको भी कला कहते हैं (३४) ॥ ३३६ ॥

वेधादिसदसज्ज्ञानं रत्नानां च कला स्मृता ॥
स्वर्णादीनां तु याथात्म्यविज्ञानं च कला स्मृता ३३७॥

अर्थ-रत्नोंके बींधनेमें सत् और असत् रत्नोंकी परीक्षाको भी कला कहते हैं (३५) और सुवर्ण आदि धातुओंके जो यथार्थ स्वरूपको पहचानने वा बनानेका जो ज्ञान है उसको भी कला कहते हैं (३६) ॥ ३३७ ॥

कृत्रिमस्वर्णरत्नादिक्रियाज्ञानं कला स्मृता ॥
स्वर्णाद्यलंकारकृतिः कला लेपादिसत्क्रिया ॥ ३३८॥

अर्थ-कृत्रिम (नकली) सुवर्ण और हीरे आदि बनाने तथा उनके पहचाननेके ज्ञानको भी कला कहते हैं (३७) और सुवर्ण आदिके यथायोग्य आभूषण बनानेको कला कहते हैं (३८) और मुलम्मे आदि चढानेके श्रेष्ठ ज्ञानको भी कला कहते हैं (३९) ३३८॥

मार्दवादिक्रियाज्ञानं चर्मणां तु कला स्मृता ॥
पशुचर्मांगनिर्हारक्रियाज्ञानं कला स्मृता ॥ ३३९ ॥

अर्थ-चर्मोंको अत्यंत कोमल (नर्म) करना तथा जाडी मोटी पटकने आदि क्रियाओंके ज्ञानको भी कला कहते हैं (४०) और पशुओंके अंगसे चर्म उतारके स्वच्छ करना या पशुके चर्म और अंगको स्वच्छ करनेके ज्ञानको कला कहते हैं (४१) ॥ ३३९ ॥

दुग्धदोहादिविज्ञाने घृतांतं तु कला स्मृता ॥
सीवनं कंचुकादीनां विज्ञानं हि कलात्मकम् ॥ ३४० ॥

अर्थ–दूधके दुहनेसे लेके घृतके निकालनेपर्यंत सब क्रियाओंको कला कहते हैं (४२) और कंचुक आदि यावन्मात्र सीनेकी क्रियाकोभी कला कहते हैं (४३) ॥ ३४० ॥

बाह्वादिभिश्च तरणं कलासंज्ञं जले स्मृतम् ॥
मार्जनं गृहभांडादेर्विज्ञानं तु कला स्मृता ॥ ३४१ ॥

अर्थ–भुजा आदिसे जलमें तैरनेको कला कहते हैं (४४) और घरके यावन्मात्र पात्र आदिको मांजके स्वच्छ करनेके ज्ञानको कला कहते हैं (४५) ॥ ३४१ ॥

वस्त्रसंमार्जनं चैव क्षुरकर्म कले ह्युभे ॥
तिलमांसादिस्नेहानां कला निष्कासने कृतिः ॥ ३४२ ॥

अर्थ–वस्त्र आदिको धोके स्वच्छ करनेके ज्ञानको कला कहते हैं (४६) और क्षुरकर्म (केशोंको काटना या स्वच्छ आदि करने) को कला कहते हैं (४७) और तिल मांस आदिसे तैल चर्बी आदि निकालनेकी क्रियाको भी कला कहते हैं (४८) ॥ ३४२ ॥

सीराद्याकर्षणज्ञानं वृक्षाद्यारोहणं कला ॥
मनोनुकूलसेवायाः कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥ ३४३ ॥

अर्थ–भूमिके अनुकूल हल चलाने आदिके ज्ञानको कला कहते हैं (४९) और वृक्ष आदिपर चढनेके ज्ञानको भी कला कहते हैं (५०) और स्वामीके मनके अनुकूल सेवा करनेके ज्ञानको भी कला कहते हैं (५१) ॥ ३४३ ॥

वेणुतृणादिपात्राणां कृतिज्ञानं कला स्मृता ॥
काचपात्रादिकरणविज्ञानं तु कला स्मृता ॥ ३४४ ॥

अर्थ–बांस और तृण आदिके पात्र बनानेके ज्ञानको कला कहते है (५२) काच (शीशा) के पात्र आदि बनानेके ज्ञानको कला कहते हैं (५३) ॥ ३४४ ॥

संसेचनं संहरणं जलानां तु कला स्मृता ॥
लोहाभिसारशस्त्रास्त्रकृतिज्ञानं कला स्मृता ॥ ३४५ ॥

अर्थ—यंत्रद्वारा जलोंके सींचने और निकालनेको कला कहते हैं (५४) और लोह तथा अभिसार (पोलाद तथा कांतिसार) आदिसे विविध शस्त्र और अस्त्रादि बनानेके ज्ञानको कला कहते हैं (५५) ॥ ३४५ ॥

गजाश्ववृषभोष्ट्राणां पल्याणादिक्रिया कला ॥
शिशोः संरक्षणे ज्ञानं धारणे क्रीडने कला ॥ ३४६ ॥

अर्थ—गज, अश्व, बैल, ऊँट इनके पल्याण (हौदा, जीन आदि) बनानेकी क्रियाके ज्ञानको कला कहते हैं (५६) और बालककी रक्षा करनेमें धारण करना और खेलाना इनके ज्ञानको भी कला कहते हैं (५७) ॥ ३४६ ॥

सुयुक्तताडनज्ञानमपराधिजने कला ॥
नानादेशीयवर्णानां सुसम्यग्लेखने कला ॥ ३४७ ॥

अर्थ—अपराधीकी ताडनामें उचित ताडना देनेके ज्ञानको कला कहते हैं (५८) और नाना प्रकारके देशोंके अक्षरोंको भली प्रकार शुद्ध और स्पष्ट लिखनेको भी कला कहते हैं (५९) ॥ ३४७ ॥

तांबूलरक्षादिकृतिविज्ञानं तु कला स्मृता ॥
आदानमाशुकारित्वं प्रतिदानं चिरक्रिया ॥ ३४८ ॥

अर्थ—पान बिडीके पानोंकी रक्षा करनेकी क्रियाको भी कला कहते हैं (६०) और सीखना, शीघ्र करना, सिखाना और बिलंबसे करना इन चारोंको भी पृथक् २ कला कहते हैं (६४) ॥ ३४८ ॥

कलासु द्वौ गुणौ ज्ञेयौ द्वे कले परिकीर्तिते ॥
चतुःषष्टिकला ह्येताः संक्षेपेण निदर्शिताः ॥ ३४९ ॥

अर्थ—उक्त चार कलाओंमें दो गुण जानने चाहिये और दो जो

कला कही हैं ये चौंसठ ६४ कला संक्षेपरीतिसे दिखाई गई विशेष अन्य ग्रंथोंसे जाननी चाहिये ॥ ३४९ ॥

यां यां कलां समाश्रित्य तां तां कुर्यात् स एव हि ॥
सर्वविद्याकलाभ्यासे शिक्षयेद्भृतिपोषितान् ॥ ३५० ॥

अर्थ–जिस जिस कलाका आश्रय ले वह उसीको पूर्णरीतिसे करै और राजाको उचित है कि अपने देशवासियोंको खाने पीनेके निमित्त द्रव्य देके संपूर्ण विद्या और कलाओंका अभ्यास करावै ॥ ३५० ॥

समाप्तविद्यं संदृष्ट्वा तत्कार्ये तं नियोजयेत् ॥
विद्याकलोत्तमान् दृष्ट्वा वत्सरे पूजयेच्च तान् ॥ ३५१ ॥

अर्थ–जिस विद्यामें जो उत्तीर्ण हुआ हो उसको उसी विद्याके कार्यमें नियुक्त करै विद्या और कला आदिमें जो कुशल हैं उनका प्रतिवर्ष द्रव्य आदिसे आदर सत्कार करै ॥ ३५१ ॥

प्रभुभिः पूज्यते विप्र कलैव न कुलीनता ॥
कलावान् मान्यते मूर्ध्नि सत्सु देवेषु शंभुना ॥ ३५२ ॥

अर्थ–भोजप्रबंधमें एक ब्राह्मणके प्रति कथन है कि हे विप्र ! इस संसारमें बडे मनुष्य तथा राजालोग कलाकुशलतायुक्त मनुष्यकाही आदर सत्कार करते हैं केवल कुलीनताका नहीं (अर्थात् जैसा कलावान्का सत्कार होता है वैसा केवल कुलवान्का नहीं) विष्णु भगवान् तथा ब्रह्मा आदि श्रेष्ठदेव विद्यमान रहते भी शिवजीने कलाहीके प्रभावसे चंद्रमाको शिरपै धारण किया ॥ ३५२ ॥

कुंभकारोऽपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे मम ॥
विप्रोऽपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे ॥ ३५३ ॥

अर्थ–अपने सेवकोंके प्रति राजा भोजका कथन है कि जो कुंभकार (कुम्हार) भी पंडित (अपने कुलोचितशिल्प और विद्यामें कुशल) है तौ वह मेरे पुर (राज्य) में सुखपूर्वक निवास करै और जो

सर्वोत्तम ब्राह्मण कुलमें जन्म लेके भी विद्यारहित मूर्ख है तौ उसको मेरे राज्यसे निकाल दिया जावै राजा भोजके राज्यमें ऐसा प्रबंध होनेहीसे भोजकी कीर्त्ति आज पर्यंत सर्व भूमंडलमें प्रातःस्मरणीय होरही ह इससे बुद्धिमान् राजाको चाहिये कि अपने राज्यमें विद्या और कलाका प्रचार करै ॥ ३५३ ॥

अथ वैद्यशाला ।

अब वैद्यशालाकी रीति कहते हैं ॥

व्रजे ग्रामे पुरे वापि पत्तने च विशेषतः ॥
सुधाधवलितान्येव चिकित्सासदनानि च ॥ ३५४ ॥

अर्थ–गांव, कसबा, शहर और राजधानी इनमें अच्छे पवित्र स्वच्छ सब प्रजाके हितार्थ औषधालय बनावै ॥ ३५४ ॥

सर्वर्त्तुशांतकारीणि दर्शनाच्चोपतापिनाम् ॥
निधातव्यानि वै राज्ञां स्वप्रजानां हिताय च ॥ ३५५ ॥

अर्थ–जिन वैद्यशालाओंको देखतेही रोगियोंके मन सर्व कालमें संतुष्ट हो जाँय ऐसे औषधालयको राजा अपनी प्रजाके हितके निमित्त राज्यमें सर्वत्र स्थापन करै ॥ ३५५ ॥

चिकित्सका नियोक्तव्यास्तेषु सर्वगुणान्विताः ॥
आयुर्वेदकृताभ्यासा दयावंतो यशस्विनः ॥ ३५६ ॥

अर्थ–उन वैद्यशालाओंमें आयुर्वेदके पढे हुए दयावान् यशस्वी और वैद्योंकी सर्व विद्याके जाननेवाले ऐसे वैद्योंको नियुक्त करै ॥ ३५६ ॥

भृशं परीक्षिता मूढशल्याद्युद्धरणे तथा ॥
आयुर्दाने धमन्याश्च दर्शने व्याधिनिश्चये ॥ ३५७ ॥
शिरावेधादिके वापि दक्षा धैर्यसमन्विताः ॥
निर्लोभाः सत्यसंयुक्ता आयुर्वेदांगसंवृताः ॥ ३५८ ॥

साध्यासाध्यपरिज्ञाने कुशलाश्च सुधाकराः ॥
लब्धा जयदला यैश्च परीक्षायां क्षितीश्वरात् ॥३५९॥

अर्थ—मूढगर्भ और छिपे हुए घाव तथा बाण आदिके उद्धार करनेमें जिनकी बारंबार परीक्षा होचुकी हो (अर्थात् चीर फाडके काममें बडे कुशल हों और औषधि देना, नाडी देखना, रोगका निश्चय करना, नसोंका वेध आदि करना, इन कामोंमें बडे चतुर, धैर्यवान्, निर्लोभी, सत्य बोलनेवाले, अंगोंसहित आयुर्वेदको जाननेवाले, रोगोंकी साध्य और असाध्य परीक्षामें कुशल, जिनके हाथोंसे दी हुई औषधिमें अमृतके समान गुण हों, और वैद्यपरीक्षामें जिनको जयपत्र (अर्थात् पास) मिला हो ऐसे वैद्योंको औषधालयोंमें नियुक्त करै ॥ ३५७ ॥ ३५८ ॥ ३५९ ॥

विपरीतान् वैद्यपाशान् दंडयेल्लोककंटकान् ॥
मिथ्यौषधकषायाद्यैर्धनोपार्जनतत्परान् ॥ ३६० ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त श्रेष्ठ गुण जिनमें न हों और झूठी औषधि आदि देके लोगोंके धन हरनेमें तत्पर वा जयपत्र (पास) की प्राप्तिके विनाही लोगोंको ठगनेके निमित्त मनमानी औषधि देनेमें तत्पर होवें ऐसे जो प्रजाके कंटकरूप धूर्त्त वैद्य हैं उन्होंको राजा अवश्य दंड देवे ॥ ३६० ॥

अज्ञातशास्त्रसद्भावाञ्छस्त्रमात्रपरायणान् ॥
त्यजेद्दूराद्भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव ॥३६१॥

अर्थ—जैसे यमराजकी पाशियां दूरसे त्याग दी जाती हैं अर्थात् पाशीसे सब डरते हैं) वैसेही शास्त्रोंके सद्भावोंको नहीं जाननेवाले और केवल शस्त्रमात्र (चीरफाड) में परायण ऐसे कुत्सित वैद्योंको भी राजा दूरसे त्यागदे (अर्थात् शास्त्रकी मर्यादा जाननेके विनाही चीरफाड करनेवाले वैद्योंको भी राजा दंड दे) ॥ ३६१ ॥

त्यजंतु मूर्खवैद्यानामौषधं ज्वरपीडिताः ॥
परसंसर्गसंसक्तं कलत्रमिव साधवः ॥ ३६२ ॥

अर्थ-जैसे परपुरुषसे संसर्ग रखनेवाली प्रियस्त्री भी छोड दी जाती है वैसेही ज्वरपीडित होनेपरभी बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख वैद्यकी औषधि छोड देवे (अर्थात् पित्त आदिका कोप शांत होनेपर ज्वर स्वतःही शांत हो जावेगा परंतु विना विचारे मूर्ख वैद्यकी औषधि लेनेसे जो विकार उत्पन्न होताहै वह प्राणांतपर्यंत शांत नहीं होता) ॥ ३६२ ॥

गुरोरधीताखिलवैद्यविद्यः पीयूषपाणिः कुशलः क्रियासु ॥ गतस्पृहो धैर्यधरः कृपालुः शुद्धोऽधिकारी भिषगीदृशः स्यात् ॥ ३६३ ॥

अर्थ-गुरुसे जिसने संपूर्ण विद्या पढी हो जिसके हाथमे दी हुई औषधिमें अमृतके समान गुण हों संपूर्ण औषधि तथा चीरफाडकी क्रियामें कुशल हो धन आदि लेनेमें लालची न हो धैर्यवान् हो कृपालु हो पवित्र रहनेवाला हो इन उपरोक्त गुणोंसे युक्त वैद्यही राजकीय वैद्यशालाका अधिकारी (राजवैद्य) होना चाहिये ॥ ३६३ ॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार-श्रीअक्षयसिंहजीवर्मानिर्मिते अक्षयनीतिसुधाकरे भाषाटीकासमलंकृतः चतुर्थः स्तबकः समाप्तः ॥ ४ ॥

ॐ परमात्मने नमः ।

अथाक्षयनीतिसुधाकरः ।

भाषाटीकासमेतः ।



पंचमस्तबकः ५.

ॐ सुमित्रिया नआप ओषधयः संतु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः ॥ १ ॥ यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृमावयम् ॥ वायुर्मातस्मादेनसोविश्वान्मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

अथोपवनादिविहारः ।

सुभूषणा यौवनशालिनी स्त्रियः सुगीतवाद्यं रमणीयहर्म्यकम् ॥ धनं च सर्वं विफलं सुखेषिणो विना विहारोपवनानि भूपतेः ॥ १ ॥

अर्थ–सुंदर आभूषणोंसे अलंकृत, पूर्णयुवावस्थासे शोभायमान ऐसी स्त्रियाँ श्रेष्ठ गान और वाद्य, अच्छे रमणीक हर्म्य (महल) और धन, सुखकी इच्छा करनेवाले राजाओंके विहार (क्रीडा) के बगीचोंके विना ये सब निष्फल हैं ॥ १ ॥

आरामादौ प्रकृतिभिः स्त्रीभिश्च नटगायकैः ॥
विहरेत् सावधानस्तु मागधैरिंद्रजालकैः ॥ २ ॥

अर्थ–राजाको उचित है कि, राजप्रकृति, सुंदरस्त्रियाँ, नट, गानेवाले, मागध और इंद्रजालकी विद्याको जाननेवाले इन सहित बाग बगीचे आदिमें सावधानीपूर्वक विविध क्रीडा करै ॥ २ ॥

दुर्गुणान् सूचका भाणा नर्तका बहुरूपिणः ॥
आरामकृत्रिमवनकारिणोऽद्भुतदर्शकाः ॥ ३ ॥

अर्थ-अन्यपुरुषोंके दुर्गुणोंको सूचित करनेवाले, भाण, नर्तक, बहुरूपा, कृत्रिम बाग बगीचे तथा वनोंके बनानेवाले, और अनेक प्रकारकी अद्भुत वार्त्ताओंके दिखानेवाले ये उक्त मनुष्य भी वनविहार आदिमें राजाओंके संग जावें ॥ ३ ॥

पुनश्च रमणीयेषु वनेषूपवनेषु च ॥
दमयंत्या सह नलो विजहारामरोपमः ॥ ४ ॥

अर्थ-महाभारतमें लिखा है कि, राजा नलने अपनी प्राणप्यारी दमयंती सहित अश्वमेधादि विविध यज्ञ किये और हर्म्य आदिमें उत्तम विलासोंको भोगता हुआ अच्छे २ रमणीक वन, उपवन आदिमें भी देवताओंके समान क्रीडा की ॥ ४ ॥

कंदुकक्रीडनं तत्र दोलाकेलिं तथैव च ॥
जलक्रीडां तथा चान्यां क्रीडां कुर्याद्यथाविधि ॥ ५ ॥

अर्थ-वहां उपवन आदिमें जाके कंदुकक्रीडा और दोलाकेलि (हिंडोरे आदि) और जलक्रीडा तथा जिससे शारीरिक और मानसिक सुखकी प्राप्ति हो ऐसी अन्य क्रीडाभी करै ॥ ५ ॥

अथ मृगयावर्णनम् ।

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसंगान्निंदिता बुधैः ॥
दृश्यंते पुरुषाश्चात्र संप्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥ ६ ॥

अर्थ-मृगया, द्यूतक्रीडा (चोपड पाशा जूवा आदि) स्त्रियोंमें आसक्ति, सुरापान इनके प्रसंगकोभी ज्ञानवानोंने निंदित कहा है तथापि इन उक्त व्यसनोंमें बडे बडे ज्ञानवान् भी आसक्तियुक्त देखे जाते हैं ॥ ६ ॥

मांसहेतोरपि मृगान् विहारार्थं च धन्विनाम् ॥
घ्नंति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने ॥ ७ ॥

अर्थ-श्रीरामचंद्र कहते हैं कि हे लक्ष्मण ! राजालोग महान् वनमें

जाके मांसके निमित्त मृग आदिको मारते हैं और शस्त्र धारियोंकी क्रीडाके अर्थ सिंह आदि हिंसक पशुओंकी शिकार करते हैं ॥ ७ ॥

वीर्येणोपार्जितं मांसं यथा भुंजन्न दुष्याति ॥
आरण्याः सर्वदैवत्याः सर्वशः प्रोक्षिता मृगाः ॥ ८ ॥

अर्थ—महाभारतमें लिखा है कि अपने श्रमपूर्वक पराक्रमसे उपार्जित मांसको विधिपूर्वक वेदोक्तविधिसे खाता हुआ मनुष्य दूषित नहीं होता और जो सब देवताओंके अर्पण किये जायँ ऐसे अरण्यपशु और मृग ये सब वेदमंत्रोंसे प्रोक्षित करनेपर भक्ष्य होते हैं ॥ ८ ॥

समतामुपसंगम्य भूतं निघ्नंति मानवाः ॥
अतो राजर्षयः सर्वे मृगयां यांति भारत ॥ ९ ॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिरको भीष्मजीने कहा है कि, हे राजन् युधिष्ठिर ! सिंह आदि पशुओंकी समानताको प्राप्त होके मनुष्य मृगयामें पशुओंको मारते हैं इसीसे सब राजर्षि मृगयाके निमित्त वनोंमें जाते हैं (अर्थात् सिंह आदिके समान शूरता धारण करके शस्त्रकुशलता दिखलानेके निमित्त बडे बडे राजा लोग सिंह आदि हिंसक पशुओंकी शिकार करते हैं) ॥ ९ ॥

नाहि लिप्यंति पापेन न चैतत् पातकं विदुः ॥
न ह्येतत् सदृशं किंचिदिह लोके परत्र च ॥ १० ॥

अर्थ—मृगयामें हिंसक पशुओंके वध करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता और हिंसक पशुओंकी हिंसाको ज्ञानवान् पापभी नहीं कहते और हिंसक पशुओंको मारके इनके दुःखसे प्रजाको बचाना इसके समान इस लोक और परलोकोंमें कोई भी उपकार नहीं ॥ १० ॥

विस्फारघोषमवकर्ण्य विनिर्गतानां
हुंकुर्वतां तरुणकेसरिणां गुहाभ्यः ॥
या केवलं प्रथितमाननमेव भल्लै-
स्तां पंचतामपि दधे सकलेपि देहे ॥ ११ ॥

अर्थ—राजा पंडुका धनुषके टंकारसे उत्पन्न हुआ शब्दको सुनके हुंकार शब्द (हो हो) करतेहुए गुफासे बाहर निकले तरुण सिंहोंके केवल मुखमें जो पंचता विख्यात है उसको राजा अपने बाणोंके प्रभावसे सिंहोंके संपूर्ण शरीरमें करदेता हुआ अर्थात् पंचता शब्द मृत्यु और सिंहके मुखमें भी रहता है तो केवल मुखमें रहता हुआ पंचता शब्दको बाणोंसे सब शरीरमें करदिया अर्थात् बाणोंसे सिंहोंको मारदिये इसीसे सिद्धभी होता है कि, बुद्धिमान् राजा हिंसक पशुओंको मारनेके निमित्तही शिकारको जाते हैं ॥ ११ ॥

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ॥ उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिद्ध्यंति लक्ष्ये चले मिथ्यैव व्यसनं वदंति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः॥ १२॥

अर्थ—महाकवि कालिदासने अपने शकुंतला नाटकमें लिखा है कि मृगया खेलनेसे पेटमें मेद नहीं बढती और पेट भारीभी नहीं होता और शरीर हलका होजानेसे चलने फिरनेमें स्फूर्ति होजाती है क्रोध तथा भयमें सत्त्वधारियोंके विकारयुक्त चित्तकीभी परीक्षा होजाती है और दौडते हुए पशुरूप लक्ष्य (निसाने) पर तीर बंदूक आदिके लगानेसे शस्त्रधारियोंकी उत्कृष्टता समझी जाती है तौ मृगयाको व्यसन कहनेवाले मिथ्याही बोलते हैं और विचार कर देखे तौ शस्त्रधारियोंको इसके समान कोईभी विनोद नहीं ॥ १२ ॥

निहत निहत तूर्णं धत्त धत्त त्वराभि-
मिलत मिलत के के कुत्र कुत्र प्रयांति ॥
इत इत इत एते यांति यांतीत्यरण्या-
दतुलकलकलश्रीः सर्वतः प्रादुरासीत् ॥ १३ ॥

अर्थ—मारो, मारो, शीघ्रता करो, शीघ्रता करो, जलदीसे मिलो, मिलो, कौन है, कहां जाते हैं, कहां जाते हैं, इधर इधर इधर ये जा रहे

हैं, ये जा रहे हैं, मृगयाके समयमें बनसे इस प्रकार किलकिलाट शब्दकी शोभा चारों ओरसे प्रगट होती है ॥ १३ ॥

व्याघ्रादिभिर्वनचरैर्मयूराद्यैश्च पक्षिभिः ॥
क्रीडयन् मृगयां कुर्याद्दुष्टसत्त्वान्निपातयन् ॥ १४ ॥

अर्थ–व्याघ्र (बघेरा) आदि वनचरोंसे और मयूरआदि पक्षियोंसे क्रीडा करता हुआ राजा हिंसक पशुओंको मारता हुआ वनमें मृगया करै (अर्थात् हिंसक पशुओंको मारे) ॥ १४ ॥

शौर्यं प्रवर्द्धते नित्यं लक्ष्यसंधानमेव च ॥
अकातरत्वं शस्त्रास्त्रशीघ्रपातनकारिता ॥ १५ ॥

अर्थ–मृगया करनेसे शूरवीरता बढती है और चलाये हुए शस्त्रास्त्रभी सदैव निसानेपर लगते हैं और कदापि कायरता उत्पन्न नहीं होती और शस्त्रास्त्रको शीघ्र चलानेकी शक्ति हो जाती है ॥ १५ ॥

मृगयायां गुणा एते हिंसादोषो महत्तरः ॥
तस्माद्धिंस्रा निहंतव्या न जातु वै मृगादयः ॥ १६ ॥

अर्थ–मृगयामें ये उक्त गुण होते हैं परंतु सब गुणोंको कलंकित करनेवाला महान् बलवान् एक हिंसादोष उत्पन्न होता है इसीसे गौ, मनुष्य आदिको मारनेवाले ऐसे दुष्टसिंह आदि हिंसक जानवरोंको ही मारै, मृग आदि गरीब पशुओंको कदापि न मारै (अर्थात् दुष्ट जीवोंके विना अन्यको नहीं मारै) ॥ १६ ॥

अहिंसकानि भूतानि दुष्टात्मा विनिहंति यः ॥
आत्मनः सुखमन्विच्छन् स प्रेत्य न सुखी भवेत् ॥ १७ ॥

अर्थ–जो दुष्ट मनुष्य अपने शरीरके सुखके निमित्त अहिंसक (घास खानेवाले) जानवरोंको मारता है वह सुखी नहीं होता (अर्थात् नरकमें जाता है) ॥ १७ ॥

अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥
एवं लोकेष्वहिंसा तु निर्दिष्टा धर्मतः पुरा ॥ १८ ॥

अर्थ–जिसमें हिंसा नहीं होती उस कर्मका नाम धर्म है वेदमें ऐसा प्रमाण होनेसे पूर्वज महर्षियोंने लोकमें पहलेही धर्मकी प्रवृत्तिके निमित्त अहिंसाकाही उपदेश किया है ॥ १८ ॥

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः ॥
अहिंसा परमो दानमहिंसा परमं तपः ॥ १९ ॥

अर्थ–हिंसा नहीं करनेकोही परमधर्म कहते हैं और अहिंसाहीको उत्तम दम कहते हैं और अहिंसाही परम दान है और अहिंसाही उत्तम तप है अर्थात् हिंसासे निवृत्त रहना ही उत्तम है ॥ १९ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम् ॥
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एषः सनातनः ॥ २० ॥

अर्थ–भीष्मजी राजा युधिष्ठिर प्रति कहते हैं कि हे राजन् ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, दान इन चारोंको आप सदैव सेवन करो इन चारों-हीके सेवन करनेकोही सनातन धर्म कहते हैं (अर्थात् ये चारोंही धर्मके चार पैर हैं) ॥ २० ॥

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया ॥
अहिंसया च दीर्घायुस्तस्मात्तां परिवर्ज्जयेत् ॥ २१ ॥

अर्थ–दान देनेसे स्वर्गादिकोंके भोगोंको भोगता है और विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्ध इन लक्षणोंसे युक्त कुलीन पुरुषोंकी संगति करनेसे बुद्धिमान् होता है और हिंसा नहीं करनेसे दीर्घजीवी होता है इसी कारण बुद्धिमान्को चाहिये कि हिंसा न करै ॥ २१ ॥

आनृशंस्यं परो धर्मः सर्वप्राणभृतां यतः ॥
तस्माद्राजानृशंस्येन पालयेत् कृपणं सदा ॥ २२ ॥

अर्थ–जो हिंसासे रहित कर्म है वह सब प्राणधारियोंका परम धर्म

है तिसीसे राजा भी हिंसारहित कर्मोंको सेवन करता हुआ सदैव गरीबोंका पालन करै ॥ २२ ॥

अथ मद्यपानम् ।

मृगयाके अनंतर मद्यपान कहते हैं ॥

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ॥
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो मनुष्य वैद्यकशास्त्रोक्तविधिसे प्रमाणित मात्राके अनुकूल मद्यपानके विहित समयमें हितकारी भोजनके साथ अपने बलपूर्वक प्रसन्नचित्त होके मद्यपान करता है उसको वह मद्य अमृतके समान गुणकारी होता है ॥ २३ ॥

काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च ॥
विधिवत्सेव्यमाने तु मद्ये सन्निहिता गुणाः ॥ २४ ॥

अर्थ—कामदेवकी वृद्धि, मनकी प्रसन्नता, तेज, पराक्रम ये चारोंही गुण विधिपूर्वक सेवन किये हुए मद्यमें सदैव निवास करते हैं ॥ २४ ॥

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्ते च मद्ये प्रकीर्तिताः ॥
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥ २५ ॥

अर्थ—शास्त्रोंमें जो विष (जहर) के गुण कहे हैं वेही गुण मद्यमें भी कहे हैं जो मनुष्य उस मद्यको मिथ्यायुक्ति (अविधि) से सेवन करता है वह उग्रमदात्यय (अत्यंत रोगिष्ठ) हो जाता है ॥ २५ ॥

निर्भुक्तमेकांतत एव मद्यं निषेव्यमाणे मनुजे न नित्यम् । उत्पादयेत्कष्टतमान् विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य भोजन करनेके पहली क्षुधाके समय नित्य मद्य पान करै तौ क्षुधामें पिया हुआ मद्य अत्यंत कष्टदायी विकारोंको प्रगट करता है और शरीरमें नाना प्रकारके भेदको उत्पन्न करता है ॥ २६ ॥

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन ॥ व्यायामभाराध्वपरिक्षितेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ २७ ॥ अत्यम्लरूक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन ॥ उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान् विकारान् ॥ २८॥

अर्थ—क्रुधित, भयसे डराहुआ, तृषासे व्याकुल, शोकसे अत्यंत तपाहुआ, क्षुधासे घबराया हुआ, व्यायाम, भार, मार्ग इन तीनोंसे थका हुआ, मलमूत्रके रोकनेसे आतुर हुआ, अत्यंत खट्टा तथा लुखा भोजनसे पेटभरा हुआ, अजीर्णमें भोजन किया हुआ, बलहीन, और उष्णतासे घबराया हुआ, इन उपरोक्त क्रोध आदिसे संयुक्त मनुष्य मद्यका सेवन करै तौ वह मद्य नाना प्रकारके विकारोंको प्रगट करता है इसीसे क्रोध आदिके समयमें कदापि मद्यपान न करै ॥२७॥२८॥

हि[illegible] । ज्वरो वमथुर्वेपथुपार्श्वशूलाः ॥ भ्रमावपि च पानहतं भजंते ॥ २९ ॥

[illegible]-जो मनुष्य अयुक्तिसे मद्यको सेवन करता है उसको हिचज्वर, उद्वमन, कंप पार्श्वशूल, खांसी, मूर्च्छा इत्यादि अनेक रोग अवश्य सेवन करने लगते हैं इसीसे बुद्धिमान्‌को चाहिये कि शास्त्रोक्त विधिके विना कदापि मद्यपान न करै ॥ २९ ॥

किं तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ॥ अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जैसे अन्न स्वभावहीसे सब प्राणियोंको तृप्तिकारक होता है वैसेही मद्यभी स्वभावहीसे मद्यपोंको तृप्तिकारक कहा है (अर्थात् अपने अपने अन्न भक्षण करनेके विना कोई भी प्राणी तृप्तिको प्राप्त नहीं होते वैसेही मद्यपभी मद्य पीनेके विना तृप्तिको प्राप्त नहीं होता परंतु अयुक्ति (विना प्रमाण) से पिया हुआ मद्य अत्यंत रोगकारी

और युक्ति (वैद्यक शास्त्रोक्तविधि) से सेवन किया हुआ रसायन (औषधि) के समान गुणदायी होता है ॥ ३० ॥

प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्तं हिनस्त्यसून् ॥
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जीवधारी मात्रका अन्नही प्राण समझा जाता है (अर्थात् अन्न खानेसेही प्राणोंकी पुष्टि होती है) और वहही अन्न अयुक्ति (अजीर्ण आदिमें विना विचार) से खाया हुआ विषूचिका आदि रोगोंके द्वारा प्राणोंको नष्ट कर देता है और जहर प्राणमात्रको नष्ट करनेवाला होता है परंतु युक्तियुक्त (वैद्यक शास्त्रकी विधिसे सेवन किया हुआ रसायन) अत्यंत गुणकारी होजाता है ॥३१ ॥

मदस्तु त्रिविधः प्रोक्तः सात्त्विकादिविभेदतः ॥
आचार्याः केचिदिच्छंति चतुर्थमतितामसम् ॥ ३२॥

अर्थ—सात्त्विक, राजस, तामस इन भेदोंसे पुरुषकी प्रकृति अनुकूल मद्यभी तीन प्रकारका कहा है और कितनेक आचार्य ...ताmसके नामसे चौथे प्रकारका मद्यभी कहते हैं (अर्थात् कोई ...र्य सात्त्विक, राजस, तामस, अतितामस इन नामोंसे चार प्रकार कहते हैं) ॥ ३२ ॥

सात्त्विके गीतहास्याद्यं तामसे साहसादिकम् ॥
राजसे पुरुषे मद्यं निद्रालस्यादिकारकम् ॥ ३३ ॥

अर्थ—पान किया हुआ मद्य सतोगुणवाले पुरुषकी बुद्धिमें गान तथा हास्य आदिको और तामसी पुरुषकी बुद्धिमें हठ, क्रोध आदिका और रजोगुणी पुरुषकी बुद्धिमें निद्रा, आलस्य, आदिको प्रगट करता है (अर्थात् मद्य पीनेसे मनुष्यके सतोगुण आदिकी परीक्षा हो जाती है) ॥ ३३ ॥

मृततुल्यं करोत्येव मद्यं चैवातितामसम् ॥
अतिपानेन सर्वेषां बुद्धिस्मृतिविनाशनम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अतितामस (अत्यंत तमोगुणी) पुरुषको पीया हुआ मद्य मरे हुएके समान कर देता है (अर्थात् अत्यंत तमोगुणी मनुष्य होता है वह मद्य पीनेसे मृतकके समान मूर्च्छित होजाता है) और अत्यंत मद्यके पीनेसे तौ सब प्रकारके मनुष्योंकी बुद्धि और स्मृतिका नाश होही जाता है ॥ ३४ ॥

बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्द्धनश्च॥ संपाठगीतस्वरवर्द्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ ३५ ॥

अर्थ—पान किया हुआ मद्य सतोगुणी पुरुषमें बुद्धि, स्मृति प्रीति इनको प्रगट करता है और अनेकविध सुखको भी प्रगट करता है और खाना, पीना, निद्रा, स्त्रीसंग इनमें रुचि बढाता है और शास्त्रोंके विचार, गीत, स्वर इनमें बुद्धिको बढाता है इन कारणोंसे सात्त्विक [illegible]को अत्यंत रमणीक कहा है ॥ ३५ ॥

बुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृति[illegible]ः ॥ आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन पुरुषो मदेन ॥ ३६ ॥

अर्थ—राजस (रजोगुणी) मद्यसे मत्त (मतवाला) होनेवाले पुरुषकी प्रकृति, बुद्धि, स्मृति, वाणी ये अपनी अपनी चेष्टासे रहित हो जाती हैं और उन्मत्त पुरुषोंकी लीलाके समान प्रकृति हो जाती है और शांतिकोभी छोड देते हैं और आलस्य, निद्रा इनसे बार बार हत हो जाता है (अर्थात् मद्य पीनेसे रजोगुणी मनुष्यमें उक्त दोष प्रगट हो जाते हैं) ॥ ३६ ॥

गच्छेदगम्यां च गुरून्नमन्येत्खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ॥ ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मद्ये तृतीये पुरुषोऽस्वतंत्रः ॥ ३७ ॥

अर्थ–तामसमद्यसे उन्मत्त हुआ मनुष्य स्वतंत्रतासे हीन हो जाता है और अगम्या स्त्रीसे भी गमन करनेको उद्यत होजाता है और गुरुजनोंकी मानमर्यादाको भी त्याग देता है और अभक्ष पदार्थकोभी खा लेता है और अपने शरीरकी सुध बुधकोभी भूल जाता है अपने हृदयमें स्थित किसीको नहीं कहनेयोग्य गुप्त वार्त्ताकोभी हरकिसीके सामने बक देता है (अर्थात् मद्य पीनेसे तामसी मनुष्यमें उक्त दोष प्रगट होते हैं) ॥ ३७ ॥

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः ॥
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ॥ ३८ ॥

अर्थ–चौथे प्रकारके अतितामसमद्यके पीनेसे उन्मत्त हुआ मूढ मनुष्य टूटी हुई लकडीके समान क्रियारहित होके पृथ्वीपर पडजाताहै और कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य कार्यको नहीं समझसकता और मरे हुएके समान यह जीताहुआ मृतक समझा जाता है ॥ ३८ ॥

वैकल्यं धरणीपातमयथोचितजल्पनम् ॥
संनिपातस्य चिह्नानि मद्यं सर्वाणि दर्शयेत् ।

अर्थ–विकलता, बेहोश होके भूमिपर गिर पडना मनमें अ॰ बकदेना और अन्य भी जो जो सन्निपातके चिह्न हैं उन सबको अ॰ तामस मद्य प्रगट करके दिखा देता है ॥ ३९ ॥

को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ॥
बहुदोषमिवागूढः कांतारं स्ववशः कृती ॥ ४० ॥

अर्थ–इसीसे शास्त्रकारोंका कथन है कि, ऊपर कहा हुआ उन्मादके समान उन्मत्त करनेवाला अतितामस मद्यको क्या कोई भी सुकृती मनुष्य पान करै (अर्थात् अनेक दोषोंसे संयुक्त ऐसा अतितामस मद्यको कोई भी बुद्धिमान् कदापि नहीं पीता) क्योंकि अपनी स्वातंत्र्यतामें निर्भय रहनेवाला बुद्धिमान् क्या बहुत दोषोंसे

संयुक्त कठोर वनमें नंगे पैर जानेकी इच्छा रखता है (अर्थात् कदापि नहीं) ॥ ४० ॥

चित्ते भ्रांतिर्जायते मद्यपानाद्भ्रांते चित्ते पापचर्यामुपैति ॥ पापं कृत्वा दुर्गतिं यांति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥ ४१ ॥

अर्थ-सब प्रकारके मद्यके पीनेसे चित्तमें भ्रांति (अज्ञानता) उत्पन्न होजाती है और चित्तमें अज्ञानता प्रगट होनेके कारण बुद्धिका अभाव होजानेसे मनभी पापकारी कर्मोंमें लगजाताहै और पापकारी कर्मोंको सेवन करनेवाले मूढ मनुष्य अवश्य दुर्गतिको प्राप्त होते हैं इसीसे बुद्धिमानोंको उचित है कि, कदापि मद्यपान न करै ॥ ४१ ॥

गुणागुणौ मयैवेह प्रोक्ता सर्वहिताय वै ॥
मद्ये दौर्गुण्यप्राचुर्यान्नैव पेयं कदाचन ॥ ४२ ॥
ये मद्यस्यागुणा नित्या ज्ञातव्यास्ते नृपैः सदा ॥
तेषु संसक्तमनुजान् सामादिभिः शमं नयेत् ॥ ४३ ॥

अर्थ-मैंने सबके हितार्थ इस ग्रंथमें मद्यके गुणागुण भली प्रकार दिखलाये हैं मद्यमें दुर्गुणोंके अत्यंत समुदाय होनेसे बुद्धिमानोंको उचित है कि, कदापि मद्यपान न करै जो मद्यमें नित्यस्थायी अवगुण हैं उनको राजा सदैव देखता रहै और उन दुर्गुणोंमें संयुक्त मनुष्योंको साम आदि उपायोंके द्वारा बचावे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

राज्ञा च युवराजेन प्रधानपुरुषैस्तथा ॥
सेनाधिपाद्यैर्नापेयं मद्यं बुद्धिविनाशकम् ॥ ४४ ॥

अर्थ-राजा, युवराज, प्रधान आदि उत्तम कर्मचारी और सेनाधिप आदिको उचित है कि, मद्य बुद्धिका नाशक होनेसे कदापि पान न करै ॥ ४४ ॥

अथ भारतोत्कर्षे वर्णाश्रमादिधर्माः ।

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिर्यथा ॥
नदीनां च यथा गंगा पर्वतानां हिमालयः ॥ ४५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां राज्ञामिंद्रो यथा वरः ॥
देवीनां च यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा ॥
तथा श्रेष्ठा कर्मभूमिर्भूमौ भारतमंडलम् ॥ ४६ ॥

अर्थ–जैसे सब देवताओंमें विष्णु, ह्रदोंमें समुद्र, सर्व नदियोंमें गंगा, पर्वतोंमें हिमालय, सब वृक्षोंमें अश्वत्थ (पीपल), राजाओंमें इन्द्र, देवियोंमें दुर्गा, चारोंही वर्णोंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ समझे जाते हैं वैसेही सब भूमिपर कर्मभूमिही श्रेष्ठ समझी जाती है जिसमेंभी भारतमंडलको तो अत्यंतही श्रेष्ठ कहा है ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

चत्वारि भारते वर्षे युगान्यत्र भवंति हि ॥
कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चान्यत्र न क्वचित् ॥ ४७ ॥

अर्थ–सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि ये चार युग इस भारतवर्षमें ही होते हैं अन्यत्र कहींभी नहीं होते ॥ ४७ ॥

यत्र साक्षादजन्मापि जन्म जग्राह वै हरिः ॥
रामकृष्णादिनाम्ना च प्रसिद्धोऽद्भुतचेष्टितः ॥ ४८ ॥

अर्थ–सबके पापोंको हरनेवाले हरि अजन्मा होने परभी कर्मभूमि अत्यंत पवित्र होनेहीसे इस भारतभूमिमें साक्षात् जन्मको अंगीकार करके अलौकिक चेष्टाको करते हुए राम, कृष्ण आदि अवतारसे प्रसिद्ध हुए ॥ ४८ ॥

एवं भारतभूभागं प्रशंसंति दिवौकसः ॥
तं प्राप्य विषयासक्तास्ते मुष्टा मायया हरेः ॥ ४९ ॥

अर्थ–इस प्रकार भारतभूमिकी देवताभी प्रशंसा करते हैं और

जो इस भारतभूमिमें जन्म लेके सत्कर्मोंको त्यागके विषय आदिमें आसक्त होजाते हैं वे विष्णुकी मायासे मोहित होके आयुको व्यर्थही बिताते हैं ॥ ४९ ॥

संप्राप्य भारते जन्म सत्कर्मसु पराङ्मुखः ॥
पीयूषकलशं हित्वा विषभांडं स इच्छति ॥ ५० ॥

अर्थ-भारतभूमिमें उत्तम जन्मको प्राप्त होके जो मनुष्य वेदोक्त श्रेष्ठ कर्मोंसे पराङ्मुख होके अन्यकर्मोंको सेवन करता है वह पीने योग्य अमृतसे पूर्ण कलशको छोडके मृत्युदायी विषसे भरे हुए पात्रकी इच्छा करता है ॥ ५० ॥

वर्णाश्रमोक्तं यत् कर्म कामसंकल्पपूर्वकम् ॥
प्रवर्त्तकं भवेदेतत् पुनरावृत्तिहेतुकम् ॥ ५१ ॥

अर्थ-जो काम और संकल्पपूर्वक किये हुए वर्णाश्रमोक्त कर्म हैं वह प्रवर्त्तक (सकाम) कहलाता है और वह सकाम कर्म जन्म, मरण आदिका हेतु (कारण) भी होता है ॥ ५१ ॥

कर्त्तव्यमिति विध्युक्तं कामसंकल्पवर्जितम् ॥
यत् कर्म क्रियते सम्यक् ज्ञानयुक्तं निवर्त्तकम् ॥५२॥

अर्थ-वर्णाश्रमोंके अवश्य करने योग्य जो वेदोक्त कर्म हैं वह काम और संकल्पसे वर्जित भली प्रकार किया हुआ ज्ञानयुक्त होनेके निवर्त्तक (निष्काम) कहलाता है और वह निष्काम कर्मही मोक्षका हेतु होता है ॥ ५२ ॥

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्तत्राद्यास्त्रयो द्विजाः ॥
निषेकाद्याः श्मशनांतास्तेषां वै मंत्रतः क्रियाः ॥५३॥

अर्थ-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारोंही चार वर्ण कहलाते हैं इन चारोंमें आद्यके तीन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये द्विजभी कहलाते हैं उन द्विजोंकी गर्भाधानसे आदि लेके श्मशान पर्यंत सब क्रिया वेदोंके मंत्रोंसे होती हैं ॥ ५३ ॥

ब्रह्मचारी गृही चैव वानप्रस्थो यतिस्तथा ॥
चत्वार आश्रमा ह्येते क्रमशः परिकीर्त्तिताः ॥ ५४ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यस्त ये चारोंही आश्रम क्रमसे कहे हैं ॥ ५४ ॥

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ॥
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—इस संपूर्ण जगत्की रक्षाके निमित्त परमेश्वरने अपने मुखसे उत्पन्न हुए ब्राह्मण, बाहुसे उत्पन्न हुए क्षत्रिय, ऊरुसे उत्पन्न हुए वैश्य, चरणसे उत्पन्न हुए शूद्र इन चारोंही वर्णोंके कर्मभी पृथक् पृथक् कल्पना किये (अर्थात् बनाये) ॥ ५५ ॥

यजनं याजनं दानं तथैवाध्यापनक्रिया ॥
प्रतिग्रहं चाध्ययनं विप्रकर्माणि निर्दिशेत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, वेद आदि पढाना, दान लेना, वेद आदि पढना, परमेश्वरने य छः कर्म ब्राह्मण वर्णके निमित्त नियत किये हैं ॥ ५६ ॥

याजनाध्यापने शुद्धे विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥
वृत्तित्रयमिदं प्राहुर्मुनयो ज्येष्ठवर्णिनः ॥ ५७ ॥

अर्थ—शुद्धको यजन कराना, पढाना और शुद्ध वर्णहीसे दान लेना, मुनिजनोंने ब्राह्मण वर्णके निमित्त उक्त छः कर्मोंमें ये तीन कर्म आजीविकाके अर्थ कहे हैं ॥ ५७ ॥

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ॥
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥ ५८ ॥

अर्थ—प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढना, विषयादिकोंमें आसक्त न होना, परमेश्वरने संक्षेपसे ये पाँचोंही कर्म क्षत्रियके निमित्त नियत किये हैं ॥ ५८ ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ॥
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिरेव च ॥ ५९ ॥

अर्थ-पशुओंकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढना, वाणिज्य करना, ब्याज लेना, खेती करना, परमेश्वरने ये सात कर्म वैश्यके निमित्त नियत किये हैं ॥ ५९ ॥

शस्त्रेण जीवनं राज्ञो भूतानां चाभिरक्षणम् ॥
पशुपाल्यं कृषिः पण्यं वैश्यस्य जीवनं स्मृतम् ॥ ६० ॥

अर्थ-उक्त पाँच कर्मोंमें प्रजाकी भली प्रकार शस्त्रसे रक्षा करनेहीको राजाका जीवन कहाहै और उक्त सात कर्मोंमें पशुओंका पालन करना खेती करना, वाणिज्य करना, ब्याज लेना ये चारोंही कर्म वैश्यके जीवनहेतु कहे हैं ॥ ६० ॥

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि वाप्यथ ॥
शुद्धा च वृत्तिस्तस्यैव कारुचारणकर्म च ॥ ६१ ॥

अर्थ-तीनोंही वर्णोंकी निष्कपटतासे सेवा करना, अथवा सब प्रकारकी कारीगरी सीखना परमेश्वरने शूद्रके निमित्त ये कर्म नियत किये हैं उनमें कारीगरी करना और वंदी आदि कर्म करनेहीको शूद्रके निमित्त शुद्धवृत्ति (आजीविका) कही है ॥ ६१ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां कर्माणीह समासतः ॥
प्रोक्तान्यथाश्रमाणां तु वच्मि धर्मांश्च शास्त्रतः ॥ ६२ ॥

अर्थ-ब्राह्मण आदि चार वर्णोंके जो वेदोक्त कर्म हैं वे मैंने इस ग्रंथमें संक्षेपरीतिसे कहे इसके अनंतर चार आश्रमोंके जो वेदोक्त धर्म हैं उनकोभी संक्षेपतासे कहताहूं ॥ ६२ ॥

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ॥
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ ६३ ॥

---

१ कृषिगोरक्षवाणिज्य कुसीदं तूर्यमेव च ।

अर्थ—द्विजातिके बालकका यज्ञोपवीत होनेके अनंतर इसको ब्रह्मचारीके विविध नियमोंका उपदेश किया जाताहै और ब्रह्मचारीके नियम स्वीकार करानेके पश्चात् विधिपूर्वक क्रमसे वेदभी पढाये जाते हैं (अर्थात् यज्ञोपवीत धारणके पहिले शूद्रके समान आचार विचार रहनेसे वेदका उपदेश नहीं किया जाता) ॥ ६३ ॥

सेवेतेमांस्तु नियमान् ब्रह्मचारी गुरौ वसन् ॥
सन्नियम्येंद्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मनः ॥ ६४ ॥

अर्थ—विद्या पढनेके निमित्त गुरुकुलमें निवास करताहुआ ब्रह्मचारी अपने तपकी वृद्धिके अर्थ इन्द्रियोंके समूहको भली प्रकार रोकके इन वक्ष्यमाण नियमोंको सदैव सेवन करै ॥ ६४ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ॥
देवताभ्यर्च्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ ६५ ॥

अर्थ—शास्त्रोक्तरीतिसे स्नान कर पवित्र होके देव, ऋषि, पित्रीश्वर, इनोंकी तृप्तिके अर्थ नित्य तर्पण करै और तदनंतर विष्णु, शिव आदि अभीष्ट देवकी प्रतिमाका पूजन करै और प्रभात, सायंकाल, अग्निमें समिध होम करै ॥ ६५ ॥

वर्ज्जयेन्मधु मांसं च गंधं माल्यं रसान् स्त्रियः ॥
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिना चैव हिंसनम् ॥ ६६ ॥
अभ्यंगमंजनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ॥
कामं क्रोधं च लोभं च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ ६७ ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम् ॥
स्त्रीणां च प्रेक्षणालंभमुपघातं परस्य च ॥ ६८ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारीको उचित है कि, शहद, मांस, कस्तूरी आदि सुगंधित पदार्थ, गुड आदि रस और यावत् मात्र शुक्त, (सिरका आदि) को न खावै और अतर आदि सुगंधित पदार्थ न लगावै और पुष्प-

माला धारण न करै स्त्री गमन न करै जीवमात्रकी हिंसा भी न करै तैल आदिका लगाना, नेत्रोंको आंजना, जूता पहरना, छत्र (छाता) धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना इन सब कामोंसे ब्रह्मचारी वर्जित रहै (अर्थात् ब्रह्मचारी उक्त कामोंको कदापि न करै चोपड आदि खेलना, व्यर्थही विवाद करना, किसीकी निंदा करना, झूठ बोलना, कामकी इच्छासे स्त्रियोंको देखना, अथवा स्पर्श करना, पराया अपकार करना, इन सब कामोंको ब्रह्मचारी कदापि न करै) ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कंदयेत् क्वचित् ॥
कामाद्धिस्कंदयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ ६९ ॥

अर्थ-सदा अकेला सोवै कामकी इच्छासे कदापि वीर्यको न गिरावै क्योंकि कामकी इच्छासे वीर्यको गिराताहुआ ब्रह्मचारी अपना ब्रह्मचर्यरूप व्रतसे भ्रष्ट होजाताहै ॥ ६९ ॥

समेखली जटी दंडी मुंडी वा गुरुसंश्रयः ॥
आविद्याग्रहणाद्गच्छेत्कामतो वाश्रमांतरम् ॥ ७० ॥

अर्थ-गुरुकुलमें निवास करताहुआ ब्रह्मचारी विद्याग्रहण पर्यंत अपने गृह्यसूत्रके अनुकूल मेखला, जटा, दंडको धारण करै अथवा मुंडन करावै अपनी इच्छाके अनुकूल विद्या पढके गुरुकी आज्ञा लेके गृहस्थाश्रमके निमित्त ब्रह्मचर्यको समाप्त करै ॥ ७० ॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ॥
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ ७१ ॥

अर्थ-तीनोंही वेदोंकी शाखाओंको अथवा दो वेदोंकी शाखाओंको अथवा अपनी शाखाको शास्त्रोक्त रीतिसे पढके अखंडित ब्रह्मचर्यसे संयुक्त ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यव्रतको समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करै अर्थात् गृहस्थाश्रमके नियमोंको धारण करै ॥ ७१ ॥

चतुर्थमायुषोभागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ॥
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ ७२ ॥

अर्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंको उचित है कि, अपनी शतायुके आद्यका चतुर्थविभागको विद्या पढनेके निमित्त गुरुकुलमें निकालके ब्रह्मचर्यव्रतकी समाप्तिके अनन्तर विवाह करके अपनी सवर्णाके साथ आयुके द्वितीय विभागको गृहस्थमें लगावै ॥ ७२ ॥

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृह्यं कर्म यथाविधि ॥
पंचयज्ञविधानं च पक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ७३ ॥

अर्थ—गृहस्थीको उचित है कि, अपने गृह्यसूत्रोक्त कर्म जो सायंकाल और प्रातःकालका अग्निहोत्र और अष्टका आदि हैं जिनको वैवाहिक अग्निमें विधिपूर्वक करै और पंचयज्ञोंमेंसे प्रतिदिन करने योग्य बलि वैश्वदेव आदिको और नित्यपाकको उसी अग्निमें करै ॥ ७३ ॥

अग्निहोत्रोपचरणं जीवनं च स्वकर्मभिः ॥
धर्मोऽयं गृहिणां काले पर्ववर्ज्जं रतिक्रिया ॥ ७४ ॥

अर्थ—अग्निहोत्र आदि करना, शास्त्रोक्त अपने २ कर्मोंसे आजीविका करना और ऋतुकालमें पर्व आदिको वर्ज्जके स्त्रीसंग करना ये सब गृहस्थियोंका सामान्य धर्म है (अर्थात् यह धर्म सबके लिये एकसा है) ॥ ७४ ॥

देवपित्रातिथीनां च पूजा दीनानुकम्पनम् ॥
श्रुतिस्मृत्यर्थसंस्थानं धर्मोऽयं गृहमेधिनाम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—देवता, पित्रीश्वर और अतिथिकी नित्यप्रति पूजा करना, गरीबोंपर कृपा रखना, वेद, स्मृति और शास्त्रोंके अर्थको विचारके शास्त्रोक्तमार्गमें स्थित रहना यह सब गृहस्थियोंका मुख्य धर्म है ॥ ७५ ॥

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः ॥
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥ ७६ ॥

अर्थ-वेद और धर्मशास्त्रोंके विधानसे इन चारोंही आश्रमोंमें गृहस्थही श्रेष्ठ कहागया है कारण कि, गृहस्थ इन तीन आश्रमोंका पालन करता है (अर्थात् ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यस्त इन तीनोंहीका पोषण गृहस्थसेही होता है इसीसे गृहस्थको सबसे श्रेष्ठ कहा है) ॥ ७६ ॥

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ॥
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितिम् ॥ ७७ ॥

अर्थ-जैसे सब नदी और नदोंको समुद्रही आधार है वैसे ही सब आश्रमियोंका गृहस्थही आधार है (अर्थात् गृहस्थ सब आश्रमोंका पालन करता है) ॥ ७७ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ॥
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ ७८ ॥

अर्थ-गृहस्थी जब अपने शरीरको चर्मसे शिथिल हुआ (अर्थात् देहकी चर्ममें बल पडा हुआ) देखै और अपने सब बालोंको सपेद देखै और अपने पुत्रके पुत्र उत्पन्न हुआ देखै तब गृहस्थाश्रमकी आसक्तिको छोडके वानप्रस्थ धर्मको धारण करै ॥ ७८ ॥

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ॥
पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ७९ ॥

अर्थ-ग्राम्य आहार जो गोधूम (गेहूं) आदि सब प्रकारके धान्य और सब प्रकारके रस आदि हैं तिनको और गौ, घोडा, शय्या आसन आदि सब प्रकारके उपकरणको छोडके भार्याके विद्यमान रहते यदि भार्याकी अपने संग वनमें चलनेकी इच्छा न हो तौ पुत्रोंको सुलावन देके अथवा अपने संग चलनेकी इच्छा हो तौ भार्याको भी साथही वनमें ले चलै ॥ ७९ ॥

जटित्वमग्निहोतृत्वं भूशय्याजिनधारणम् ॥
वनवासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता ॥ ८० ॥

प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिःस्नानं व्रतचारिता ॥
देवातिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिनः ॥ ८१ ॥

अर्थ–जडके समान वृत्ति रखना, अग्निहोत्र करना, भूमिपर सोना, मृगचर्म पहरना, वनमेंही रहना, जल, कंद, शाँवा, मलीचा आदि ऋषिधान्य और फल आदिसे शरीरको पोषण करना, दान नहीं लेना, प्रातःकाल, मध्याह्न, सायंकाल तिनोंही वक्त स्नान करना, ब्रह्मचर्य रखना, वा कृच्छ्र चांद्रायण आदि व्रत करना, देवता, पितृ और अतिथियोंका पूजन करना यह वानप्रस्थका धर्म है (अर्थात् वनवासियोंके निमित्त शास्त्रकारोंने यह धर्म कहा है) ॥ ८० ॥ ८१ ॥

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ॥
चतुर्थं त्वायुषो भागे त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥८२॥

अर्थ–उक्त रीतिसे आयुके तीजे विभागको वनमें निकालके आयुके चौथे विभागमें सब प्रकारकी आसक्तिको छोडके संन्यस्ताश्रमको अंगीकार करै ॥ ८२ ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेंद्रियः ॥
भिक्षाबलिपरिश्रांतः प्रव्रजन् प्रेत्य वर्द्धते ॥ ८३ ॥

अर्थ–आश्रमसे आश्रमको प्राप्त होके (अर्थात् ब्रह्मचर्यसे गृहस्थ, गृहस्थसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यस्ताश्रमको प्राप्त होवै किसीभी आश्रमको उल्लंघन न करके) गये हुए आश्रमोंका यथाशक्ति किया है होम जिसने और जीती हैं सब इंद्रियां जिसने ऐसा भिक्षा और बलिदानसे परिश्रांत हुआ संन्यासको अंगीकार करनेवाला योगी ब्रह्मरूप होजाता है ॥ ८३ ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ८४ ॥

अर्थ–आगेके श्लोकमें कहे हुए तीन ऋणोंको दूर करके अपने

मनको मोक्षका मार्ग जो संन्यास है तिसमें लगावै जो ब्राह्मण तीन ऋणोंको दूर करनेके पहले संन्यासको अंगीकार करता है वह मरके नरकमें जाता है ॥ ८४ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्राँश्चोत्पाद्य धर्मतः ॥
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ८५ ॥

अर्थ-ऋषि, पितृ और देव इन तीन ऋणोंसे द्विज, सदा ऋणी होता है अर्थात् वेद पढनेसे ऋषियोंका, संततिसे पितरोंका, यज्ञ करनेसे देवताओंका ऋण दूर होता है इसीसे शास्त्रोंके अनुसार वेदोंको पढके और पर्वोंको छोडके ऋतुकालमें स्त्रीसे भोग करना इत्यादिक धर्मोंसे पुत्रोंको उत्पन्न करके और अपनी सामर्थ्यके अनुसार ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंको करके मोक्षके निमित्त संन्यासमें मन लगावे ॥ ८५ ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान् ॥
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ ८६ ॥

अर्थ-जो द्विज विधिपूर्वक वेदोंको न पढके और धर्मसे पुत्रोंको उत्पन्न न करके और यथाशक्ति यज्ञोंसे यजन करनेके विना मोक्षकी इच्छासे संन्यास लेता है वह मरके नरकमें जाता है ॥ ८६ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ॥
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥ ८७ ॥

अर्थ-यजुर्वेदके उपाख्यानग्रंथोंमें कहीहुई सर्वस्व दक्षिणा है जिसमें ऐसी प्राजापत्य नाम इष्टिको करके उसी इष्टिकी विधिसे अग्निको अपने आत्मामें स्थापन कर ब्राह्मण गृहको त्यागके संन्यासको धारण करै (यहां ब्राह्मण शब्द इसलिये कहा है कि, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र, इन तीनोंकोही संन्यासका अधिकार नहीं) ॥ ८७ ॥

सर्वारंभपरित्यागी भैक्ष्याश्यं वृक्षमूलता ॥
निष्प्रतिग्रहताऽद्रोहः समता सर्वजंतुषु ॥ ८८ ॥

प्रियाप्रियपरिष्वंगसुखदुःखाविकारिता ॥
सबाह्याभ्यंतरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता ॥ ८९ ॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणाध्याननित्यता ॥
भावसंशुद्धिरित्येषः परिव्राड्धर्म उच्यते ॥ ९० ॥

अर्थ–संपूर्ण आरंभका त्याग करदेना, भिक्षाके अन्नसे पेट भरना, वृक्षके नीचे निवास करना, किंचितभी परिग्रह नहीं रखना, किसीसेभी द्रोह नहीं करना, सब जीवमात्रमें समभाव रखना, मित्र और शत्रुके मिलनेमें तथा सुख और दुःखके समयमें किसी प्रकार मनमें विकार उत्पन्न न होने देना, शरीर और मनको पवित्र रखना, मन और वाणीका सदैव निरोध करना, सब इन्द्रियोंको रोकना, मनको एकाग्र करना, परब्रह्मका हृदयमें ध्यान करना, नित्य अनित्यका विचार करना, भाव शुद्ध रखना यह संन्यासीका सामान्य धर्म कहा है॥८८॥८९॥९०॥

अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैः शनैः ॥
सर्वद्वंद्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ९१ ॥

अर्थ–इस उक्त विधिसे संपूर्ण आसक्तिको छोडके शनैः शनैः राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब द्वंद्वभावसे छूटाहुआ योगी ब्रह्मरूप होजाता है ॥ ९१ ॥

चत्वारो ब्राह्मणस्योक्तास्त्वाश्रमाः श्रुतिचोदिताः ॥
क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः ॥ ९२॥

अर्थ–ब्राह्मणको वेदोंने चारोंही आश्रम धारण करना क्षत्रियको ब्रह्मचर्य आदि तीन आश्रम कहे हैं और वैश्यको ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम दोनों आश्रम कहे हैं और शूद्रको तो केवल गृहस्थाश्रमकीही आज्ञा है इसीसे ब्राह्मणके सिवाय अन्य कोईभी संन्यास नहीं लेसकता ॥ ९२ ॥

अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ॥
वर्णिनां लिंगिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते ॥ ९३ ॥

अर्थ-हिंसा नहीं करना, शास्त्रसम्मत प्रियवाक्य बोलना, अनृत भाषण नहीं करना, देह और मनको पवित्र रखना, सर्वजीवधारीपर दया करना, क्षमा रखना, यह चार वर्ण और चार आश्रमोंका सामान्य धर्म कहा है ॥ ९३ ॥

स्वर्गानंत्याय धर्मोऽयं सर्वेषां वर्णिलिंगिनाम् ॥
तस्याभावे तु लोकोऽयं संकरान्नाशमाप्नुयात्॥ ९४ ॥

अर्थ-पूर्वश्लोकोंमें कहा हुआ जो यह धर्म है वह चार वर्ण और चार आश्रमोंको स्वर्ग और मोक्षका देनेवाला है इस वर्णाश्रमरूप धर्मका अभाव होनेसे यह लोक वर्णसंकरताको प्राप्त होजाता है वर्ण-संकरता होजानेसे सर्वलोकका क्षय होजाता है ॥ ९४ ॥

सर्वस्यास्य यथान्यायं भूपतिः संप्रवर्त्तकः ॥
तस्याभावे धर्मनाशस्तदभावे जगच्च्युतिः ॥ ९५ ॥

अर्थ-संपूर्ण वर्णाश्रम आदिके इस धर्मका राजाही न्यायपूर्वक प्रवर्त्तक (चलानेवाला) होता है, न्यायकारी राजाका अभाव होनेसे वर्णाश्रम आदिके धर्मकाभी अभाव होजाता है उस धर्मके अभाव होनेसे सब जगत् हीनदशाको प्राप्त होजाता है ॥ ९५ ॥

वर्णाश्रमाचारयुक्तो वर्णाश्रमविभागवित् ॥
पाता वर्णाश्रमाणां च पार्थिवः सर्वलोकभाक् ॥९६॥

अर्थ-वर्णाश्रमके आचारमें तत्पर और वर्णाश्रमके विभागको विधिपूर्वक जाननेवाला और चार वर्ण, चार आश्रमोंके धर्मोंकी न्याय-पूर्वक रक्षा करनेवाला राजाही मोक्षका भागी होता है ॥९६ ॥

ये व्यपेताः स्वधर्मात्ते परधर्मेष्ववस्थिताः ॥
तेषां शास्तिकरो राजा स्वर्गलोके महीयते ॥ ९७ ॥

अर्थ-जो मनुष्य अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मको छोडके अन्य धर्मको सेवन करैं उनको न्यायपूर्वक दंड देनेवाला राजा स्वर्गलोकके सुखको भोगता है ॥ ९७ ॥

पद्मिनीपत्रजलवत्संसारे सर्वमस्थिरम् ॥
कीर्तिरक्षरसंबंधा स्थिरा भवति भूतले ॥ ९८ ॥

अर्थ—जैसे कमलके पत्रपर जल स्थिर नहीं रहसकता वैसेही इस संसारमें जीवसंबंधी सब पदार्थभी स्थिर नहीं रहते मनुष्यकी अक्षर-संबंधी कीर्तिही भूमिपर चिरकालपर्यंत स्थिर रहती है ॥ ९८ ॥

अस्थि वज्रमयं यस्य यस्य चर्म च वर्मवत् ॥
स दधीची स कर्णो वा नातिष्ठत् सुचिरं भुवि ॥ ९९ ॥

अर्थ—जिसके हाड वज्रसे भी कठोर और जिसकी त्वचा ढालके समान ऐसे दधीची नाम ऋषि और राजा कर्ण वे भी इस भूमिपर चिरकालतक स्थिर न रहसके इस भूमिपर बडे बडे ब्रह्मर्षि और राजर्षि हुए परंतु उन्होंमेंसे अब किसीका भी शरीर वा राज्य वा धन दृष्टिगोचर नहीं होता चिरकालसे उन्होंके स्वर्गनिवास होनेपरभी उन्होंकी अक्षरसंबंधी कीर्तिही भूमिपर सबको जगाती हुई जाग रही है ॥ ९९ ॥

दानं वित्तादृतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथायुषः ॥
परोपकरणं कायादसारात् सारमाहरेत् ॥ १०० ॥

अर्थ—बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि, इस असार संसारसे सार सार वस्तुका उद्धार करै (अर्थात् अंगीकार करै) जैसे धनसे दान, वाणीसे सत्य, आयुसे कीर्ति और धर्म, शरीरसे परोपकार, अर्थात् धन, वाणी, आयु, शरीर ये सब असार हैं इनसे दान, सत्य, कीर्ति, धर्म और परोपकारको करनाही सार है ॥ १०० ॥

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः ॥
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥ १०१ ॥

अर्थ—वेदव्यासजीका कथन है कि, सब शास्त्रोंको वारंवार अवलोकन करके बहुत वार विचारनेसे एक यही सिद्धांत निश्चय हुआ है कि, सबको पूर्णरूप परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये ॥ १०१ ॥

तावत् सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा ॥
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम् ॥ १०२ ॥

अर्थ–जैसे अनुभवरूप बुद्धिमें अज्ञानका आविर्भाव स्थित रहने पर्यंत सीपमें चांदीकी भ्रांति होतीहै वैसेही मायाकृत अज्ञानके प्रभावसे सबका आधाररूप द्वित्वता राहित पूर्णब्रह्ममें जीवरूप भ्रांति विद्यमान रहनेपर्यंत यह जगत् सत्यके समान प्रतीत होताहै ॥ १०२ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ॥
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ १०३॥

अर्थ–बुद्धिमानोंको उचित है कि, परब्रह्मकी प्राप्तिके अर्थ शास्त्रोक्तरीतिपूर्वक प्राणायामोंके अभ्याससे शरीरके मल पित्त आदि दोषोंको दूर करै और मनको रोकके त्रिविध पापोंको दहन (भस्म) करै और इंद्रियोंको अपने अपने विषयोंसे रोकके संपूर्ण आसक्तिसे निवृत्त रहै और अपने हृत्कमलमें स्थित पूर्णब्रह्मका ध्यानसे मायाके गुणोंको लय करै ॥ १०३ ॥

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥
हृदि ज्योतींषि सूर्यश्च हृदि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१०४॥

अर्थ–सब देवता, प्राण, चंद्र आदि ज्योतिर्गण सूर्य और सब ब्रह्मांड विचार कर देखनेसे हृदयमें ही स्थित रहते हैं ॥ १०४ ॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ॥
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येद्धृदि स्थितम् ॥१०५॥

अर्थ–इसीसे शास्त्रोंका उपदेश है कि, जैसे यज्ञके निमित्त अरणिसे अग्नि प्रगट की जाती है वैसेही परमेश्वरकी प्राप्तिके निमित्त अपनी देहको आधाररूप अरणि बनाके ओंकारको उत्तर अरणि बनावै और ओंकारके निरंतर ध्यानरूप मथनके अभ्याससे अपने हृदयमें स्थित परब्रह्मको देखै ॥ १०५ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जंतोर्निहितो गुहायाम् ॥ तेजोमयं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ १०६ ॥

अर्थ–वह परब्रह्म (परमात्मा) सबसे सूक्ष्म पदार्थ जो अणु है उससेभी अत्यंत सूक्ष्म है और सबसे बडी जो माया है तिससे भी बडा है ऐसा सर्वव्यापी परमात्मा आत्मरूप होके सब जीवधारियोंके हृदयमें सदा स्थित है। धारणा, ध्यान आदिके अभ्याससे रागद्वेष आदिके बंधनसे छूटाहुआ योगी परमेश्वरकी एकांत दृढभक्तिसे तेजोमय जो अपना सर्वव्यापी आत्मस्वरूप है तिनको ज्ञानचक्षुसे देखलेताहै ॥ १०६॥

वेदाहमेतं पुरुषं महांतमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ यं वै विदित्वा न बिभेति मृत्योर्नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥ १०७ ॥

अर्थ–वेदोंकी आज्ञा है कि हे मनुष्यो ! तम (माया) से पर जो तेजस्वरूप, सर्वव्यापी, परमात्मा है तिसको तुम सब जानो (अर्थात् ध्यान करो) जिस सर्वव्यापी परमात्माका ज्ञान होजानेसे मनुष्यको मृत्युसे भय नहीं होता (अर्थात् उस परमात्माका ध्यान करनेहीसे मनुष्य जन्ममरणरूप दुःखसे छूटजाताहै) और इस ज्ञानस्वरूपको जाननेके सिवाय अन्य कोई भी मोक्षका मार्ग नहीं है (अर्थात् सर्वव्यापी परमात्माको जाननेके विना कदापि मोक्ष नहीं होता)॥ १०७॥

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥
पंचैतानि विजानीयान्महाभूतानि पंडितः ॥ १०८ ॥
चक्षुः श्रोत्रं स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ॥
बुद्धींद्रियाणि जानीयात् पंचेमानि शरीरके ॥ १०९॥
रूपं शब्दस्तथा स्पर्शो रसो गंधस्तथैव च ॥
इन्द्रियार्थान् विजानीयात् पंचैव सततं बुधः ॥ ११०॥

अर्थ-पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश इन, पाँचोंको शास्त्रकार पंचमहाभूत कहते हैं चक्षु, श्रोत्र, त्वचा, रसना, नासिका इन पाँचों-हीको पंडितजन पंचज्ञानेंद्रिय कहते हैं रूप, शब्द, स्पर्श, रस, गंध, इन पाँचोंहीको ज्ञानवान् उपरोक्त पाँच ज्ञान इंद्रियोंके विषय (तन्मात्रा) कहते हैं ॥ १०८ ॥ १०९ ॥ ११० ॥

हस्तौ पादावुपस्थं च जिह्वा पायुस्तथैव च ॥
कर्मेंद्रियाणि पंचैव नित्यमस्मिन् शरीरके ॥ १११ ॥
मनो बुद्धिस्तथैवात्मा ह्यव्यक्तं च तथैव च ॥
इंद्रियेभ्यः पराणीह चत्वारि कथितानि च ॥ ११२ ॥
चतुर्विंशत्यथैतानि तत्त्वानि कथितानि च ॥
तथात्मानं तद्व्यतीतं पुरुषं पंचविंशकम् ॥ ११३ ॥

अर्थ-हाथ, पैर, उपस्थ, जिह्वा, अपान इन पाँचोंहीको पाँच कर्मेंद्रिय कहते हैं मन, बुद्धि, आत्मा, अव्यक्त, इन चारोंहीको सदैव इन्द्रियोंसे पर कहते हैं उपरोक्त चौबीस पदार्थोंको योगीजन चौबीस तत्त्व कहते हैं इन चौबीसोंसे अलग और सर्वमें व्यापक ऐसा परमात्माको सांख्यवाले पचीसवाँ तत्त्व कहते हैं ॥ १११ ॥ ११२ ॥ ११३ ॥

यं तु ज्ञात्वा विमुच्यंते ये जनाः साधुवृत्तयः ॥
तदिदं परमं गुह्यमेतदक्षरमुत्तमम् ॥ ११४ ॥

अर्थ-जो मनुष्य राग द्वेष आदिको छोडके श्रेष्ठ वृत्तिको धारण करते हैं वे उस परमात्माको जान लेते हैं जिस परमात्माके जाननेसे मनुष्य जन्म मरण आदिके दुःखसे छूटजाता है वह परमात्मा अत्यंत गुह्य और अविनाशी और सबसे उत्तम है ॥ ११४ ॥

अशब्दरसमस्पर्शमरूपं गंधवर्जितम् ॥
निर्दुःखमसुखं शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ११५ ॥

अजं निरंजनं शांतमव्यक्तं ध्रुवमक्षरम् ॥
अनादिनिधनं ब्रह्म तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ११६ ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहबंधनः ॥
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ११७ ॥

अर्थ–अशब्द अर्थात् वह परमात्मा वाणीके कहनेमें नहीं आता अरस अर्थात् रसनेन्द्रिय जिसका स्वादको नहीं कहसकती अस्पर्श अर्थात् त्वगिंद्रिय जिसका स्पर्शको नहीं बतला सकती अरूप अर्थात् चक्षु जिसके रूपको नहीं दिखासकते गंधवर्जित अर्थात् नासिका जिसको नहीं सूंघसकती ऐसा जो सुख और दुःखसे वर्जित शुद्धचैतन्यस्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा है वहही व्यापकदेवका परमस्वरूप है जो व्यापकदेव परमात्माका परमस्वरूप है वह जन्म मरण आदि धर्मोंसे रहित, मायाके विकारोंसे वर्जित, शांतस्वरूप, मायाके विकार जिसको प्रत्यक्ष नहीं देखसकते, क्षोभ आदि धर्मोंसे रहित, सदा एकरस रहनेवाला, आदि और अंतसे हीन, और सबसे बडा है जैसे रथी उत्तम परिग्रहयुक्त रथमें बैठके अपने अभीष्टस्थानको निर्विघ्नतासे प्राप्त हो जाता है वैसेही विज्ञान है सारथी जिसके और इंद्रियरूपी प्रमादी घोडोंको रोकनेके निमित्त मनरूप लगाम है हाथमें जिसके और साधनसंपन्न शरीररूपरथमें बैठाहुआ जो योगी है वह इस जन्ममरणरूप मार्गका पार जो व्यापकदेवका परम स्वरूप है तिसको प्राप्त हो जाता है अन्य नहीं ॥ ११५ ॥ ११६ ॥ ११७ ॥

बालाग्रशतशो भागः कल्पितस्तु सहस्रधा ॥
तस्यापि शतमाद्भागाज्जीवः सूक्ष्म उदाहृतः ॥ ११८ ॥

अर्थ–केशका अग्रभागका जो सौवां भाग है उस सौवें भागके एक हजार भाग कल्पना करै उनमेंसे भी एक भागका जो सौवां भाग है जिससे भी जीव अत्यंतही सूक्ष्म कहा है इसीसे जीव किसीकेभी दृष्टिगोचर नहीं होता ॥ ११८ ॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा तथा परः ॥११९॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः ॥१२०

अर्थ-इन्द्रियोंके विषय जो शब्दादि हैं वे इन्द्रियोंसे परे हैं और मन सब विषयोंसे भी परे कहा है और मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे महत्तत्त्व है महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (माया) है और मायासे परे पर-पुरुष (परमात्मा) है उस परपुरुषसे परे कुछ भी नहीं वहही परम-स्थान और परमगति है अर्थात् मोक्षका स्थान है ॥ ११९॥ १२०॥

एषु सर्वेषु भूतेषु तिष्ठत्यविकलः सदा ॥
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मबुद्धिभिः १२१॥

अर्थ-वह सर्वव्यापी परमात्मा इन सब भूतप्राणियोंमें सदैव विका-ररहित एकरस होके विराजमान है जिसको सूक्ष्म (ज्ञान) बुद्धिवाले योगीजन सबके ऊपर वर्त्तनेवाली जो ज्ञानरूप सूक्ष्म बुद्धि है जिससे देखते हैं (अर्थात् वह सर्वव्यापी परमात्मा ज्ञानरूप सूक्ष्मबुद्धिसे दीखता है विकारयुक्त स्थूलबुद्धिसे नहीं ॥ १२१ ॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ॥
गच्छंत्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १२२ ॥

अर्थ-उस ज्ञानरूप परमेश्वरमें ही है बुद्धि जिन्होंकी और उस ज्ञानस्वरूपमें ही है मन जिन्होंके और उस ज्ञानरूपमेंही है निष्ठा (निरंतर अभ्यास) जिन्होंके और वह परमेश्वरही है परम स्थान जिन्होंके और ज्ञान करके धुपगये हैं पाप जिन्होंके ऐसे योगीजन जन्ममरणसे छूटके मोक्षस्वरूपको प्राप्त होते हैं ॥१२२ ॥

योऽन्तः सुखोंतरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ॥
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ १२३ ॥

अर्थ–जो अपने ज्ञानस्वरूपहीको सुख मानता है और ज्ञानस्वरूपहीमें जिसका अभिराम है और ज्ञानरूप चक्षुसेही सर्वांतर्यामीको सर्वत्र देखता है वह ब्रह्मरूपको प्राप्त हुआ योगी मोक्षको प्राप्त होता है १२३॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम्॥ अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ १२४ ॥

अर्थ–इस ज्ञानस्वरूपको जान लेनेसे वेदोंके अध्ययन करनेमें और यज्ञोंके करनेमें और स्वधर्म आदिके आचरणमें और दान देनेमें जो जो पवित्र फल (स्वर्ग आदिका भोग) कहा है उन सबको उल्लंघन करके योगी मोक्षको प्राप्त होता है (अर्थात् ज्ञानरूपके जाननेहीसे मोक्ष होती है) ॥ १२४ ॥

यथा राजन् हस्तिपादे पदानि संलीयंते सर्वसत्वोद्भवानि ॥ एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध॥१२५॥ मज्जेत्त्रयीयं दंडनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः॥ सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥१२६॥

अर्थ–महाभारतमें राजा मांधाताके प्रति महर्षिका वाक्य है कि हे राजन्! जैसे हाथीके पैरमें सब प्राणियोंके पैर अंतर्गत होजाते हैं वैसेही वर्णाश्रम आदिका संबंधभी सदैव राजधर्ममें स्थित रहता है (अर्थात् राजधर्मकी व्यवस्थाके साथ सब धर्मोंकी व्यवस्था होजाती है)। दंडरूप नीतिके अभाव होनेमें सब धर्मोंका मूल वेदभी अङ्गोंसहित लुप्त प्राय होजाता है (अर्थात् वेदप्रणीत धर्मकाभी अभाव होजाता है) और मनु आदिकोंका प्रणीत पुरातन क्षात्रसंबंधी राजधर्ममें क्षत्रियोंकी प्रीति नहीं रहनेमें वृद्धिको प्राप्त हुए सब धर्म और वर्णाश्रमादिके सब धर्मभी नाश होजाते हैं (अर्थात् क्षात्रसंबंधी प्राचीन राजधर्मका अभाव होजानेमें वेदप्रणीत सब धर्मोंका नाश होजाता है)

इसीसे शास्त्रोंके विचारसे निश्चय होता है कि, क्षात्रधर्मके साथ सब धर्मोंकी उन्नति और अवनति होती है ॥ १२५ ॥ १२६ ॥

अथ ग्रन्थसमाप्तिः ।

क्षेमं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मीः समालंब्यतां
राजानो वसुधामवंतु सततं नूनं स्वधर्मे रताः ॥
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वो नि-
र्विघ्नं विदधातु सर्वजगतां नारायणो लोककृत् १२७॥

अर्थ–ग्रंथकर्ताकी परमेश्वरसे प्रार्थना है कि, सब सज्जन पुरुष कल्याणको प्राप्त होवैं और सब जनपद (देश) लक्ष्मीसे पूर्ण होवैं और अपने स्वधर्ममें स्थित सब भूमिपाल निरंतर इस पृथ्वीकी रक्षा करैं और बडे पुण्यशाली जो आप सज्जन हों जिन्होंके मनको प्रसन्न करनेके निमित्त यह नीति नवोढाके समान सुखदायी होवै और सब लोकोंको रचनेवाला नारायण सब जगत्के विघ्नको विनाश करै १२७॥

यावच्चंद्रदिवाकरौ प्रतपतो यावज्जलं वारिधौ यावच्छे-
षफणागणेषु पृथिवी निश्चेष्टिता तिष्ठति ॥ यावद्धेम-
गिरिर्दधात्यचलतां तावन्मदीयोऽस्त्वयं लोके प्राज्ञ-
मनांसि संप्रमदयन्नीश स्थिरः संग्रहः ॥ १२८ ॥

अर्थ–हे परमेश्वर ! जहां पर्यंत सूर्य, चंद्रमा तपैं (अर्थात् विद्य-मान रहैं) और जहां पर्यंत समुद्रमें जल रहै और जहांतक शेषके फणोंपर भूमि निरंतर अचलताको धारण करै (अर्थात् पृथ्वी विद्य-मान रहै) और जहां पर्यंत हिमालय स्थिर रहै वहां पर्यंत मेरा संग्रह किया हुआ यह अक्षयनीति सुधाकर नाम ग्रंथ इस लोकमें विद्वानोंको प्रसन्न करता हुआ निरंतर स्थित रहै ॥ १२८ ॥

श्रीमद्राजपुराधिपो विजयते गोविंदसिंहो नृपस्तत्पु-
त्रोनयकोविदो गुणनिधिर्विद्यावतामाश्रयः ॥ शास्ता

चोत्पथगामिनां प्रियकरो नित्यं प्रजानां सतां श्री-
मानक्षयसिंह ईश्वररतिर्जीव्यात् समानां शतम् ॥ १२९ ॥

अर्थ-लक्ष्मीसे देदीप्यमान राजपुर (बनेडा) नाम नगरके अधी-श्वर श्रीमान् महाराजाधिराज महाराजा श्रीगोविंदसिंहजी प्रजाकी न्याय-पूर्वक रक्षा करते हुए वेदादि सत् विद्याओंके अभ्याससे सब राजा-ओंमें शिरोगण्य है इन महाराजाधिराजके युवराज नीतिविद्यामें पारंगत, गुणोंके समुद्र, विद्यावानोंके आधार, दुष्टोंको दंड देनेवाले, प्रजा और सज्जनोंके हितकारी, परमेश्वरकी भक्तिमें सदा तत्पर, ऐसे श्रीमान् राजकुमार अक्षयसिंहजी चिरकाल पर्यंत चिरंजीव रहैं ॥ १२९ ॥

श्रीमदक्षयसिंहस्य नृपवर्यसुतस्य च ॥
आज्ञया वैजनाथेन विदुषाज्ञानुचारिणा ॥ १३० ॥
पुरातनेभ्यो ग्रंथेभ्यो ग्रथितः संग्रहो मया ॥
यन्न्यूनमाधिकं चात्र सूरयः शोधयंतु तत् ॥ १३१ ॥

अर्थ-नृपशिरोमणि श्रीमान् महाराजाधिराज महाराजा श्रीगोविंद सिंहजीके युवराज श्रीअक्षयसिंहजीकी आज्ञासे विद्वानोंका अनुचर पंडित वैजनाथ (प्रसिद्ध नाम पं० नगजीराम) शर्माने ऋषि महर्षि-योंके प्रणीत जो पुराणे ग्रंथ हैं जिन्होंसे यह अक्षयनीतिसुधाकर नाम ग्रंथसंग्रह किया है इस ग्रंथमें जो न्यूनाधिक हुआ हो उसको सज्जन लोग सुधार लेवें यह मेरी प्रार्थना है ॥ १३० ॥ १३१ ॥

व्योमर्तुनंदभूसंख्ये विक्रमीये ह्यगादयम् ॥
समाप्तिं संग्रहः शुक्ले चोर्जस्य नवमीदिने ॥ १३२ ॥

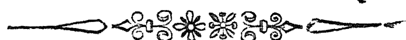
अर्थ-विक्रमी संवत् १९६० का कार्तिकशुक्ला ९ नवमीके दिन यह अक्षयनीतिसुधाकर नाम संग्रह समाप्त हुआ ॥ १३२ ॥

इति श्रीमन्महाराजकुमार-श्रीअक्षयसिंहजीवर्मनिर्मिते अक्षयनीति-सुधाकरे भाषाटीकासमलंकृतः पंचमः स्तबकः ॥ ५ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

॥ श्रीः ॥

बनेडा राज्यका संक्षिप्त इतिहास।



बनेडा राज्यके संस्थापक राजा भीमसिंहजी।

बनेडा राज्यके संस्थापक मेवाडाधिपति महाराणा राजसिंहजी जिन्होंने संवत् १७१० से १७३८ तक राज्य किया उनके उदार चरित्र वीर शिरोमणि महाराजकुमार भीमसिंहजी थे। महाराणाके दो ज्येष्ठ सुपुत्रोंकी अकाल मृत्युके पश्चात् भीमसिंहजी ही वास्तविक राज्यके उत्तराधिकारी थे किन्तु उन्होंने मेवाडके समृद्ध साम्राज्यको छोटे भाई जयसिंहजीको समर्पण कर उज्ज्वल पितृभक्ति तथा भ्रातृस्नेहका परिचय दिया जिसमे आजतक उनका नाम प्रातः-स्मरणीय है तथा सदैव अमर रहेगा।

महाराणाके तीसरे और चौथे पुत्र भीमसिंहजी और जयसिंहजीका जन्म पौष कृष्ण एकादशी संवत् १७१० को एक ही दिन हुआ था। भीमसिंहजीका जन्म होते ही एक सेवक जन्मसंदेश लेकर महाराणाके निवेदनार्थ गया किन्तु उनको योगनिद्रामें देख मस्तककी ओर खडा हो गया इसी अवसरमें दो घंटेके पूर्व ही जयसिंहजीका जन्म हुआ और जन्मसंवाद लेकर दूसरा सेवक पहुँचा। वह भी उपरोक्त कारणवश महाराणाके चरणोंकी ओर खडा हो गया। नींद खुलने पर महाराणाकी दृष्टि प्रथम उस सेवकपर पडी जो जयसिंहजीके जन्मका संदेश लाया था। जयसिंहजीकी जन्म सूचना निवेदन होने-पर दूसरे सेवकने भीमसिंहजीका जन्म समाचार सुनाया और प्रार्थना की कि भीमसिंहजीका जन्म जयसिंहजीके पूर्व हुआ। परन्तु जय-सिंहजीके जन्मकी सूचना पहिले मिलनेके कारण महाराणाने उस पुत्रको पहिले जन्मा हुआ माननेकी घोषणा कर दी।

पौराणिक रीतिके अनुसार नये जन्मे हुए बालककी भुजापर अम-रदोबका गुच्छा बांधा जाता है अमरदोब एक प्रकारका घास होता है जो अधिकाधिक बढनेमें प्रसिद्ध है और अत्यन्त ग्रीष्म ऋतुमें

भी नष्ट नहीं होता। चर्मरोग तथा दृष्टिदोषादिको निवारण करनेमें यह एक श्रेष्ठ औषधि गिनी जाती है।

महाराणाने पहिले जयसिंहजीकी भुजापर अमरदोबका पुंज बांधा और प्रार्थना की कि वे निरोगी और चिरायु हों और उनका वंश अमरदोबकी भांति फले फूले। तत्पश्चात् भीमसिंहजीकी भुजापर भी इसी प्रकार दूर्वाबन्धन कर शुभाशीश दी।

दोनों बालकोंने बडे होनेपर सैनिक शिक्षा प्राप्त की और विख्यात योद्धा हुए।

मुगल सम्राट्ने हिन्दुओंपर पुनः जजियानामक कर लगा दिया। हिन्दुओंपर इस अनुचित करकी आपत्तिसे दुःखित होकर दयालु महाराणा राजसिंहजीने सम्राट् औरंगजेबको एक पत्र लिखा जिसकी आख्यायिका प्रसिद्ध है। उसमें उन्होंने जाजियाको न्यायविरुद्ध होने व कुरानशरीफसे भी अप्रमाणित होनेका उल्लेख किया। इससे औरंगजेब बहुत क्रोधित हुआ और पत्रोत्तरमें उदयपुरको विजय करनेके लिये एक विशाल सेना भेजी।

महाराणा राजसिंहजी अपने साथियोंसहित तुरन्त पहाडी दुर्गपर चले गये जहांसे वे यकायक अज्ञात अवस्थामें धावे करके सम्राट्की सेनाको अनेक प्रकारसे कष्ट पहुँचाते रहे और भीमसिंहजीको ४००० सैनिकों सहित गुजरातपर आक्रमण करनेकी आज्ञा दी। इस अल्प सेनाको लेकर उन्होंने गुजरातपर चढाई की। ईडरको अपने अधिकारमें कर लिया और किलेमेंसे हसनखाँ तथा उसकी सेनाको बाहर निकाल दिया व तीन सौ मसजिदोंको नष्ट कर दिया। वहांसे उन्होंने बडनगर प्रस्थान किया और निवासियोंसे ४००० चालीस हजार रुपये लिये इसके बाद उन्होंने अचानक पाटन पहुँचकर नगरको लूटा। यह नगर प्रान्तिक सूबेदारका निवासस्थान था। सिद्धपुर मौरासो और अन्य नगरोंकी भी यही दशा हुई। वे सूरत प्रस्थान करनेको पूर्णतया प्रस्तुत थे किन्तु गुजरातके भागे हुए लोगोंकी क्षमा-

प्रार्थनासे महाराणाका हृदय पिघल गया और उन्होंने भीमसिंहजीको सेनासहित बुला लिया।

भीमसिंहजीके आनेपर उनका बडे समारोहके साथ स्वागत किया गया उनकी विजयवीरतासे वे महान् योद्धा व पराक्रमी सेनापति समझे जाने लगे जिससे महाराणाके चित्तमें अत्यन्त चिन्ता उत्पन्न होगयी। महाराणाके ज्येष्ठपुत्र सुलतानसिंहजी और दूसरे सरदारसिंहजी कालकवलित हो चुके थे और महाराणाकी इच्छा थी कि उनकी पूर्व घोषणाके अनुसार जयसिंहजी ही गद्दीके उत्तराधिकारी हों। भीमसिंहजीका यश दिनोदिन विस्तृत होता जाता था और उनके सद्गुणोंकी प्रतिभाका प्रभाव जनताके हृदयपर ऐसा अङ्कित हुआ कि भविष्यमें भीमकेही उत्तराधिकारी होनेकी इच्छा बढने लगी। जनताके ऐसे विचारोंसे महाराणाका चित्त क्षुब्ध रहने लगा। महाराणाको यह भय हुआ कि उनकी मृत्युके पश्चात् सर्व साधारण भीमसिंहका ही पक्ष करेंगे और गद्दीके लिये झगडा अनिवार्य हो जायगा। इतना ही नहीं इन आन्तरिक झगडोंके कारण सम्राट् औरंगजेब सरलतासे मेवाडपर अपना अधिकार कर लेगा। इस भविष्य दुर्घटनाके निवारणार्थ नीतिकुशल महाराणा राजसिंहजीने एक दिन अपनी तलवार खैंची और उसको भीमसिंहजीके हाथमें देकर तुरन्त जयसिंहजीको मार डालनेका आदेश दिया क्योंकि भविष्यमें अपनी राज्यको अशान्तिमें डालनेकी अपेक्षा उन्होंने ऐसा करना ही श्रेष्ठ समझा।

ऐसे शब्द सुनते ही भीमसिंहजी अपने पिताके आन्तरिक भाव समझ उठ खडे हुए और महाराणाके स्वर्गवासके अनन्तर आपसकी लडाईका जो भय उनके मनमें हो उसको मिटानेके लिये उन्होंने पिताजीकी गद्दीमें हाथ लगाकर यह प्रण कर लिया कि यदि उनकी पारलौकिक क्रियाके पश्चात् वे देवबारीकी घाटीके भीतर पानी भी पीयें तो अपने पिताके सच्चे पुत्र नहीं।

संवत् १७३८ में महाराणा राजसिंहजी देवलोक गये और जयसिंहजी विना किसी उपद्रवके गद्दीपर बैठे भीमसिंहजीने तुरन्त अपने अनुयायियोंको एकत्रित कर अपने पुत्रके साथ उदयपुर छोडकर वहां प्रस्थान किया जहां भाग्योदयकी अधिकतर सुविधायें उन्हें प्रतीत होती थीं। देवबारीके समीप पहुंचकर वे एक पवित्र अंजीरके वृक्षके नीचे उस मेवाडभूमिपर अंतिम दृष्टि डालनेके लिये ठहरे जहां वे उत्पन्न हुए थे और उन्होंने अपनी बाल्यावस्था आनन्दपूर्वक बितायी थी। उष्णता अधिक होनेके कारण अपने स्वामीको पिपासित जान उनका पानेरी समीपकेही वहते हुए शुद्ध सोतेसे एक चांदीके पात्रमें जल भर लाया और भीमसिंहजीके सम्मुख उपस्थित किया भीमसिंहजीने उस पात्रको होठोंतक उठाया परन्तु प्रणके स्मरणः होते ही उन्होंने उस स्वच्छ जलको ईश्वरके तर्पण तुल्य भूमिपर डाला और पात्रको सोतेके रक्षक देवताके भेंटस्वरूप उसमें फेंक दिया।

वीरेन्द्र भीम वहांसे प्रस्थान कर देवबारीकी सीमाके बाहर एक कुंए पर पियासा शांत करही रहे थे कि उनका मातुल उनके सामने आ उपस्थित हुआ और महाराणा जयसिंहजीकी ओरसे विनय की कि मेवाडको विध्वंसं करनेके लिये सम्राट् औरंगजेबकी पराक्रमी सेना मेवाडमें प्रवेश होनेवाली है इसलिये तुरन्त उसको परास्तकर जन्मभूमिकी रक्षा करनी चाहिये तथा अपने भाईके राज्यकी नींव दृढ करनी चाहिये। उस आदर्श त्यागीके लिये जन्मभूमिकी रक्षा तथा भाईकी सहायतासे श्रेयस्कर कौनसा कार्य हो सकता था। भीम अपने सैनिकों सहित देसूरीनालके बाहर रणक्षेत्रमें जा डटे और प्रसिद्ध सेनापति तैबरखांको पराजित कर मेवाडकी रक्षा की तथा अपनी उज्ज्वल कीर्तिको देदिप्यमान की। इस युद्धके पश्चात् शीघ्र ही वैशाख शुक्ल संवत् १७३८ में सम्राट् और महाराणाके परस्पर सन्धि हो गयी और मेवाडमें शान्ति स्थापित होने लगी।

उस समयमें महान् योद्धा तथा पराक्रमी वीर सम्राट्की सेवा कर यशोपार्जन करते थे तथा मोगल साम्राज्यकी ध्वजा दूर २ तक फैलाकर स्वयं उच्चपदाधिकारी बनते थे व प्रान्तोंका आधिपत्य प्राप्त करते थे. भीमसिंहजीकी युद्धचातुर्यता तथा अद्वितीय समर्पणकी चर्चा सम्राट् औरंगजेबके कर्णगोचर हो चुकी थी जिससे उनके प्रति सम्राट्का बहुत आदर व प्रेम हो गया था। भीमसिंहजीकी भी यही आकांक्षा हुई कि सम्राट्की सेवा कर उनको अपने वीरत्वका परिचय देवें। अतः उपरोक्त सन्धिके दो मासके अनन्तर ही एक शुभ दिन भीमसिंहजी सम्राट् औरंगजेबके सम्मुख अजमेर जा उपस्थित हुए। सम्राट्ने भीमसिंहजीका उचित सन्मान किया और उन्हें अन्य नरेशोंकी भांति दर्बारमें उपस्थित होनेकी आज्ञा दी उनके बल पराक्रमसे संतुष्ट हो सम्राट्ने शीघ्र ही मनसबका मान व राजाका पद प्रदान किया।

उस समय दक्षिणमें मरहटोंकी शक्ति प्रबल होगयी थी जिसको विनष्ट करनेके हेतु औरंगजेबने बडी सेना लेकर उनपर चढाई की सम्राट् अपने पुत्र मोजमको भीमसिंहजी व अन्य सर्दारोंसहित राजपुतानाके प्रबन्धके लिये अजमेर छोडगये। राठोडोंके साथ लडाई करना व्यर्थ समझकर शाहजादा मोजमने भीमसिंहजीको मध्यस्त बननेकी आज्ञा दी और उनकी सहायतासे राठोडोंके साथ सन्धि हो गयी।

संवत् १७४० के लगभग बून्दीके रावराजा अनिरुद्धकी प्रार्थनापर सम्राट्ने भीमसिंहजीको आज्ञा दी कि दुर्जनशालको परास्त कर बून्दीपर पुनः राजा अनिरुद्धको अधिकार करा दें। भीमसिंहजीने बादशाही सेनाके साथ आक्रमण कर दो दिन तक घमासान युद्धके पश्चात् दुर्जनशालको पराजित किया और राज्यकी बागडोर अनिरुद्धके हाथमें सोंपदी। इस प्रसिद्ध विजयसे सम्राट् राजा भीमसिंहजीसे इतने प्रसन्न हुए कि उनको ३५०० साढे तीन हजारीका मनसब प्रदान किया

संवत् १७४३ में राजा भीमसिंहजी अपने ज्येष्ठ पुत्र अजबसिंहजी-के साथ बीजापुरकी लडाईमें सम्राट् औरंगजेबके सम्मिलित जा हुए राजकुमार अजबसिंहजी उदारता तथा शूरवीरतामें अपने पिताके सदृश थे उन्हें अल्पावस्थामें ही युद्धसे बडा प्रेम था और बहुधा अपने पिताके संग रणक्षेत्रमें जाया करते थे वे भीमसिंहजीके साथ बीजापुरके दुर्गपर आक्रमण करनेके लिये भेजे गये जहां वे बडी वीरतासे लडे परन्तु कालवश शत्रुकी तोपसे मारे गये । अजबसिंह जैसे तरुण वीरकी अकाल मृत्युसे भीमसिंहजीका साहस टूटने लगा और वे शोकसागरमें डूब गये परन्तु तुरंतही उन्होंने अपनी विवेकशक्ति द्वारा क्षत्रियधर्मके मर्मको पहिचान कर्तव्यके सामने अपने प्रिय पुत्रके वियोगको भूल गये और संग्राममें मत्त केसरीकी भांति प्रबल वेगसे शत्रु-संहार करते हुए दुर्गपर आधिकार कर लिया । इस विजयसे सम्राट्ने प्रसन्न होकर भीमसिंहजीको पंचहजारीका मनसब व ९२ परगनोंका शासन प्रदान किया ।

राजा भीमसिंहजीके आदर्शरूप त्याग, देशप्रेम तथा शूरवीरताका यश देशमें चहुँ ओर फैल गया और वे सर्व साधारणके पूजनीय हो गये । विजयलक्ष्मीभी उनसे अत्यन्त प्रसन्न रही और सन्मानपर सन्मान मिलनेका सौभाग्य उन्हें प्राप्त होता रहा। मेवाड जैसा विस्तृत राज्य समर्पण कर देने पर भी सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी दयासे उन्होंने अपने बाहुबल द्वारा सम्राट्को तुष्टित किया और उच्चाधिकारके साथ जन्मभूमिके निकट ही बडा राज्य प्राप्त किया । प्रेम त्याग तथा वीरताका सुयोग्य फल उनको अपने जीवनकालमेंही मिल गया और सासारिक वैभवसे वे सदा आनन्दित रहे । राजकुमार अजबसिंहजीके अतिरिक्त उनके ११ राजकुमार थे जिनमेंसे (२) रण-क्षेत्रमें काम आये (३) उनके जीवनकालमेंही कराल कालके गालमें जा बसे । इनके वियोगसे शोकपीडित होते हुए भी वे अन्तिम

समयतक युद्धोंमें लडते रहे और भाद्रकृष्ण ३० संवत् १७९१ को कुतुबाबाद् दक्षिणमें शरीर त्यागा।

राजा सूरजमलजी।

राजा भीमसिंहजीके द्वितीय राजकुमार सूरजमलजी जिनका जन्म संवत् १७३८ में हुआ था गद्दीपर बैठे। राजा भीमसिंहजीके दूसरे चार जीवित पुत्र पृथ्वीसिंह, कीर्तिसिंह, विजयसिंह और जोरावरसिंहको उनके पिताके राज्यमेंसे जागीरें दी गयीं। मांडलगढ प्रान्तमें पारोली मध्य भारतके बडनगर प्रान्तमें अमला खेडावदा व बरडिया नामावली अनुसार दिये गये। ये जागीरें आजतक उनकी सन्तानोंके अधिकारमें हैं।

राजा सूरजमलजी अपने पूर्वजोंकी भांति रणक्षेत्रके बहुत प्रेमी थे और सम्राट्सेवामें रहकर युद्धोंमें बहुत भाग लेते थे। संवत् १७५७ में वे सताराके प्रसिद्ध पहाडी किलेको विजित करनेके लिये भेजे गये वे बहुत शूरवीरतासे लडे और शत्रुओंपर अतिवेगसे धावे कर दुर्गपर अधिकार कर लिया परन्तु शस्त्राघातसे इतने घायल हो गये थे कि किलेमें प्रवेश होते हुये मूर्च्छित होकर गिर पडे। इस विजयके उपलक्ष्यमें सम्राट् औरंगजेबने इनको कई अधिकारोंसे सम्भूषित किया। संवत् १७६४ में औरंगजेबके मरनेपर साम्राज्यके लिये भाइयोंमें युद्ध आरंभ हुआ मौजम अपना नाम बहादुरशाह घोषित करके सिंहासन पर बैठा और कामबक्षनेभी दक्षिणमें अपनेको सम्राट् घोषित किया जब बहादुरशाहको कामबक्षको विजय करनेके लिये प्रस्थान करना पडा तब राजा सूरजमलजी भी साथमें थे इस युद्धमें इन्होंने बडी वीरतासे कामबक्षको घायल कर विजय प्राप्त की परन्तु शत्रुओंके शस्त्राघातसे रणक्षेत्रमें ही काम आये।

राजा सुल्तानसिंहजी।

सूरजमलजीकी वीरतासे ही युद्धमें बहादुरशाहने विजय प्राप्त की

इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ परन्तु उसके स्वर्ग सिधार जानेसे सम्राट्का चित्त दुःखित हुआ और उन्होंने उनके बालक पुत्रको अपने पास लानेकी आज्ञा दी उनके वहां पहुँचते ही वे दर्बारमें बुलाये गये और सम्राट्ने उनको गोदमें लेकर उनका नाम सुलतान रक्खा तथा उनके अल्प वयसके कारण उनके व उनके कुटुम्बके व्ययके लिये ४ परगने विना सेवाके देकर बनेडा लौटनेकी आज्ञा दी।

बहादुरशाह केवल पांच वर्ष राज्यकर मर गये और जहांदारशाह संवत् १७६९ में सिंहासनपर बैठे जहांदारशाहने भी केवल एक ही वर्ष राज्य किया था कि वे मारे गये और फर्रुखसीयर सिंहासनपर बैठे। इनके समयमें राजा सुलतानसिंहजी सेवामें उपस्थित हुए और साम्राज्यमें कई पदोंपर काम किया संवत् १७७२ में वे औरंगाबादके हाकिम बनाये गये।

समयके प्रभावसे औरंगजेबके पश्चात् दिल्लीके किसी सम्राट्ने अधिक दिनोंतक राज्य नहीं किया। फर्रुखसीयरकी भी वही दशा हुई और रफीउद्दजीन रफीउद्दौला मोहम्मदशाह निश्चित समयान्तरमें दिल्लीके सिंहासनपर बैठे। इनके समयमें राजा सुलतानसिंहजी सोलापुरके हाकिम बने सम्राट् मोहम्मदशाहके समयमें राजपुतानेमें मरहटोंका जोर बढ गया और अपने राज्यको सुरक्षित रखनेके लिये राजा सुलतानसिंहजी बनेडा आये और यहाँ काटूंदाके उपद्रवी मेरोंको विध्वंस कर अपने नामसे सुलतानगढ बसाया।

सवत् १७९० में उनकी पुत्रीका व्याह। जोधपुरके महाराज अभयसिंहजीके साथ होना निश्चित हुआ और विवाहके महोत्सवके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रियां की गयीं परन्तु दुर्भाग्यवश जिस दिन महाराजा जोधपुर बनेडा पधारे उसी दिन राजा सुलतानसिंहजीका स्वर्गवास हो गया।

राजा सरदारसिंहजी।

राजा सरदारसिंहजी १० वर्षकी अवस्था हीमें गद्दीपर बैठे। इनका संवत् १७८० में हुआ था ये अल्पावस्था तथा मरहटोंके उपद्रवके कारण दिल्ली नहीं जा सके थे। उस समय मोगल साम्राज्यका भी पतन हो रहा था। देशमें डाकुओंके समूह चारों ओर घूमते थे और जब अवसर पाते राजा और प्रजाको इच्छानुसार लूटते थे इस तरह लुटेरोंके धावोंसे राजाओंके जीवन और संपत्ति अपने २ निवास स्थानमेंभी बिना सुदृढ दुर्गके सुरक्षित रहना असम्भव था। बनेडा इन लोगोंके पथमें होनेके कारण यह आवश्यक समझा गया कि जितना शीघ्र हो सके एक सुदृढ दुर्ग बनाया, जावे। महाराजा जोधपुरने दिल्लीके सम्राट्से आवश्यक आज्ञा ली।

राजा सरदारसिंहजीने संवत् १९११ में अरवली पहाडकी करारपर जो समुद्रकी सतहसे १९०३ फीट ऊंची है एक सुन्दर दृढ दुर्ग बनवाया।

राजा भीमसिंहजीके विख्यात शपथके पश्चात् उनके वंशमेंसे कोई अभीतक उदयपुर नहीं गये थे परन्तु उनका यश महाराणाके कानों तक पहुँच गया था।

द्वितीय महाराणा जगत्सिंहजीने सलूम्बरके रावत केसरीसिंहजीको बनेडा भेज राजा सरदारहिंजीको उदयपुर बुलवाया। निम्नलिखित बातें उस समय निश्चित हुई।

(१) जिस समय बनेडाके राजा उदयपुर आवें महाराणा उदयपुरके बाहर आकर उनका स्वागत करेंगे और यदि महाराणा सेनामें हो तो सीमाके बाहर आकर स्वागत करेंगे।

(२) बनेडाके राजाओंको अधिकार रहेगा कि चंवर, सूरजमुखी, गोपत वगैरह राजचिह्न जो उनको यवनसम्राटोंसे प्राप्त है उदयपुरमें भी प्रयोगमें लावें।

(३) विपत्तिके समय महाराणाकी सेवामें रहेंगे और महाराणा भी उनके राज्यकी रक्षा करेंगे नियमित सेवा मेवाडसे जागीर मिलनेपर उसीके अनुसार मेवाडके नीयमानुकूल करेंगे जब राजा सरदारसिंहजी उदयपुर पहुँचे महाराणाको उनकी भेंटसे बहुत प्रसन्नता हुई।

बागोरके महाराज नाथजीने द्वितीय महाराणा प्रतापसिंहजीके विपक्ष राजद्रोह किया और शाहपुरा जाकर शरण ली। शाहपुरेके राजा उम्मैदसिंहजी तथा महाराज नाथजी दोनोंने मेवाडके गावोंको लूटना आरम्भ किया। राजा सरदारसिंहजी समीप होनेके कारण महाराणाने उन्हें लिखा कि राजा उम्मैदसिंहजी तथा नाथजीको मेवाडके गांव नहीं लूटने दे। इस लेखके अनुसार उपद्रव शान्त करनेके लिये राजा सरदारसिंहजीको लडाई लडना पडा फल यह हुआ कि लूट बंद होगयी परन्तु महाराज नाथजी और राजा उम्मैदसिंहजी राजा सरदारसिंहजीके कट्टर विरोधी हो गये और ऐसे अवसरकी बाट देखने लगे कि उनसे बदला लेवें। बनेडा राज्यके विद्रोही आरजियास जागीरदारने विश्वासघात करके शाहपुरेके राजा उम्मैदसिंहजीको ठीक ऐसे समयपर आक्रमण करनेकी सूचना दी जब कि राजा सरदारसिंहजीके पास बहुत कम सैनिक थे। राजा उम्मैदसिंहजीने अचानक आक्रमण कर दुर्गके विशेष भागपर अपना आधिकार करलिया। राजा सरदारसिंहजी बडी वीरताके साथ लडते रहे और महाराणाको यह समाचार मिलते ही समयपर सहायता भेज दी जिससे राजा उम्मैदसिंहजीको बनेडा छोडकर जाना पडा। राजा सरदारसिंहजीका संवत् १८७५ में उदयपुरमें स्वर्गवास हुआ।

राजा रायसिंहजी।

राजा सरदारसिंहजीकी मृत्युके पश्चात् उनके पुत्र रायसिंहजी जिनका जन्म संवत् १७९८ में हुआ था गद्दीपर बैठे। उन्होंने संवत् १८२३ में दुर्गकी तलेटीमें वर्तमान नगरकी नींव डाली और

उसका नाम राजपुर रक्खा परन्तु वह बहुधा प्राचीन नाम बनेडासे ही प्रसिद्ध है।

महाराणा अडसीजीके समयमें कुछ उमरावोंने उनको गद्दीसे उतारने और रतनसिंहजीको गद्दीपर बैठानेका प्रयत्न किया। उन उमरावोंने माधवराय सींधियासे भी प्रेरणा की कि वे मेवाडपर आक्रमण करें तथा उनके प्रयत्नोंमें सहायता पहुंचावें। राजा रायसिंहजी महाराणाके अनुयायियोंमेंसे थे। ज्योंही सैंधियाने उज्जैनसे प्रस्थान किया महाराणाने उनका सामना करनेके लिये बनेडाके राजा रायसिंहजी शाहपुराके राजा उम्मैदसिंहजी तथा सलूम्बरके रावत पहाडसिंहजीकी अध्यक्षतामें एक विशाल सेना भेजी। क्षिप्रा नदीके तटपर घमसान युद्ध हुआ और सैंधियाकी सेना बुरी तरह हारकर मैदान छोड भाग गयी।

मेवाडकी विजयी सेनाने उज्जैनके द्वारतक उनका पीछा किया परन्तु वहां जयपुरके नागोंके रिसाले जिनको देवगढके रावतजीने वैतानिक सैन्धियाके सहायतार्थ भेजे थे ठीक समयपर आ पहुँचे। मेवाडकी सेना उज्जैन लूटनेमें लगी हुई थी अतएव जब नागोंके रिसाले आ पहुंचे तो थोडेही सेनाध्यक्षोंको अपने साथियोंसहित सामना करना पडा। राजा उम्मैदसिंहजी और रावत पहाडसिंहजी रणक्षेत्रमें वीरताके साथ लडते हुए काम आये। और राजा रायसिंहजीके ऐसे घातक घाव लगे कि बनेडा आते हुए रास्तेमें ही संवत् १८२९ में उनका स्वर्गवास हो गया। मेवाडकी सेनाको विवश भागना पडा। नागोंने उसका पीछा किया और विजय अंतमें सैन्धियाकी रही।

राजा हमीरसिंहजी।

राजा हमीरसिंहजी जिनका जन्म संवत् १८१७ में हुआ राज्यके उत्तराधिकारी हुए। प्रारम्भमें उन्होंने अपना ध्यान उस नगरके

दुर्गनिर्माण पर दिया जो उनके पिताने बसाया था। नगरके चारों ओर कोट बनवाया गया तथा आवागमनके हेतु तीन दरवाजे रक्खे गये।

इस समय मेवाडमें कुम्भलगढका दुर्ग महापुरुषोंके अधिकारमें था। राजा हमीरसिंहजीने उनपर चढाई की और कुम्भलगढमेंसे उनको निकाल गढ महाराणाको सौंप दिया। संवत् १८५९ में कोटाके झाला जालिमसिंहजीने बनेडापर चढाई की और कोटके चारों ओर घेरा डाल ३३ दिन लडते रहे। जब उन्होंने देखा कि राजा हमीरसिंह-जीको परास्त करना दुस्वार है तो निराश होकर लौट गये। राजा हमीरसिंहजी संवत् १८६५ में शान्त हुए इनकेही समय मरहटोंकी लूटमारसी हुई इससे मेवाडकी आर्थिक दशा अत्यंत हीन होगई यह कष्ट इनको भी भोगना पडा।

राजा भीमसिंहजी द्वितीय।

राजा भीमसिंहजी जिनका जन्म संवत् १८३७ में हुआ था गद्दीपर बैठे÷। कर्नल टाडने बनेडामें पदार्पण किया उन्होंने अपने इस आगमनका व्योरेवार वृत्तान्त लिखा है। उन्होंने जो उल्लेख किया है उससे अधिक अच्छा वृत्तान्त नहीं लिखा जासकता जिससे वही वृत्तान्त यहां राजस्थान प्रथम वाल्यूम पृष्ठ ८२८–३० मेंसे नीचे उद्धृत किया जाता है।

८ दिसम्बर, बनेडा।

बनेडाका दुर्ग मेवाडके सबसे अधिक भव्य भवनोंमेंसे है और उसके स्वामी भी मेवाडके मुख्य प्रतिष्ठित उमरावोंमेंसे हैं। उनको केवल राजाकी पदवी ही नहीं है किन्तु रईसके जितने राजचिह्न होते हैं सब

÷ तेरा वर्ष मरहटोंकी लूटका दुःख भोगनेके अनंतर सं॰ १८७४ में महाराणाकी सधि ब्रिटिश गर्वनमेन्टके साथ होनेपर इनको अपनी उन्नति करनेका अवसर मिला।

उनको उपलब्ध हैं । उनका नाम तथा उनके महाराजाका नाम एक ही हैं । वे राजा भीम और वे महाराणा भीम हैं । यदि संयोगवश घटना न हो जाती तो ये शिशोदियोंके स्वामी होते ।

बनेडामें मैंने तीन घंटे व्यतीत किये और इस समयमें मुझे राज्यके जागीरदारोंकी श्रेणीके निरीक्षणका सुअवसर प्राप्त हुआ इतना ही नहीं मुझे राजा भीमसे बहुत प्रेम होगया । उनकी बाल्य शिक्षा बहुत उच्च हुई थी और वे विचारवान् सभ्य सज्जन थे । मेरे साथ वे किसी तरह भेद भाव नहीं रखते थे ।

महाराणाके वंशसे घनिष्ठ सम्बन्ध होने व सम्राटोंसे आदर व राजचिह्न प्राप्त होनेके कारण ये दरबारमें ईर्षाके पात्र थे और इस लिये बनेडाके आधीन लोगोंपर इनकी प्रभुता स्थापित होनेमें अनेक बाधाएं उपस्थित हुई ।

राजा उदयसिंहजी ।

राजा भीमसिंहजीका संवत् १८८६ के मध्यमें स्वर्गवास हुआ और उनके उत्तराधिकारी पुत्र उदयसिंहजो जिनका जन्म संवत् १८९३ में हुआ था गद्दीपर बैठे और केवल ६ वर्ष राज्यकर संवत् १८९२ में परलोक सिधारे ।

राजा संग्रामसिंहजी ।

राजा संग्रामसिंहजी जिनका जन्म सम्वत् १८७८ में हुआ था गद्दीपर बैठे और ९ वर्ष राज्य कर परलोक वासी हुए इनके कोई सन्तान न थी ।

राजा गोविन्दसिंहजी ।

राजा संग्रामसिंहजीकी मृत्युपर कोई उत्तराधिकारी न होनेसे डाकी जनताने महाराणाकी आज्ञा प्राप्त किये विनाही गोविन्दसिं-ंको राजा चुन लिया । इससे महाराणा बहुत क्रोधित हुए और

ब्रिटिश सरकारके हस्तक्षेप करना पडा । सर हैनरी लारेन्स राजपुताने के बडे साहब बनेडा दौडेपर आये और झगडेको बडी सुगमतासे निपटा दिया ।

राजा गोविन्दसिंहजीको उदयपुर जाकर महाराणासे क्षमा मांगनी पडी । बनेडा आनेपर तलवार बंधीका दस्तूर जो महाराणाकी ओरसे पहिलेही आ जाना चाहिये था आया राजा गोविन्दसिंहजीने तलवार बंधीका दस्तूर कर कटिमें तलवार बांधी ।

जब राजा गोविन्दसिंहजी गद्दीपर विराजे । बनेडा बहुत हीन दशामें था । और ऋण भी अधिक हो रहा था । उन्होंने मालगुजारी तथा सिंचाईके सीगोंमें कई सुधार किये । उनकी प्रबन्ध चातुर्यतासे ऋण भी शीघ्र ही उतर गया । अनावृष्टिके कारण जनताको जो कष्ट सहने पडते थे उनका राजा गोविन्दसिंहजीको अत्यन्त कडुआ अनुभव था और अकालमें भी कृषक थोडी बहुत खेती उत्पन्न कर जीवित रह सकें ऐसा प्रबन्ध करनेके लिये उन्होंने अपने राज्यमें कई बडे २ तालाब बंधवाये ।

आप संस्कृत साहित्यके बडे प्रेमी तथा धुरन्धर विद्वान् थे । कई स्थानोंसे संस्कृतके पंडितगण शास्त्रार्थ बनेडा आया करते थे जिनका पूर्ण रूपसे सत्कार किया जाता था ।

उनके समयमें आगरा और मथुराके अंग्रेजी राज्यमें कुछ जमींदारी गांव खरीदे गये । बनेडा नगरमें कई सुदृढ पक्की इमारतें बनायी गयीं । वृन्दावन राजा साहब बहुधा यात्राको जाया करते थे और वहां एक मन्दिर निर्माण कराया ।

संवत् १९१४ के गदरके समयमें अंग्रेजी सेना विभाग तथा अफसरोंने बनेडेके आस पास कैम्प लगे रक्खे थे जिनको बहुत सहायता पहुँचायी गई और उनकी रक्षा की गयी कुछ दुष्ट कसाई अफसरोंको बोध दिये बिनाही गायोंको बध करनेके हेतु पकड २ कर

केम्पोंमें ले जाया करते थे यह दुष्कर्म हिन्दूराज्यमें असह्य होनेके कारण तुरन्त बंद करा दिया गया और जिन्होंने आपसमें विपरीत भाव उत्पन्न करके अनन्तर यह करनेकी चेष्टा की उनको अफसरोंने उचित दंड दिया और पूर्ण शान्ति स्थापित रही ।

संवत् १९.३५ तक बनेडाके राजाओंको अपनी प्रजापर शासन करनेके पूर्ण अधिकार थे परन्तु इस वर्ष महाराणा साहबने राजा गोविन्दसिंहजीके सहमत होनेका प्रस्ताव किया जो उन्होंने परस्पर गहन प्रेमके कारण स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार निम्नलिखित तीन नियम स्थिर हुए ।

(१) बनेडेके न्यायालयोंकी अपील महन्द्राज सभामें हो सकेगी ।

(२) यदि दो फरीकोंमेंसे एक फरीक बनेडा राज्यके बाहरका हो तो वह मुकद्दमा मेवाड राज्यके न्यायालयमें भेजना होगा ।

(३) पांच वर्षसे ज्यादा सजाके कैदी उदयपुर जेलमें भेजने होंगे ।

राजा गोविन्दसिंहजीने ५० वर्ष तक शान्तिपूर्वक राज्य किया और आपको पडपौतेतक वंशवृद्धि देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

राजा गोविन्दसिंहजीने जो सुधार किये उनसे स्पष्ट है कि उन्होंने राज्यके जीवनमें नयी शक्तिका संचार कर दिया । आप बुद्धि विद्यानुराग, तथा राजा प्रजामें प्रेम और विश्वासकी नींव इतनी दृढ की कि उसी पथको अनुसरण करते हुए बनेडा दिनोंदिन उन्नतिके शिखरपर पहुँच रहा है । राजा गोविन्दसिंहजीकी प्रजावत्सलता तथा व्यवहार कुशलता इस राज्यमें सर्वत्र प्रसिद्ध है और वे बडी ही पूजनीय दृष्टिसे देखे जाते हैं ।

राजा अक्षयसिंहजी ।

राजा गोविन्दसिंहजीकी मृत्युके पश्चात् अक्षयसिंहजी जिनका जन्म संवत् १९२३ में हुआ था बनेडाके राजा हुए । ये बहुत ही होनहार नव युवक थे और इनसे बनेडामें कई सुधारोंकी आशा थी

परन्तु भाग्यके फेरसे युवावस्था हीमें पक्षाघातसे रोगग्रस्त हो शीघ्र ही इस संसारसे प्रयान कर गये ।

उन्होंने तलवारबन्दीका दस्तूर तो किया परन्तु रोगग्रस्त होनेके कारण उदयपुर नहीं जा सके ।

ये शिक्षाके हितैषी और संस्कृतमें उच्चकोटिके विद्वान् थे । इनके समयमें अक्षयनीतिसुधाकर नामी पुस्तक मुद्रित की गयी । इन्होंने नगर समीप तालावके किनारेपर एक सुदृढ सुन्दर भवन बनवाया । आपने सर्व साधारणके उपकारार्थ अक्षयचिकित्सालय भी खोला ।

राजा अमरसिंहजी ।

पिताके देवलोक होनेपर वर्तमान राजा अमरसिंहजी जिनका जन्म संवत् १९४३ में हुआ था गद्दीपर विराजे और संवत् १९६७ में महाराणा साहबने तलवारबन्दीका दस्तूर हाथी घोडा तथा आभूषण सहित भेजा, तब वे उदयपुर पधारे महाराणा साहब रीत्यनुसार पेशवाईके लिये शहरके बाहर पधारे ।

इनका विवाह मध्यप्रदेशमें सरगुजाके वर्तमान महराराजाकी बहिनके साथ हुआ है, और ईश्वरकी कृपासे इनके तीन पुत्र तथा पौत्र विद्यमान हैं ।

ज्येष्ठ राजकुमार प्रतापसिंहजी जिनका जन्म संवत् १९५७ में हुआ था संवत् १९७६ में मेयोकालिज अजमेरकी डिपलोमा परीक्षामें उत्तीर्ण हुए, उसी समयसे राजकार्यके कुछ विभाग उनके सुपुर्द किये गये थे । और अब संपूर्ण कार्य वे अपने पिता राजा साहबकी देखरेखमें बहुत योग्यताके साथ कर रहे हैं । द्वितीय राजकुमार मानसिंहजी मेओकालिजमें शिक्षा पा रहे हैं और तृतीय राजकुमार गुमानसिंहजीकी उम्र केवल ८ वर्षकी है ।

आपके तीन बहिनें हैं । सबसे बडी बाहिनका विवाह करौली महाराजा भँवरपालजीके साथ, द्वितीयका जयपुरमें उनियारा रावराजा गुमानसिंहजीके साथ व तीसरीका मध्य भारतमें राघोगढके राजा बहादुरसिंहजीके साथ हुआ ।

पितृभक्ति अत्यन्त होनेके कारण राजा अमरसिंहजीने अ ने स्वर्गवासी पिता अक्षयसिंहजीके स्मारकमें तथा अपनी प्रजाके शिशुओंके शिक्षार्थ अक्षय मेमोरियल स्कूल निर्माण करा उसके साथ एक बोर्डिंग हाउस भी खोला है ।

संवत् १९८० में राजा साहबने एक कन्या पाठशाला भी स्थापित की है जिसके लिये आपकी धर्मपत्नी रानीसाहिबाने एक सुन्दर भवन अपने व्ययसे बनवाकर भेंट किया है । इनके अतिरिक्त राज्यके गांवोंमें शिक्षाके निमित्त ९ पाठशालाएं खुलवायी हैं । और शिक्षाप्रचारमें आपका उत्साह सराहनीय है । होनहार विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तियां दी जाती हैं तथा पारितोषिकादिसे शिक्षामें उनकी रुचि बढायी जाती है ।

संस्कृत विद्याकी उन्नतिके लिये आपने मुनिकुल ब्रह्मचर्याश्रम खोला है और उसके व्ययके लिये मासिक धनके उपरान्त कुछ जमीन भी प्रदान की है ।

अपने पिताके स्थापित किये हुए औषधालयमें रहनेवाले रोगियोंके लिये एक भवन बनाया गया है और एक वैद्य भी नियत किया गया है कि ग्रामोंमें भ्रमण करके ग्रामीण लोगोंकी चिकित्सा करता रहे ।

संवत् १९७३ में राजा साहबने किसानोंको १ लाख रुपया छोडनेकी उदारता की और कितनेही कर भी प्रजाका भार कम करनेके लिये छोडे गये हैं राजा साहबके हृदयमें भोले कृषकोंकी उन्नति ही सर्वोपरि रहती है और उनकी आर्थिक स्थिति सुधारनेके लिये उपजाऊ कार्योंमें थोडे ब्याजपर ऋण देनेके लिये १५००० रु. लगाकर 'कृषकभंडार' खोला है ।

राजा प्रजामें पूर्ण प्रेम है । वर्तमान समयमें जब कि चारों ओर जनतामें असन्तोष है और अधिकारियोंका अपमान किया जाता है, यहां पूर्ण शान्ति फैल रही है और किसी तरहका वैमनस्य नहीं है ।

यह आपकीही उदारता तथा नीतिज्ञताका फल है । आप सदैव प्रजाके हितमें लगे रहते हैं और सबके दुःख दर्दको पूर्ण सहानुभूतिसे सुनते हैं ।

संवत् १९७१ में जब महायुद्ध आरंभ हुआ था राजा साहबने साहब एजेन्ट टु दी गवर्नर जनरलको युद्धमें अपनी निजकी सेवा और संपूर्ण वैभव समर्पण किया उसका उन्होंने बडा ही धन्यवाद दिया । युद्धके दिनोंमें वे हर प्रकारसे सहायता देते रहे । प्रजावर्गमेंसे जो लोग सेनामें भरती हुए उनको कई रिआयतें दीं तथा युद्धके आन्तिम दिन तक १००) मासिक देते रहे । एरोप्लेन फंडैं तथा अन्य युद्धकार्योंमें भी आपने अच्छे चंदे दिये ।

संवत् १९६० तथा १९६८ के दोनों दिल्लीदरबारोंमें राजा साहब पधारे थे और संवत् १९७९ में जब प्रिन्स आफ वेल्स अजमेर पधारे मिस्टर हालैन्ड अव ए. जी. जीने उनके साथ आपका परिचय कराया ।

राजा अमरसिंहजीके शासनसे प्रजाको संतुष्ट होनेका मुख्य कारण यह है कि आप शुद्ध आत्मिक बलवाले नीतिकुशल तथा गम्भीर भाव हैं । प्रजावर्गका पालन तथा कर्तव्य निष्ठामें आप सदैव तत्पर रहते हैं और इसी लिये सर्वप्रिय हैं । परमात्मा आपको दीर्घायु करे जिससे इनकी सद्बुद्धि द्वारा जनता सुख तथा ऐश्वर्यका सुख भोग करती रहे । इति ।

सं० १९....में म्युनिसिपलटी (ग्रामसभा) स्थापित कर १५०० रु० की आय उसके खर्चके लिये राज्यसे दी गयी और उस सभाको सफाई रोशनी चौकीदारीका प्रबन्ध करनेका अधिकार दिया ।

स्थिति ।

बनेडा राज्य २५२१ और २५४५ उत्तर अक्षांश और ७४३५ तथा ७५ पूर्व देशान्तरमें बसा हुआ है । राजधानी बनेडा अजमेरसे

दक्षिणकी ओर ६० मील और उदयपुरके उत्तर पूर्वमें ८० मीलकी दूरी पर है। बी० बी० और सी० आई० रेलवेपर लाम्बियां और मांडलके स्टेशन समीप है। बनेडा लाम्बियांसे ७ मील व मांडलसे ६ मीलकी दूरीपर है। यहांपर ब्रांच पोस्ट आफिस भी है।

सीमा।

बनेडाके उत्तर व पूर्वमें शाहपुराका राज्य और दूसरी दिशाओंमें खालसेके प्रान्त व रियासत उदयपुरके जागीरके गांव हैं।

क्षेत्रफल व आबादी।

बनेडा राज्यका सम्पूर्ण क्षेत्रफल २२५ वर्गमील है। और कुल गाँव ११८ हैं। संवत् १९७८ की मनुष्यगणनाके अनुसार कुल जनसंख्या ३६९५० की है।

जागीरें।

बडे जागीरदार कुल २५ हैं जिनमेंसे प्रत्येकके एक या एकसे अधिक गांव है। जो ५०००० रु० की आमदनीके हैं। वे ३५ सवार व ४५ पैदलोंसे चाकरी देते हैं इनके अतिरिक्त २५ छोटे जागीरदार हैं वे २१ सवार और ५४ पैदलोंसे आवश्यकतापर चाकरी देते हैं। इस तरह ५० सवार १०० पैदल जागीरके होते हैं।

नगर।

बनेडा नगरकी जनसंख्या ४२२२ है जिनमेंसे २११२ पुरुष हैं तथा २११० स्त्रियां हैं। बनेडामें एक म्यूनिसिपैलिटी है जिसमें स्थानीय कार्योंकी देखरेखके निमित्त सभासद चुने जाते हैं।

इति।

	कीं० रु० आ०
नैपालका इतिहास–भाषामें स्व० पं० बलदेवनारायणमिश्र रचित। इसमें–नैपालदेशभरका सांगोपाङ्ग वर्णन लिखा है.	०–८
बुद्धका जीवनचरित्र–स्वामी परमानन्दजी लिखित.	०–१४
भारत–भ्रमण–पांचों खण्ड सम्पूर्ण–इस ग्रन्थमें हिन्दुस्तानके सम्पूर्ण तीर्थस्थान, शहर, उनका इतिहास, जनसंख्या, हिन्दू मुसलमान इत्यादि निवासियोंकी भिन्न २ संख्या, उनके मत, प्रसिद्ध २ शहरोंके भौगोलिक वृत्तान्त, कृषि और व्यापारसम्बम्धी विशेषवृत्त लिखागया है। इस पुस्तकके द्वारा तीर्थयात्रा करनेवालेको भारतवर्षके समस्ततीर्थ उनकी पौराणिक कथा इत्यादिक मिलती हैं। व्यापार या देशाटनके लिये यात्रा करनेवालेको जिस नगरमें जिस पदार्थकी प्रसिद्धि है उसका सब वृत्त वहांकी ऐतिहासकी वा भौगोलिक सुनीहुई बातें लिखी हुई हैं इसलिये यह पुस्तक प्रत्येक मनुष्यको लाभदायक है। श्रीमान् बाबू साधुचरणप्रसादजीने हजारों रुपये तथा मानासिक और शारीरिक बलके व्ययसे इसको बनाया है। इसकी छपाई तथा जिल्द बँधीकी सुन्दरता बहुतही मनोहर है। प्रत्येक यात्रीके लिये इससे बडी सहायता मिलसकती है। इस ग्रन्थकी उपयोगिता देखनेसेही मालूम पडसकती है.	१६–०
भारतसारभाषा–रफ कागज	४–०
भूलोकरहस्य–	०–३
मदनकोष–अर्थात् जीवनचारित्रस्तोत्र–इसमें नामोंके अकारादि क्रमसे संसारके १००० महानुभावोंके उत्तमोत्तम चारित्र संस्कृत, हिन्दी, फारसी, इंग्रेजी आदि पुस्तकोंके आशयसे लिखेगये हैं	२–०

कीं॰ रु॰ आ

महाराणायशप्रकाश—"मलसीसर" ठाकुर भूरसिंह शेखावत संगृहीत .... २—०

रामाश्वमेध केवल भाषावार्तिक मनोहर जिल्द बँधी .... २—०

रामाश्वमेध—भाषापद्यमें—रेवारामजीकृत—इसमें दोहा, चौपाई और छन्दरामायणके अनुसार वर्णित है अवश्य लीजिये ३—०

रामाश्वमेध—भाषापद्यमें छोटा .... ०—१२

राजस्थानइतिहास—प्रथम भाग—अर्थात् कर्नल जेम्स टाडप्रणीत—अँग्रेजीसे भाषानुवाद पूर्वभाग स्वर्गीय पं॰ बलदेवप्रसाद मिश्रकृत । सुन्दर कागज और विलायती कपडेकी जिल्द जिसपर सोनेके अक्षर चकाचौंध करदेते हैं १५—०

राजस्थानइतिहास—दूसरा भाग—जिसमें—जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, जैपूर, शेखावाटी, बूँदी और कोटाका इतिहास है १५—०

वाल्मीकीयरामायण—केवल भाषा दो जिल्दोंमें । इसकी भाषा मूलपुस्तकके प्रत्येक श्लोकसे मिलाकर बनाई गई है और श्लोकार्थ जाननेके लिये प्रत्येक सर्गके श्लोकांकभी डालेगये हैं । पुस्तक बडी होनेके कारण दो जिल्दोंमें बाँधीगई है तथा दोनोंमें सुन्दर विलायती कागज और विलायती कपडा तथा जिल्दपर सोनेके अक्षर लगेहुए हैं । श्रीरामभक्तोंके लिये इस सर्वांगसुन्दर ग्रन्थका न्योछावर अल्प रक्खाहै ग्लेज कागजका दाम .... १५—०

" तथा रफका .... १४—०

स्वपुषार्थ—छेदालालशर्माकृत । इसमें अनेक दृष्टान्तोंसे पुरुषार्थकी श्रेष्ठता तथा अंग्रेज, मुसलमान आदि सज्जनोंके प्राचीन लेखोंसे शिल्पव्यापार आदिमें भारतकी सर्वोच्चता भलीभाँति वर्णित है .... ०—१२

कौ० रु० आ०

स्वदेशसेवा—वर्तमान समयमें स्वदेशीका चारों ओर बडा आन्दोलन होरहाहै इस कारण इसको अवश्य संग्रह कर इससे लाभ उठाइये .... ०—४

अध्यात्मरामायण—मूल (गुटका रेशमी) नित्यपाठोपयोगी है .... १—४

अध्यात्मरामायण—संस्कृतटीकासमेत । ग्लेज कागज .... ४—०

" तथा रफ कागज .... ३—८

अध्यात्मरामायण—स्व० पं० बलदेवप्रसादमिश्रकृत भाषाटीकासमेत । जिसमें श्रीरामचन्द्रजीका संपूर्ण चरित्र वर्णित है । यह गुप्तरामायण शिवजीने पार्वतीको कहा और यही ज्ञानामृत ब्रह्माजीसे नारदजीने उपदेश लिया और नारदजीसे वाल्मीकि तथा व्यासने प्राप्त कर नैमिषारण्यमें शौनकादिसे कहाहै । अवश्य संग्राह्य ग्रन्थ है ग्लेज कागज .... ७—०

" तथा रफ कागज .... ६—०

अध्यात्मरामायण—श्रीरामविजय भाषाटीका समेत । सातों कांड शिला प्रेसकी छपी .... ३—०

अद्भुतरामायण—मूलमात्र .... ०—१२

अद्भुतरामायण—पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्रकृत—भाषाटीकासहित. .... १—८

गर्गसंहिता—उग्रसेनकृताश्वमेधादि १० खण्ड और माहात्म्यसहित । इसमें—क्रमसे १ गोलोकखण्ड, २ वृन्दावनखण्ड, ३ गिरिराजखण्ड, ४ माधुर्यखण्ड, ५ मथुराखण्ड, ६ द्वारकाखण्ड, ७ विश्वजित्खण्ड, ८ बलभद्रखंड, ९ विज्ञानखण्ड और १० वां अश्वमेधखण्ड इत्यादिमें श्रीकृष्ण राधाजी, बलदेवजी तथा यमुना आदिकी रोचक कथा हैं ६—०